त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना

सुरेश गौतम
(हिन्दी-विभाग), श्री अरविन्द कॉलेज, नई दिल्ली-११००१७
दिल्ली विश्वविद्यालय

वीणा गौतम
(हिन्दी-विभाग), लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली-११००५२
दिल्ली विश्वविद्यालय

राजेश प्रकाशन

बी ४ २०, , दिल्ली ११००५१

भूमिका

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय साहित्यकार की चेतना में जो परिवर्तन आया है उसका मूलाधार नवीन भावबोध और संवेदना का बदला हुआ स्तर है। कमनीय कल्पना या रोमानी भावुकता आज के सजग साहित्यकार की प्रेरणा नहीं बन सकती। यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर रचनाकार को अपने चारों ओर की जिन समस्याओं से मानसिक स्तर पर जूझना पड़ता है उन्हें साहित्य में अभिव्यक्त करना ही सृजन की पीडा को शमन करना है। आज के जटिल एवं दुर्बोध जीवन की विनग समस्याओं का समाधान जहाँ एक ओर हम विज्ञान और तकनीकी उपायों में खोज रहे हैं वहाँ दूसरी ओर बौद्धिक एवं चिन्तन के धरातल पर हम साहित्य को भी समाधान का उपाय बना रहे हैं। विज्ञान के असंख्य वरदान भौतिक सुख-सुविधाओं को जुटा पाने पर भी उन समस्याओं और शकाओं का समाधान नहीं खोज सकते जो साहित्य और दर्शन की सरणि से हमें उपलब्ध होते हैं। आज का हमारा जीवन प्रश्न संकुल ही नहीं अस्तित्व के प्रति अनास्था से दोलायमान है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार अपनी रचनाधर्मिता की रक्षा करने के लिए उन समस्याओं से जूझने के लिए विवश है जो उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में आन्दोलित करती है। साहित्यकार के सामने आधुनिक युग और उसका परिवेश अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ खड़ा हो जाता है और उसे प्रेरित करता है। वह आधुनिकता को केवल कालावधि की कसौटी पर ही नहीं मूल्यबोध की कसौटी पर भी परखे और अपनी लेखनी से उन मूल्यों को रेखांकित करे जो आधुनिक युग में जीवन की अर्थवत्ता के मापदण्ड बनते जा रहे हैं।

आधुनिकता का संदर्भ रचना के स्तर पर साहित्य की सभी विधाओं से समान रूप से सम्पृक्त है। कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी, निबन्ध (व्यंग्य), समीक्षा आदि सभी विधाओं में हम समान भाव से इस प्रक्रिया को विकसित होते देख सकते हैं। आज साहित्य की दृष्टि अतीत और अनागत की ओर न होकर वर्त्तमान में समाई हुई है। वर्त्तमान का हाहाकार या विक्षोभ ही नहीं—वर्तमान का चिन्तन-मनन उसके मर्म को उद्‌घाटित करता है। इस दृष्टि से मैं आज के साहित्यकार को अधिक सजग और सक्षम मानता हूँ।

आधुनिक संवेदना को वाणी देने का श्रेय यों तो सभी विधाओं के सजग साहित्यकारो को है किन्तु कविता और नाटक में उसे प्रखर स्वर मिला है। काव्य और नाटक का

मिश्रित रूप काव्य-रूपक है फलतः दो विधाओं के योग से अभिव्यक्ति की सामर्थ्य द्विगुणित होना स्वाभाविक है। जिन काव्य-रूपकों ने पाठक का ध्यान बरबस आकृष्ट किया है उनमें से तीन का चयन करके त्रिविध संवेदना के स्तर श्री एवं श्रीमती सुरेश गौतम ने अपनी इस समीक्षा पुस्तक मे उद्घाटित किए है। '*उर्वशी, अन्धायुग और एक कण्ठ विषपायी*' तीन दृष्टि बिन्दुओं से निर्मित कृतियाँ एक ऐसे त्रिभुज को पाठक की चेतना मे उभारती हैं जिसकी कोई भुजा समानान्तर नही और जिसका कोई कोण किसी अंश में सम नही है फिर भी तीन संवेदनाओं के बीच आधुनिकता का सहज सम्बन्ध है।

'*उर्वशी*' में दिनकर ने जिस समस्या को आधार बनाकर चिन्तन किया है वह सामान्यतः समाधेय प्रतीत नहीं होती। काम और अध्यात्म दो भिन्न तत्व होते हुए भी मानव की जीवनधारा के साथ अनादिकाल से संयुक्त रहे हैं। इन्हें समानान्तर नहीं कहा जा सकता किन्तु मानव मन में दोनों का अस्तित्व है—अस्तित्वमात्र नही, संघर्षमय अस्तित्व है। उस संघर्ष को मनुष्य अपनी जीवनानुभूतियों से समझना चाहता है किन्तु द्वन्द्व के स्तर पर उसका समाधान खोज नही पाता। उर्वशी और पुरुरवा का काम-प्रेम जिस अग्नि से प्रज्ज्वलित होता है उसी से शान्त नहीं होता। द्वन्द्व भीतर है, बाहर है और चतुर्दिक होकर दोनों को सप्रश्न बनाकर भटकने को बाध्य करता है। जिस गम्भीर समस्या को दिनकर ने उठाया है वह आज की नहीं, युग-युगों से चली आती समस्या है। समाधान शायद दिनकर भी दे नहीं सके हैं।

'*अन्धायुग*' भारती की एक चिन्तनपूर्ण कृति है। मरीचिका में भटकते मानव को जब कहीं तृप्ति नहीं मिलती तब वह उन संदर्भों में से कुछ पा लेना चाहता है जो पुराण बनकर सुप्त हो गए है। आधुनिक युग के संदर्भ में पौराणिक आख्यान को नवीन भाव-बोध से सम्पृक्त कर भारती ने बड़ी सफलता के साथ मानव मूल्यों के सन्धान का प्रयास किया है।

'*अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि*' शीर्षक से श्री गौतम पहले एक पुस्तक लिख चुके हैं। इस पुस्तक में उनकी दृष्टि का प्रसार कुछ और आगे बढ़ा है और गहरे पैठने का प्रयास भी है।

श्री दुष्यन्तकुमार की रचना '*एक कण्ठ विषपायी*' अपनी शैली की सर्वथा नवीन कृति है। विज्ञान की समस्त उपलब्धियाँ यदि युद्ध के मैदान में अपनी सार्थकता सिद्ध करें तो हमें सोचना होगा कि हमारी भौतिक प्रगति का चरम बिन्दु क्या है। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त मानव जाति को अपने भीतर उस विचार को जगाना होगा जो भौतिक समृद्धियों के बीच भी हमें अशान्त और बेचैन बनाने से बचा सके। यदि हम अपने भीतर इन समस्याओं से नहीं जूझते और बाह्य संघर्ष तक अपने को सीमित रखते हैं तो आधुनिक युग-जीवन में भटकाव के सिवा कुछ पा नहीं सकते। आधुनिक युग में कुछ ऐसे प्रश्न हमारे सामने आ खड़े हुए हैं जिनका समाधान खोज पाना सहज नहीं—लेकिन मनुष्य की खोज निरन्तर जारी है। मानव जाति की जीवन यात्रा का सारा

इतिहास इसी प्रकार के अन्वेषणों का इतिहास है। साहित्य और दर्शन इस अन्वेषण में विज्ञान से पीछे नहीं—बहुत आगे हैं।

संक्षेप में, जिन तीन प्रतिनिधि कृतियों का संकेत मैंने किया है उन्हीं को आधार बनाकर श्री एवं श्रीमती सुरेश गौतम ने अपनी समीक्षा कृति में उनका विवेचन-विश्लेषण किया है। यह विवेचन मूलत: आधुनिक संवेदना के संदर्भ में है किन्तु काव्यशास्त्र के कुछ तत्वों पर भी प्रासंगिक रूप से इसमें चर्चा हुई है। विद्वत्जन इस पुस्तक का स्वागत करेंगे इस आशा के साथ मैं श्री एवं श्रीमती गौतम के प्रयास की सराहना करता हूँ।

२६ जनवरी, १९७६

—विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

त्रिकोण का भाष्य

आधुनिकता के सन्दर्भ में इन्द्रनाथ मदान ने यह बात उठाई थी कि आधुनिकता एक प्रक्रिया है, मूल्य नहीं। कला-सृजन की सामयिक मुद्रा में शायद मदान का ये कथन सगतिपूर्ण लगे लेकिन सामयिकता से हटकर यदि आधुनिकता के संदर्भ को काल-विशेष से जोड़ा जाए तो यह कहना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिकता अपने सामयिक परिवेश में प्रक्रिया अवश्य है किन्तु जब वह क्षण गुज़र जाता है तो उसकी कुछ बातें मूल्य बन जाती हैं और आगे का क्रम प्रक्रिया बनकर उसे प्रवाह दे जाता है। यह क्रम चलता रहता है और इस प्रकार प्रक्रिया मूल्यों में और मूल्य रूढ़ियों में बदलते रहते है किन्तु पौराणिक, ऐतिहासिक कालावधि से आज तक बहुत कुछ ऐसा भी शेष बचा रहता है जो इतिहास के थपेड़े खाकर भी जर्जरित नहीं होता; समय की छलनी में छन जाने पर भी विद्यमान रहता है और आने वाला कलाकार उन जीवित सूत्रों को युग की जिन्दा धड़कनों में देखते हुए ग्रहण कर अपनी संवेदना की भट्टी में तपाकर उसका पुर्नसृजन करता है।

स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी के कलाकार की रचना मानसिकता ने नया मोड़ लिया। पहले जहाँ वह राष्ट्रीय, सांस्कृतिक मसलों को आख्यायित करना अपना नैतिक दाय समझता था वहाँ स्वतन्त्रता के बाद—और विशेषकर गणतन्त्र की घोषणा के बाद—उसकी संवेदना ऐसे विषयों में रमने लगी जो व्यक्ति और समाज की कुछ ऐसी जीवन्त समस्याएँ थीं जिनका निराकरण-निवारण कुछ हद तक अपेक्षित था। आज़ादी के बाद रचनाकार ने ऐसा कुछ देखा और भोगा जिससे उसका मोह भंग होना आवश्यक था। विभाजन और रक्तपात ने गांधीवादी मूल्यों को प्रश्नवाचक बनाया; काफिले के काफिले जब उजड़कर इस देश में आए तो आर्थिक विवशताओं के दबाव ने माँ, बहन, भाई, भाभी, बन्धु, बान्धव के परस्पर सम्बन्धों और नैतिक मूल्यों को तोड़ने के लिए विवश किया; कुछ सफेद पोश जो हमारी श्रद्धा के पात्र थे देखते ही देखते मुखौटा पहनकर हमारे शोषक बन गए और उनके हाथों उन्हीं के स्वार्थ सिद्धि के निमित्त देश का शासन तन्त्र चलने लगा। युद्ध हो अथवा शान्ति सब उनकी व्यवस्था के अनुसार चलने लगी और जनमानस इन सब अनियमितताओं से तंग आकर न केवल कुण्ठा और संत्रास में जीने को विवश हो गया वरन् इनसे मुक्ति पाने का बहाना लेकर उसमें एक आदिम पशुता घर कर

गई जो उसे इस स्थिति में उस पंछी-सा बना गई जो इधर-उधर उड़कर पुनः उसे उसी जहाज़ पर बिठा देती थी—'जैसे उड़े जहाज़ को पंछी पुनः जहाज़ पै आवे।'

प्रस्तुत परिवेश का शब्दायन हिन्दी में कम नहीं हुआ लेकिन जब चुनाव का प्रश्न आता है तो काफी परेशानी होती है। उपन्यास, कहानी, कविता और नाटक आदि सभी विधाओं में निजी रंग और रेखाएँ देकर कलाकारों ने युगबोध को शब्द दिए हैं। *'त्रिकोण में उभरती आधुनिक संवेदना'* को हमने काव्यरूपक की विधा तक ही सीमित रखा है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि साहित्य की विविध-विधाओं की बात तो दूर यदि इन तीन—अन्धायुग, उर्वशी, एक कण्ठ विषपायी—काव्य-रूपकों के आधार पर ही आजादी के बाद से लेकर अब तक की जनमानस की चेतना को, उसके इतिहास की संगति मे ढूँढ़ने पहचानने की कोशिश की जाए तो लगेगा कि इन रचनाओं में एक भरे पूरे आदमी की समस्याएँ उभरकर सामने आ गई हैं, अपने-अपने तरीके से उनका श्रमण भी हुआ है—यह बात और है कि कथ्य-भूमि और रचना व्यक्तित्व के अन्तर आ जाने से समस्याओं के धरातल अलग-अलग दिखाई देते हैं लेकिन अपने सूक्ष्म रेशों मे वे कुछ इस तरह जुड़ते दिखाई देते हैं कि अपनी छोटी-बड़ी किन्तु गहरी रेखाओं में एक त्रिकोण बना जाते हैं—ऐसा त्रिकोण जो अपने अस्तित्व की अनिवार्यता को रेखांकित किए बिना नहीं रहते।

अन्धायुग, उर्वशी और एक कण्ठ विषपायी के आधार पर ऊपर एक भरे-पूरे आदमी की समस्याओं को उभारने की बात कही गई है। भरा-पूरा आदमी कौन ? उसकी समस्याएँ क्या ? हमारी समझ में यदि आदमी केवल बाह्य परिवेश से उत्पन्न समस्याओ से टकराता—आन्दोलित होता रहे या केवल अन्तर संघर्ष में उलझा-उलझाता रहे तो न तो वह भरा-पूरा व्यक्तित्व है और न ही उसकी समस्याएँ पूरे आदमी के अन्दर-बाहर को उजागर करती हैं। सम्पूर्ण मानव की अभिव्यक्ति शायद तब अधिक सक्षम बन जाती है जब उसके बाहर-भीतर का आन्दोलन हमें देखने को मिले और इन तीनों रचनाओं के आधार पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'अंधायुग' और 'एक कण्ठ विषपायी' का धरातल बाह्य से अन्तर को आन्दोलित करता है। युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न सन्त्रास, खण्डित सामाजिक नैतिक मूल्य और उबा देने वाला परम्पराओं का बासीपन मनुष्य का वह बाह्य परिवेश है जो उसके भीतर एक विशेष प्रकार की ऐंठन विरोध और खीझ पैदा करता है और संवेदनशील कलाकार को अभिव्यक्ति के लिए विवश करता है जबकि उर्वशी का धरातल सर्वथा विपरीत भीतर से बाहर का युद्ध है। असल मे युद्ध बाहर ही नहीं अन्दर भी होता है, जो पूर्ण आवेग के साथ आंदोलित होकर बाह्य विस्फोट करता है—कामशास्त्री जिसे Livido कहते हैं जो व्यक्ति का पौरुष है, महत्त्वपूर्ण कर्म सपदा का नेता है, नित नूतन आकर्षण का प्राण है और इतने लम्बे जीवन को उसकी ऊब से बचाते हुए जीवन का आधार है। बाह्य अन्तर की इन समस्याओं को इन तीनों कृतियो में कुछ इस प्रकार उजागरित कर दिया गया है कि हमें लगता है कि आज का एक भरा-

पूरा मानव अपनी समस्याओं के साथ इसमें उभरकर आ गया है। यही एक मुख्य कारण है जिसने त्रिकोण के रूप में हमें इन पर लिखने को विवश किया।

वैसे भी काव्य-रूप की दृष्टि से तीनों ही कृतियाँ काव्य-रूपक के नजदीक बैठती है अतः इनका एक साथ अध्ययन करना वैसे भी संगतिपूर्ण लगता है।

यह भी कितनी आकस्मिक बात है कि विवेच्य ग्रन्थों के रचनाकारों का रचना व्यक्तित्व इन कृतियों में अपनी लीक से हटकर मुखर हुआ है दूसरे शब्दों में इन कृतिकारों ने अपनी इन रचनाओं के माध्यम से पाठक के सम्मुख अपने-अपने व्यक्तित्व की अलग-अलग बानगी प्रस्तुत की है। कहना न होगा कि दिनकर, जो एक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक कवि के रूप में जाना-माना जाता था 'उर्वशी' के माध्यम से वहीं अतीन्द्रिय लोक का खोजी हो गया। भारती, जो अभी तक अपने रोमानी भाव-बोध और प्रयोगवादी शिल्प के कारण ही प्रसिद्ध थे 'अन्धायुग' तक आते-आते आधुनिक हिन्दी कविता में एकदम विशिष्ट एवं प्रतिबद्ध कवि के रूप में सामने आए। दुष्यन्तकुमार का कवि व्यक्तित्व तो बना ही 'एक कण्ठ विषपायी' से। परिणामतः रचना और रचनाकार के वैशिष्ट्य के कारण ये तीनों कृतियाँ एक त्रिकोण बन गईं जिनपर कुछ लिखना आलोचक के लिए न केवल रुचि का कारण बना वरन सापेक्षता की विवशता बन गया।

एक बात और! तीनों ही रचनाएँ स्वतन्त्रता के बाद की लेखन मनःस्थिति का रूपान्तरण होते हुए भी अपने वस्तु संदर्भ में इतिहास पुराण को समेटे हुए है किन्तु यह कैसा संयोग है कि पौराणिक-ऐतिहासिक मेरुनाल में बँधी हुई भी ये कृतियाँ अपना आकर्षण—प्रभाव इतिहास पुराण में न छोड़कर वर्त्तमान जन-जीवन में छोड़ती है। इन कलाकारों का क्षण-विशेष जब गहराने लगता है तो अतीत का कालखण्ड घटनाक्रम और पात्र संवेदना की आँच में गलने लगते हैं और वर्त्तमान मानव के सम्मुख कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण अन्तर्बाह्य समस्याएँ खड़ी हो जाती है जो आदमी के लिए पहले भी महत्त्व-पूर्ण थीं और आज भी—आज शायद पहले से कहीं अधिक। और इसीलिए इन तीनों कृतियों का इतिहास पुराण एक प्रतीक बनकर आधुनिक मानव के सामने 'मिथ' की भूमिका छोड़ जाता है जो एक तरफ हमें परम्पराओं से जोड़ता है और दूसरी तरफ 'सगति' (Inter relations) के माध्यम से इतिहास पुराण के आवरण में वर्त्तमान का एक नया दर्शन समझा जाता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय के वर्त्तमान हिन्दी-विभागाध्यक्ष एवं हमारे गुरुवर, परम श्रद्धेय डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने, अनेक व्यक्तिगत तथा विभागीय व्यस्तताओं में से भी समय निकालकर, प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिख देने के हमारे अनुरोध को जिस तरह स्नेहांकित किया है उससे निश्चय ही पुस्तक मर्यादा और गरिमा से मण्डित हुई है। उनके शुभाशीषों का सम्बल पा यदि भविष्य में स्वयं से की गई अपेक्षाओं को तनिक भी आकार दे सकें तो अन्त मे उन सभी कृतिकारों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं जिनके दृष्टिकोण और शब्द हमारे विषय प्रतिपादन के निमित्त

बने हैं। हमारी इस लेखन-यात्रा में जो मित्र सहयात्री रहे हैं तथा जिनका अमित सहयोग हमें मिला उनके लिए हम मौन कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। नामोल्लेख करके हम उनकी निस्संग अंतरंगता को विभाजित नहीं करना चाहते।

ए-११/२ राणाप्रताप बाग
दिल्ली-११०००७

—सुरेश गौतम
—वीणा गौतम

अनुक्रम

☐

बिटिया प्राची के भविष्य को

अन्धायुग

- रचना-दृष्टि
- पात्र-परिकल्पना
- रंगकौशल
- प्रतीक-विधान
- दर्शन-दिग्दर्शन
- काव्यरूप

रचना-दृष्टि

पौराणिक कथा और युगबोध :

'अन्धायुग' की कथा पुराण-कथा है। कथा महाभारत से ली गई है। कथा का प्रारम्भ महायुद्ध के अट्ठारहवें दिन की सन्ध्या से होता है और कुरुक्षेत्र में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक चलता है। किन्तु इस कृति में पौराणिक कथा इतनी महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि नया युगबोध। कवि ने इस कृति में आज के विसंगतिपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि मे समाज एवं मानव-मन में व्याप्त युद्धोत्तरकालीन पस्ती, कुण्ठा, पराजय, प्रतिशोध, निराशा, रक्तपात, ध्वंस, कुरूपता, विकृति, अध पतन, कुण्ठाजनित बर्बरता, अन्ध-स्वार्थता, विवेकशून्यता, त्रास, द्वन्द्व, भयानक टूटन-विघटन, ह्रासोन्मुख मनोवृत्ति, विघटित होते हुए मानव-मूल्यों की अस्त-व्यस्त खण्डित परम्परा, जीर्ण-शीर्ण होती हुई मर्यादाएँ, मानव-आत्मा की शोषित भावनाएँ तथा भौतिक द्वन्द्वों के परिप्रेक्ष्य मे नयी भावनात्मक अनुभूतियों का सफल एवं सशक्त अंकन किया है। वस्तुत: सामाजिक एव सास्कृतिक मूल्यों का विघटित हो जाना ही मनुष्य के मनोवैज्ञानिक संक्रमण का कारण है जिसमें रहकर वह आज भी जी रहा है। युद्ध की ताण्डव-लीला समाज की एकात्मानुभूति को त्रस्त कर एक ओर वैयक्तिक सीमाओं का हनन करती है तो दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं को विकृत और जर्जर कर देती है। इन दोनो पाटों के मध्य मानवीय गौरव, जीवन की सरलता, गतिमान आस्थाएँ, विच्छिन्न होकर कुण्ठाओ के वक्ष से लिपट जाती हैं। महाभारत-युद्ध के अन्तिम प्रहर के सूर्य ने जिन भग्नावशेष जीवन-गाथाओं को प्रकाशित करने की चेष्टा की, भारती ने युद्धोपरान्त आज के जीवन की विषमताओं, विसंगतियों के तार उसी युद्धोपरान्त स्थितियों, विकृतियों से सम्बद्ध किए। वही कृति भविष्य में चलकर साहित्य को आलोक प्रदान कर सकती है जो जीवन से जुड़ी हुई हो और भारती की यह कृति आज के विघटित हुए मानव-मूल्यों और दायित्वहीन आस्थाओं से जुड़ी हुई है।

आधुनिक काल की समस्याओं और द्वन्द्वात्मक त्रास को व्यक्त करने में सशक्त देखकर भारती ने महाभारत युद्ध की विख्यात घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों को माध्यम बनाकर ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की और महाभारत के संहारक-युद्ध की विख्यात घटनाओ, प्रसगों और पात्रों के चित्र इस प्रकार चित्रित किए कि वे से आधुनिक

जीवन की गहन विसंगतियों को प्रखर स्वर दें। इसीलिए उन्होंने आज के आधुनिक जीवन का प्रकट सत्य दिखाने के लिए तत्कालीन सन्दर्भों के अनुकूल कुछ नये पात्रों और वस्तुओं को नवीन उद्भावनाओं से अलंकृत किया। पात्रों-प्रसंगों को उनके ऐतिहासिक परिवेश में सुरक्षित रखकर आधुनिक मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र के विकीर्ण प्रकाश में उन्हें नयी व्याख्याओं की भावभूमि से बाँधकर नवीनता का स्पर्श दिया। अपनी आधुनिक संवेदना को वाणी देने के लिए इतिहास की समस्त सामग्री और सम्पूर्ण स्वर को समेटकर आधुनिक काल से सम्बद्ध कर सफलता प्राप्त की। भारती की स्वचेतना का मानदण्ड यही है कि उन्होंने इतिहास पर वर्तमान को कहीं भी भार न बनाकर इतिहास को वर्तमान के अनुकूल बना दिया। इसीलिए महाभारत का विनाशक युद्ध 'अन्धायुग' की ठोस पृष्ठभूमि-मात्र नहीं रहता, एक प्रतीक बन जाता है—'आधुनिक युग के अन्धेपन का प्रतीक।'

कवि ने आरम्भ में ही युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों एवं आधुनिक युगबोध की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहा—

> "युद्धोपरान्त
> यह अन्धायुग अवतरित हुआ
> जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
> है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
> पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में
> सिर्फ कृष्ण में है साहस सुलझाने का
> वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
> पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
> पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
> अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
> यह कथा उन्हीं अन्धों की है
> या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।" (पृ० १०)

मर्यादा की पतली और क्षीण डोरी में कौरवों और पाण्डवों के पक्ष ही नहीं उलझे, आधुनिक युग के आस्थावान और आस्थाहीन, नीतिकुशल और नीतिहीन, सचेत और काल के परिवर्तनशील चक्र में दोलायमान व्यक्तियों का जीवन भी उलझा है। जब हम इन काव्य-पंक्तियों को मस्तिष्क पर बल देकर गम्भीरता के साथ पढ़ते हैं तो एक अव्यक्त वातावरण धुंधलके की तरह उभरने लगता है। यह है युद्धोत्तरकालीन वातावरण—निराशा, हताशा, कुण्ठा, पराजय एवं अनास्था का—जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं। जीवन में जो भी सत्य एवं सुन्दर था—युद्ध की विभीषिका ने नष्ट कर दिया है, शेष है तो मात्र विकृतियाँ। लगता है कोई ऋषि-मानस जिसने युद्ध की पीड़ा झेली है और तटस्थ होकर युद्ध की भयंकरता को देखा-परखा है प्रत्यक्ष

स्थितियों से उभरने के उपरान्त युद्ध के अनुभव से दुःखी, पीड़ित एवं व्यथित है। यह द्रष्टा ऋषि और कोई नहीं कवि ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं एकान्त प्रदेश में विचार-मग्न होकर वह युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियों एवं वातावरण का तटस्थ मूल्यांकन कर रहा है और यह कवि-मानस युद्ध का तटस्थ एवं सही मूल्यांकन कर सकेगा—इसका विश्वास पाठक अथवा दर्शक को नाटक के आरम्भ में ही हो जाता है। कविता की लय जहाँ भूतकाल के यथार्थ को प्रस्तुत करती है वहीं आधुनिक काल के यथार्थ को भी। इन पंक्तियों में जहाँ महाभारत-युद्ध की भयानक अनुभूति चित्रित है वहीं आधुनिक युद्धों का मानव-भयप्रद जनविनाशक प्रलयंकारी रूप भी उसके साथ जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार 'अन्धायुग' में महाभारत-कथा के उस मर्मबिन्दु का चुनाव किया गया है जो द्वितीय महायुद्धोत्तर मानवीय-नियति, मानवीय-संस्कृति और मानवीय-भाग्य से मेल खाता है। जिस प्रकार महाभारत-युद्ध के बाद भय, कुण्ठा, निराशा, पस्ती एवं पराजय तथा निरर्थकता का वातावरण छा गया था, ठीक वही स्थिति द्वितीय युद्ध के लोमहर्षक विध्वंस के आधुनिक युग की थी। आधुनिक मानव भी कुण्ठा, भय, संशय, सामूहिक मृत्यु-भय, निराशा एवं निरर्थकता से ग्रस्त है। इन्हीं मूल्यों और मर्यादाओं का अन्वेषण 'अन्धायुग' की मौलिक समस्या है। कुण्ठावादी मनोवृत्तियों, विकृतियों से घिरकर आज का मानव पशु के समान अपना जीवन यापन कर अस्तित्वहीन नहीं होना चाहता। उसे अपने अस्तित्व से प्रगाढ़ मोह है। वह उस अवश एवं दयनीय स्थिति से मुक्ति के लिए छटपटाता है, भटकता है और अन्धेरे में इधर-उधर हाथ-पाँव मारता है कि कहीं कोई प्रकाश की किरण मिल जाए। इसी प्रकार आधुनिक-युगबोध के साथ महाभारत-कथा के उस मर्मबिन्दु का सामञ्जस्य दिखाया जा सकता है। और, तब 'अन्धायुग' की कथा पौराणिक कथा मात्र नहीं, प्रतीक बन जाती है। कथा के जितने भी मर्मबिन्दु हैं, वे जहाँ एक ओर महाभारतकालीन सत्य को उद्‌घाटित करते हैं वहीं दूसरी ओर आधुनिक युगबोध को भी व्यंजित करते हैं।

इस काव्य-नाटक में श्रीकृष्ण को भी नयी दृष्टि से परखा गया है। जो कृष्ण अब तक कवियों एवं कलाकारों के द्वारा परब्रह्म के रूप में चित्रित होते आए हैं तथा जिन्हें केवल मर्यादित तथा सत्य के आग्रही के रूप में ही चित्रित किया जाता रहा है, उस कृष्ण को 'अन्धायुग' में एक नयी भूमिका मिली है। 'अन्धायुग' का कृष्ण केवल प्रभु अथवा परब्रह्म ही नहीं है बल्कि देवत्व एवं दानवत्व की संधि-रेखा पर खड़ा वह आधुनिक जटिल मनुष्य भी है जो परिस्थितियों से प्रेरित होकर सत्य की रक्षा करते हैं तो सत्य का त्याग भी, मर्यादा का वहन करते हैं तो अमर्यादा का ग्रहण भी। इस प्रकार पहली बार कृष्ण को अमर्यादित रूप में चित्रित किया गया है और तब कृष्ण का व्यक्तित्व उस जटिल मनुष्य के व्यक्तित्व के रूप में उभरता है जो पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के झूले पर घड़ी के पेंडुलम की भाँति सदा दोलायमान रहता है। 'अन्धायुग' के कृष्ण सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के एकमात्र निर्णायक नहीं है। इनका निर्णय संशयग्रस्त मनुष्य कर

भी कैसे सकता है ? मनुष्य क्या प्रभु भी नहीं कर सकते। इनकी निर्णायक तो परिस्थितियाँ ही हैं। पाप और पुण्य, मर्यादा और अमर्यादा, सत्य और असत्य के निर्वाचन में परिस्थितियाँ ही मनुष्य को प्रेरित करती हैं। किन्तु आधुनिक-युगबोध में सत्य और असत्य का कोई निरपेक्ष निर्णय, जो शाश्वत हो, नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार आधुनिक युगबोध जटिल हो जाता है।

भारती ने इस नग्न सत्य का भी उद्‌घाटन किया है कि चाहे सत्य का वरण करो या असत्य का, अन्त में केवल पीड़ा ही मिलेगी। यहाँ आस्था-अनास्था का प्रश्न उठा देना अनिवार्य है। इसी आस्था के प्रश्न को भारती ने संजय, युयुत्सु तथा अश्वत्थामा के माध्यम से 'अन्धायुग' में प्रस्तुत किया। भारती ने अनास्थकों की आस्था को आवश्यक भूमिका के रूप में स्वीकार किया क्योंकि आस्था की माला का वरण करने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रथम सोपान है और यही स्वर 'अन्धायुग' में सशक्त रूप में उभर कर सामने आया। विदुर का आग्रहपूर्ण प्रश्न समस्त मानवता के प्रतीक कृष्ण के प्रति विनम्र निवेदन का रूप धारण कर लेता है—

> **"यह कटु निराशा की**
> **उद्धत अनास्था है···**
> **आस्था तुम लेते हो**
> **लेगा अनास्था कौन ?"** (पृ० २२)

कवि के अन्तर्मन में गीता के पृष्ठ खुले पड़े थे जिसके गहरे प्रभाव से उसने कृष्ण के चरित्र की सृष्टि की। इतिहास-नियन्ता और नितान्त असाम्प्रदायिक भावना से बद्ध गीता में जो कृष्ण का व्यापक रूप अंकित है, वही कृष्ण का रूप 'अन्धायुग' में भी उपस्थित हुआ, जो परम्परा से चले आ रहे धर्म और कर्मकाण्ड की रेखाओं से आबद्ध नहीं। प्रमाण के लिए कृष्ण का यह कथन पर्याप्त है—

> **"अट्‌ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में**
> **कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार**
> **जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ**
> **कोई नहीं था**
> **वह मैं ही था**
> **गिरता था घायल होकर रणभूमि में।"** (पृ० १००)

यह कथन सर्वात्मवाद से बोझिल नहीं वरन् एक व्यापक युग-चेतना की ओर इंगित कर इस बात को सिद्ध करता है कि वह व्यापक युग-चेतना मनुष्य की आस्था को सशक्त और ओजस्वी भावनाओं को निरन्तर वहन करने में समर्थ है जो सच्चे शब्दों में मानवीय मर्यादाओं और मूल्यों का पूँजीभूत, गतिमान, भास्वर स्वर है। इस सन्दर्भ में उपरोक्त उद्धरण गीता के कृष्ण की आधुनिक युग के अनुरूप व्याख्या मात्र है या यूँ कहना चाहिए

कि बदलते हुए परिवेशों और निरन्तर परिवर्तनशील युग में गीता के कृष्ण की आधुनिक युग के अनुरूप व्याख्या कर दी गई है।

अन्धे धृतराष्ट्र का एक सौ एकवाँ पुत्र युयुत्सु श्रीकृष्ण को आदर्श मानकर कौरवों को असत्य और पाण्डवों को सत्य का पक्षधर समझकर सत्य का पक्ष लेता है, और युद्ध के बाद जब उसे अपने माता-पिता तथा प्रजा के द्वारा भयंकर घृणा और भीम के द्वारा भी परिहास और उपेक्षा मिलती है तो वह बड़े ही दर्द भरे स्वर में कहता है—

"अब यह माँ की कटुता
घृणा प्रजाओं की
क्या मुझको अन्दर से बल देगी ?...
मुझको क्या मिला विदुर
मुझको क्या मिला ?" (पृ० २१)

आधुनिक आचरण के विभ्रमों का प्रतीक युयुत्सु आस्था के प्रति अनास्था का आक्रोश से पूर्ण सबसे गहरा स्वर है। निष्कर्षतः जीवन के प्रति उसकी मान्यता उभरती है—

"अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।" (पृ० ५७)

वह आस्था को घिसे हुए सिक्के की उपमा देकर अट्टहास करता है। प्रेतावस्था के रूप में भी उसके हृदय का आरोह-अवरोह, उद्वेलन-आलोड़न और अन्तर्विरोध शान्त आँचल की छाया में विश्रान्ति नहीं पाता। वह इस खोटे और घिसे हुए सिक्के को तिलाँजलि देकर उसके दूसरे रूप का वरण कर लेता है—

"इसलिए साहस से कहता हूँ
नियति है हमारी बँधी प्रभु के मरण से नहीं,
मानव भविष्य से
परीक्षित के जीवन से।" (पृ० ५७)

इस प्रकार चाहे सत्य का वरण करो अथवा असत्य का अन्त में केवल पीड़ा ही मिलती है। अतः पीड़ा ही सत्य है। संजय का मर्मान्तिक वेदना से अभिभूत कथन सत्य के टुकड़े कर देता है—

"...मत छोड़ो मुझे
कर दो वध
जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तिक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।" (पृ० ३८)

यह पीड़ा अस्तित्व की पीड़ा है और तब एक व्यापक प्रश्नचिह्न हमें उद्वेलित करता है। जीवन का चरम अर्थ क्या है? वह कौन-सी वस्तु है जिसमें हम अपने जीवन की सार्थकता ढूँढ़ सकते हैं? इस प्रश्न का शीघ्र हमें कोई समाधान नहीं मिलता। आधुनिक जटिल जीवन में किसी प्रश्न का समाधान शीघ्र सम्भव भी नहीं, हम जल्दी कोई निर्णय नहीं ले सकते, किसी आदर्श एवं मर्यादा पर हमारा विश्वास नहीं रहा। आज का मानव इस मृग-तृष्णा से भरे चक्रव्यूही वातावरण में उलझकर अपने आप से ही प्रश्न करता है फिर क्या किया जा सकता है? इसका उत्तर 'अन्धायुग' के श्रीकृष्ण हैं। अन्धकार से व्याप्त अन्धेयुग में अपने विवेक के आधार पर कोई निर्णय लेकर अपनी परिस्थितियों के अनुसार किसी उद्देश्य का चुनाव कर जीवन की सार्थकता पाना ही एकमात्र उपाय मनुष्य के पास शेष रहता है। भारती के कृष्ण यही करते हैं। अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए परिस्थितिवश वे पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के समस्त दायित्वों का वहन करते हैं। उद्देश्य-प्राप्ति के लिए उन्हें कभी प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ती है, कभी मर्यादा का त्याग, कभी छल एवं असत्य का वरण भी और इसलिए जब गान्धारी का भयंकर शाप उन्हें मिलता है तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं—

> **"माता !**
> **प्रभु हूँ या परात्पर**
> **पर पुत्र हूँ तुम्हारा, तुम माता हो···।**
> **अट्ठारह दिनों के भीषण संग्राम में**
> **कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ**
> **करोड़ों बार···**
> **जीवन हूँ मैं तो मृत्यु भी तो**
> **मैं ही हूँ माँ !**
> **शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।"** (पृ० ३८)

इस प्रकार कृष्ण यह स्वीकार करते हैं कि जीवन और मृत्यु, पाप और पुण्य, सत्य और असत्य वे ही है। उनका चरित्र एक जटिल व्यक्तित्व के रूप मे उभरता है जो प्रभु की अपेक्षा आधुनिक जटिल मनुष्य का प्रतिनिधित्व अधिक करता है।

संवेदना के धरातल :

'अन्धायुग' की भाव-चेतना तीन स्तरों पर प्रतिफलन प्राप्त करती है—पौराणिक स्तर, युगीन स्तर और मानवीय स्तर। युद्ध के अनुभव का एक स्तर निश्चित रूप से पौराणिक है उसकी पौराणिक प्रासंगिकता है क्योंकि यह कृति महाभारतकालीन युद्ध के यथार्थ अथवा महाभारतयुगीन सत्य को वाणी प्रदान करती है। इस कृति की भाव-चेतना का दूसरा स्तर प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के द्वारा लाई गई मानवीय स्थिति से सम्बन्धित है और तीसरा स्तर मनुष्य के मानस में ही विद्यमान पशुत्व की कामना से है।

इस कृति में जितने भी पात्र एवं घटनाएँ है, वे पौराणिक तो हैं ही, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु वे आधुनिक सत्य एवं महायुद्धोत्तरकालीन आधुनिक सवेदना अथवा युगबोध को भी व्यंजित करते है। वस्तुत: नये कवि की विशिष्ट मानसिकता ने कृति की समग्र कथा को, महाभारत के घटनाचक्र को एक विशेष क्षण में धारण किया होगा। इसका कारण यह है कि कवि ने दो विश्वयुद्धों के द्वारा मानवता को कुण्ठित होते, आस्था, विश्वास एवं मानव-मूल्यों को खण्डित होते तथा व्यापक मानवता का नृशंस हनन होते देखा है। महाभारत-युद्ध में युद्ध की यह बर्बरता वर्तमान थी। महाभारत में धर्मराज जैसे सत्यवादी पात्र को भी विजय एवं गुरु द्रोण की हत्या की कामना से अर्द्ध सत्य का अवलम्बन करना पड़ता है और महान् चरितनायक श्रीकृष्ण—जो सभी मर्यादाओ, आदर्शों एवं सत्यों के रक्षक हैं—को अनीति के द्वारा किसी एक पक्ष का वरण करना पड़ता है।

युद्ध के उद्देश्य चाहे जितने भी महान् हों, युद्ध सभी को—चाहे वे कितने ही सत्यवादी, आदर्शवादी अथवा मर्यादावादी क्यों न हों—पशु बनने के लिए विवश कर देता है। सच पूछिए तो मात्र स्वार्थ ही युद्ध का कारण है। व्यापक मानवता के हित के लिए कभी कोई युद्ध नहीं लड़ा गया। युद्ध में मानवता की विजय हो ही नहीं सकती। युद्ध के आमंत्रण का अर्थ है दानवता की विजय और मानवता की निश्चित पराजय। आज के समाज में भी व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वोपरि हे। स्वार्थ के वशीभूत मानव-मन उचित-अनुचित का विवेक खो बैठा है। आज के युग में भी, महाभारत जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक धृतराष्ट्रों की कमी नहीं दिखाई पड़ती; जिनके व्यक्तिगत स्वार्थ ने विनाशक युद्ध की दुदुंभी बजाकर भयंकर मानवीय संहार करवाया। आज निरन्तर धृतराष्ट्र जैसे अविवेकी राजाओं की संख्या में श्रीवृद्धि हो रही है। युद्धोपरान्त कटुयथार्थ के पैशाचिक विभिन्न रूप-प्रतिरूप हमारे नेत्र-पटल पर अंकित होकर जीवन की वास्तविकता और औचित्य की निश्चित सीमाओं का अतिक्रमण कर संस्कारों को विकृत और जर्जर कर डालते हैं। समस्त मूल्य और मानदण्डों की आधारशिलाएँ घरघराकर टूटने लगती हैं, मर्यादाएँ खण्डित हो जाती है।

युद्ध की इस बर्बरता एवं विभीषिका से अश्वत्थामा इतना प्रताड़ित होता है कि अन्त में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो वह समझ नहीं पाता कि वह क्या करे, क्योंकि उसके अन्दर जो भी सत्य था, सुन्दर था, शिव था, कोमलतम रूप था, सबको युद्ध की बर्बरता ने विनष्ट कर दिया। अश्वत्थामा की मार्मिक व्यथा उसके ही शब्दों में सुनिए—

"उस दिन से, मेरे अन्दर भी
जो शुभ था कोमलतम था,
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य ने कर दी'''

उस दिन से मैं हूँ
पशु मात्र, अन्ध बर्बर पशु।" (पृ० ३४, ३५

× × ×

"हाय मैं क्या करूँगा ?
वर्तमान में जिसके
मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है
एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।" (पृ० ४२)

इस प्रकार युद्ध की विभीषिका से अश्वत्थामा विक्षिप्त हो जाता है, बर्बर पशु बन जाता है। उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रह जाता और जो भी उसके समक्ष आता है, वह उसकी हत्या कर देना चाहता है। युद्ध की बर्बरता उसके विवेक को नष्ट कर देती है और तब वह बर्बरता एवं अन्धकार में जीने लगता है, परिस्थितियों के माध्यम से गुजरते हुए वह अपने विवेक के आधार पर नहीं जीता।

अश्वत्थामा की यह पशुता एवं बर्बरता आधुनिक विश्वजीवन मे भी वर्तमान है जो निकटवर्ती अतीत के दो भयंकर महायुद्धों की देन है। आज के विश्व-जीवन में उसी प्रकार की विक्षिप्तता, शून्यता, अनास्था, कुण्ठा, अविश्वास एवं निराशा दिखाई पड़ती है जो कभी महाभारत अथवा 'अन्धायुग' के अभिशप्त पात्र अश्वत्थामा में निहित थी। कहना न होगा कि बर्बरता आधुनिक जीवन का विशेष लक्षण है। बर्बरता प्रागैतिहासिक काल के मानव-जीवन में भी थी किन्तु आधुनिक युग की बर्बरता आदिम मनुष्य की बर्बरता से किंचित् भिन्न प्रकार की है। कारण यह है कि आदिम मानव समाज, सभ्यता, संस्कृति के क्रमिक विकास का भारी बोझ लादे हुए है। आधुनिक युग का संकट दुहरा है—एक ओर सभ्यता-संस्कृति के नैतिक पक्ष का आकर्षण है, दूसरी ओर बर्बरता का। इस आकर्षण, द्वन्द्व के युग्म में आधुनिक मानव बुरी तरह व्यथित है। आज यदि कोई व्यक्ति अथवा देश नैतिक बनने का प्रयत्न करता है तो उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है और तब विवश होकर न चाहते हुए भी उसे अनैतिकता और बर्बरता का वरण करना पड़ता है। अपने अस्तित्व को बचाने के लिए वह सत्य, नैतिकता अथवा ईमानदारी के विपक्ष में खड़ा हो जाता है। इस प्रकार आधुनिक संवेदना मनुष्यता एव बर्बरता में विभक्त हो गई है। इस अन्तर्विरोध को मानवता एवं पशुत्व के द्वन्द्व को कवि ने 'अन्धायुग' में उभार कर तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया है।

यही कार्य धर्मवीर भारती ने 'कनुप्रिया' में भी किया है। किन्तु 'कनुप्रिया' मे जहाँ यह कार्य तन्मयता के गहरे क्षण के माध्यम से किया गया है वहाँ 'अन्धायुग' में पाशविकता, बर्बरता के माध्यम से। 'कनुप्रिया' की राधा का भोला प्रश्न, उसकी भोली जिज्ञासा कृष्ण के व्यक्तित्व के अन्त:विरोध को कितनी सफलता के साथ प्रकट करती है—

"हारी हुई सेनाएँ जीती हुई सेनाएँ
नभ को कँपाते हुए, युद्ध-घोष क्रन्दन-स्वर
भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं ?
चारों दिशाओं से
उत्तर को उड़-उड़कर जाते हुए
गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो
(जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को)
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?" (पृ० ७०)

'अन्धायुग' के अश्वत्थामा के अन्दर की कुरूपता आधुनिक मनुष्य की कुरूपता है, उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की पाशविकता है—उस आधुनिक मानव की जिसके अन्दर निरन्तर एक युद्ध-वृत्ति विद्यमान रहती है। इस तरह अश्वत्थामा केवल पौराणिक पात्र नहीं, आधुनिक मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक बन जाता है। आजीवन गलित कुण्ठा की दारुण यातना झेलने के लिए अभिशप्त अश्वत्थामा मर नहीं सकता है क्योंकि उसे आजीवन पीड़ा पानी है। निरन्तर पीड़ा उसकी नियति है। क्या यही स्थिति आधुनिक मानव की नहीं है ? एक ओर तो आधुनिक मनुष्य मनुष्यत्व की आकांक्षा करता है और दूसरी ओर उसके समक्ष पशुत्व खड़ा होता है। इस द्वन्द्व, इस संघर्ष की पीड़ा में निरन्तर जीते रहना क्या मनुष्य की नियति नहीं है ? अश्वत्थामा की भाँति वह भी न तो ठीक से जी सकता है और न मर ही पाता है। पीड़ा में जीने के लिए वह अभिशप्त जो है।

तत्कालीन आणविक संस्कृति ब्रह्मास्त्रों के युग से पृथक् नहीं जान पड़ती। भारती ने महाभारत के शीत और गर्म युद्धों की विभीषिका, घुटन-टूटन को 'अन्धायुग' के पृष्ठों पर नवीन रूप में प्रस्तुत कर साहित्यकार के दायित्व का निर्वाह किया। अणु-शक्ति यदि देश की सृजनात्मक शक्ति में लगे तो एक नव-निर्माण का द्वार खुल सकता है किन्तु यदि उसका दुरुपयोग हो तो समस्त सृष्टि का कण-कण बिखरकर, टूटकर, विच्छिन्न हो जाएगा। अणु के घातक प्रयोग से तो मिट्टी के अणु भी नहीं मिलते, मरघट की अस्थियों का तो प्रसंग ही व्यर्थ है। आज की मानव-पीढ़ी दिग्भ्रमित होकर अणु-शक्ति के निर्माण में संलग्न है। उनके लिए 'अन्धायुग' का प्रकाशन नितान्त सामयिक है। द्वापर-युग की नैतिक तथा राजनैतिक समस्याएँ हमारे नेत्र-पटल पर एक प्रश्न-चिह्न अंकित कर उसी रूप में आज भी हमारे समक्ष प्रस्तुत हैं। मानवीय विकृतियों का सबसे प्रमुख कारण है भौतिक-संस्कृति का पतनोन्मुख होना और वह निरन्तर विघटन की दिशा में अग्रसर हो

रही है। आज के परमाणु-युग पर गूंगे सैनिक की मार्मिक और तीव्र व्यथा एक गहरा व्यंग्य है। वस्तुतः 'अन्धायुग' का व्यास ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले जो विनाशकारी और विध्वंसजन्य दुष्परिणामों की ओर संकेत कर रहा है वह प्रकारान्तर से अणु-शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होनेवाली विकृतियों और विनाश की ताण्डव-लीला की आन्तरिक और वाह्य पृष्ठभूमि है। इन विकृतियों का बाह्य-पक्ष मानस-पटल पर एक चित्र अंकित करता है कि अणु-शक्ति का दानव उन्माद और विनाश का आसव पीकर समस्त कृषि-सम्बन्धी मान्यताओं को उन्मूल कर देगा और समस्त भूमि बंजड़ हो जाएगी। आन्तरिक विकृतियाँ मानस के गीले पट पर अवसाद और कुंठा की गहरी रेखाएँ खींच देंगी जिससे मानव का मस्तिष्क विघटित हो जाएगा और मानव का समस्त विवेक, ज्ञान, प्रज्ञा, लघुता की सीमा से लिपटकर तिरोहित हो जाएगा। व्यास के सशक्त शब्दों में वर्तमान युग के आधुनिक-बोध का मूल्यांकन कीजिए—

> **"मैं हूँ व्यास**
> **ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का**
> **यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु**
> **तो आगे आने वाली सदियों तक**
> **पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी**
> **शिशु होंगे विकलांग और कुंठाग्रस्त**
> **सारी मनुष्य जाति बौनी हो जाएगी···।"** (पृ० १२, १३)

विद्वान् लेखक ने वर्तमान-युग की अन्धता का प्रतीक गान्धारी द्वारा स्वीकार अन्धता को बनाया है किन्तु दोनों की अन्धता का मूल्यांकन हम एक दृष्टि से नहीं कर सकते, दोनों की अन्धता को हम समता के परिप्रेक्ष्य में नहीं देख सकते क्योंकि गान्धारी ने अन्धता का वरण किया है, यह उसकी इच्छापूर्ति न थी, उसकी आत्मगति थी किन्तु वर्तमान युग में जो अन्धता, टूटन, विकृति व्याप्त है यह उसकी विवशता और उत्तरदायित्व से थका हुआ भाग्य है।

'हम संक्राति-काल के प्राणी लिखा नहीं सुखभोग' में दिनकर की जो पीड़ा से आक्रान्त दर्दभरी विवशता है उसका प्रतिरूप है 'अन्धायुग'। आज हमारी आत्मा आधुनिक-युग की नियति के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत विकृति, टूटन, विसगति, विकलांगता आदि को स्वीकार करने में उसी प्रकार विद्रोह कर रही है जिस प्रकार विकलांग धृतराष्ट्र को अपने समक्ष देखने और स्वीकार करने में गान्धारी की आत्मा कराह उठी थी। फिर भी, एक विभाजक रेखा तो स्पष्ट है ही कि स्थिति-विशेष के संदर्भ में ही गान्धारी ने अन्धता का सिन्दूर अपनी माँग में भरा और हमारे लिए अन्धता का वरण करना किसी भी स्थिति में सहज नहीं है। गान्धारी ने अन्धता का आलिंगन किया था और अन्धता ने हमारा आलिंगन किया है।

सर्वत्र अनास्था युद्ध-संस्कृति तथा आत्मघाती मनोवृत्ति से निर्मित 'अन्धायुग' का

परिवेश, सत्य, मर्यादा तथा दायित्व के प्रश्नों को उभारता है। लेखक के विचारों को पूर्ण मान्यता देने पर भी लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'अन्धायुग' को निराशावादी अनास्थापूर्ण कृति नहीं स्वीकार किया। उनके विचारानुसार जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्तता ही उसकी कथा में विवेक को प्रकाश दे सकती है। इसलिए उसका स्वर अशक्त निराशा का स्वर नहीं है। उसमें खिन्नता का दोष नहीं है। उसमें विष नहीं वरन् प्रकाश की, सत्य को स्थापित करने की तड़प है *(नई कविता के प्रतिमान)*। इसीलिए युयुत्सु के चरित्र में मानवीय स्वर के विवेक में ईश्वर की व्यापकता बोलती है। उसकी आस्था का साकार चित्र कृष्ण है। 'है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की' विकृतियों के परिप्रेक्ष्य में नयी नैतिकता की माँग स्वाभाविक तो है, पर उतनी ही कठिनता की उलझनों, सीमाओं में जकड़ी हुई। यहाँ रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा। उनके शब्द हैं—' ऐसे समय में निराशा, पलायनवाद तथा ह्रास से ऊपर उठकर कलाकार का दायित्व नयी मर्यादा के स्थापन का होता है परन्तु यह दायित्व सुधारक अथवा उपदेशक के स्तर का होना है जिसमें कला का अस्तित्व नहीं रह जाता। मूल्यों के विघटन के समय साहित्य सृजन इसीलिए कठिन अध्यवसाय तथा गहरी संवेदना की अपेक्षा रखता है। कलाकार को सामाजिक विकृतियों के बीच में रखकर पहले तो अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी पड़ती है और फिर नये मूल्यों तथा प्रतिमानों को निर्मित करना होता है। अपने तथा पाठक के व्यक्तित्वों के प्रति इस दोहरे व्यक्तित्व के बाद उसे अपनी संवेदना को उपदेशात्मक मनोवृत्ति में परिणत हो जाने से बचाना पड़ता है। उपदेशक का कार्य हेय नहीं है पर कवि कर्म उससे निश्चय ही भिन्न तथा दूसरे स्तर का है *(हिन्दी नवलेखन)*।

भारती का 'अन्धायुग' उपरोक्त सभी मानदण्डों की कसौटी पर खरा उतरता है। 'अन्धायुग' की भूमिका में कवि ने अंकित किया है—"कुंठा, निराशा, रक्तपात, विकृति, कुरूपता, अन्धापन—इनमे हिचकिचाना क्या ? इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुए है तो इनमें निडर क्यों न धँसू। इनमें धँस कर भी मैं मर नहीं सकता और अपनी इस उपलब्धि की अनुभूति को कवि ने सामाजिक मर्यादा की शालीनता से बाँधे रखा। मने जब वेदना सबकी भोगी है तो जो सत्य पाया है वह अकेले मेरा कैसे हुआ ? एक धरातल ऐसा भी होता है जहाँ निजी और व्यापक का बाह्यान्तर मिट जाता है। वे भिन्न नहीं रहते। 'कहियत भिन्न, न भिन्न।'' कथानक और प्रेरणा की यथार्थता को समेटे 'अन्धायुग' की भाव-भूमि की यह लोक-सम्पृक्ति जो नयी कविता की प्रवृत्ति विशेष है, अभिन्न अंग बन गई है।

अपने इस दृश्य काव्य में भारती ने उद्घोषणा में ही आधुनिक जीवन मे व्याप्त शोषक और शोषित की समस्या को स्वर देकर अपनी प्रखर चेतना का परिचय दिया है। उन्होने उद्घोषणा में कहा है कि धर्म एवं अर्थ पतनोन्मुख हो जाएँगे। धीरे-धीरे धरती विनाश के गहरे गर्त्त की ओर खिसकती चली जाएगी सत्ता केवल उन्ही के

हाथों में होगी जिनके हाथों में पूँजी होगी। भौतिक ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्तियों को ही महत्त्व मिलेगा, जो अपने चेहरे पर एक नकली मुखौटा ओढ़े रहेंगे अर्थात् जिनके कथनी और करनी, विचार और कर्म में कोई सामञ्जस्य नहीं होगा। राज्यसत्ता केवल अपना लोलुपतामय स्वार्थ-साधन करती रहेगी, व्यक्ति समाज एवं देश के कल्याण की चिन्ता कम करेगी और तब स्थिति इस प्रकार भयाक्रान्त हो उठेगी कि राजशक्तियों के डर से सामान्य जन उसी प्रकार अपने कुण्ठित अन्तर्मन की गहन गुफाओं में छिप जाएँगे जैसे आदिम अवस्था में मनुष्य पशु-भय से पर्वत की गुफाओं में भागकर छिप जाया करते थे। आज जन-साधारण के लिए सुख आकाश-कुसुम बन गया है, वह केवल पूँजीपतियों की तिजोरियों तक ही सीमित है।

आधुनिक शासनतन्त्र की अव्यवस्था और अराजकता किसी से छिपी नहीं है। युधिष्ठिर के प्रहरियों के शासन-सम्बन्धी वार्तालाप में आधुनिक शासन-व्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया गया है—

> **"हम जैसे पहले थे वैसे अब भी हैं**
> **शासक बदले**
> **स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं**
> **इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे**
> **अन्धे थे लेकिन वे शासन तो करते थे।"** (पृ० १०७)

इसी प्रकार कथा-गायन की पंक्तियों को सन्दर्भित करना अधिक उपयुक्त होगा। अंधी शासन-व्यवस्था का अंग बनकर यंत्रवत् कार्य करने का अभिशाप केवल प्रहरियों को ही नहीं झेलना पड़ रहा। प्रकारान्तर से आधुनिक मानव की भी यही पीड़ा है—

> **"आसन्न पराजय वाली इस नगरी में**
> **सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे-धीमे**
>
> × × ×
>
> **जिनमें बूढ़ा भविष्य याचक सा**
> **है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे।"** (पृ० २७, २८)

ऐसा लगता है मानो अंकित पंक्तियाँ दुःख के भीतर से धुलकर निर्मल हो गई हैं। महाभारत युद्ध की पीड़ा घड़े में समाने वाली बूंद की तरह विलीन हो गई है। विवेक, मर्यादा और अंधत्व इन तीनों को एक ही बिन्दु पर कवि झेल रहा है। कवि अनुभव करता है कि विवेक हार गया, मर्यादा टूट चुकी है और सिंहासन पर अन्धापन बैठा है। यहाँ यह अन्धापन प्रतीक बन जाता है, जिस प्रकार महाभारत में अन्धों के द्वारा युग का सिंहासन सुशोभित था, आज भी अन्धों के द्वारा ही युग का सिंहासन सुशोभित है। अत. धृतराष्ट्र के स्थूल अन्धेपन के तथ्य को खण्डित करके ये पंक्तियाँ दूसरा अर्थ निर्मित करती हैं और ये पंक्तियाँ राज्य और व्यक्ति के भीतर निहित अमर्यादा और अन्धेपन को व्यक्त करने लगती है अर्थात् धृतराष्ट्र के अन्धेपन की स्थूलता सूक्ष्म मानसिक स्तर मे

परिवर्तित हो जाती है। महाभारत युग का शासन सत्तान्ध व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था जो विवेक और मर्यादा को देख नहीं पा रहे थे। आज भी क्या विश्व-स्थिति कुछ उसी प्रकार की नहीं है? हर देश की विदेश-नीति अपने देश के स्वार्थ की चिन्ता करती है व्यापक मानवता, सत्य अथवा विवेक की नहीं। ये पंक्तियाँ जहाँ महाभारतकालीन अविवेक, खण्डित मर्यादा एवं अन्धत्व को व्यक्त करती हैं, वहाँ आधुनिक विश्वयुगीन अविवेक को भी, जो मानवता को कुचलने के लिए सिद्धान्तों का कुचक्र चलाता है। इस प्रकार महाभारतकाल की यह पीड़ा आधुनिक मानव-मन की पीड़ा को भी उद्घाटित करती है। कथा-गायन की यह पीड़ा समग्र कृति में विद्यमान मिलेगी।

खाली स्टेज पर दो सशक्त प्रहरी वार्त्तालाप करते हैं। ये प्रहरी सत्रह दिनों तक इसी प्रकार पहरा देते रहे हैं। सम्पूर्ण मंच पर युद्ध की अन्तिम संध्या का सूनापन छा रहा है और ये दो प्रहरी लगता है कि उदासी और शून्यता की ही रक्षा कर रहे हैं। यहाँ गम्भीर परिस्थिति के जिस वातावरण का निर्माण किया गया है वह अर्थमयी है। वातावरण-निर्माण कवि ने उस भाषा के द्वारा किया है जो जीवन के समान ही गम्भीर-भंगिमा धारण किए हुए है। ये पंक्तियाँ शाब्दिक संरचना के स्थान पर एक अलग अवधारणा-मूलक भाषिक संरचना प्रस्तुत करती हैं। इन पंक्तियों में जो एक प्रभावोत्पादक शक्ति अन्तर्निहित है, वह तथ्य-कथन से अलग भाषा के किसी और संरचना-विधान से आई है। यह कथन-मात्र नहीं है। इसकी प्रत्येक पंक्ति शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त संकेत देती है। कवि शब्दों के माध्यम से उस सम्पूर्ण स्थिति का साक्षात्कार कराता है जिसमें युद्ध के बाद उदासी और शून्यता छाई है और हमारा मन-प्राण उस शून्यता एवं उदासी को स्पर्श के धरातल पर ग्रहण करता है और तब यह अनुभव, तात्कालिक अनुभव, स्पर्शजन्य प्रत्यक्षता उत्पन्न करता है। इसलिए ये पंक्तियाँ जीवन की सहजता के समान हैं। इन पंक्तियों में वह जीवनधर्मिता विद्यमान है जो शाब्दिक तथ्य-कथन से अलग है।

कथा में कवि पुनः एक व्यतिरेक उपस्थित करता है। एक ओर तो मंच पर उदासी टहलती है और दूसरी ओर प्रहरी टहलते हैं। प्रहरियों की पदचाप उदासी और शून्यता की सतह को तोड़ती है और उनके अन्दर जो पीड़ा वर्तमान है, उसे छलछला देती है। रंगमंच पर टहलने वाले बूढ़े प्रहरियों की पदचाप और वार्तालाप उदासी और शून्यता को बेधकर उसे और भी गहरा कर जाते हैं।

प्रहरियों के वार्तालाप में व्यंग्य, विडम्बना और परितप्त वेदना वर्तमान है। प्रहरियों की पीड़ा वैयक्तिक न होकर आधुनिक मनुष्य की पीड़ा का संकेत देती है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे अहसास से थके हुए हैं। इन्होंने सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में भाग तो नहीं लिया किन्तु राजमहल के सूने गलियारे में पहरा देते रहे। ये तो शारीरिक स्तर पर थके हुए जान पड़ते हैं। उनका सारा कर्त्तव्य-कर्म निरुद्देश्य है और निरर्थक प्रयत्न थकान और व्यक्तित्व के विघटन के अतिरिक्त दे ही क्या सकता है? ये प्रहरी युद्ध में भाग लेकर अपने भाले अर्थात सामर्थ्य का उपयोग कर सकते थे किन्तु जब

उन्हें अवसर नहीं मिलता तब वह सामर्थ्य व्यर्थ होकर उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व को ही विघटित करने लगती है और यह विघटन मानसिक थकान बनकर छा जाता है।

उनके समक्ष अब एक मूलभूत प्रश्न सशक्त रूप में उपस्थित होता है कि उनके जीवन की सार्थकता क्या है? वे अब अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें एक विकृत शासन-तंत्र के नीचे दबा रहना पड़ा है। मात्र पहरा देना उनका काम है। यह कर्त्तव्य-कर्म कुछ भी सार्थक नहीं मालूम पड़ता है जबकि रक्षणीय कुछ भी नहीं है। उनका जीवन और कर्त्तव्य-कर्म शासन-व्यवस्था का ही एक यांत्रिकीकरण होकर रह गया है। शासन-तन्त्र के लौह अस्थि-पंजर में उनकी स्वतंत्रता, कोमल भावनायें, उनका उद्देश्य— सब कुछ समाप्त हो गया है और उनका जीवन भी शासन-तंत्र का ही एक अंग बनकर रह गया है। जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है तब पहरा देने का अर्थ क्या है? किन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि उन्हें न चाहते हुए भी निरुद्देश्य पहरा देना पड़ता है। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं बल्कि प्रतीक भी हैं। हरेक मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अंधकार है जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेच्छानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है; जीना उसके लिए भार बन जाता है। कम लोग हैं जो जीवन जीते हैं, ऐसा लगता है कि समय ही उन्हें जीता है, सोखता है। लेकिन समय को हम जीयें न कि समय हमें जीये। यह तभी सम्भव है जब हर प्रकार से हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हो और जब वह हमें नहीं मिलती तब उन बूढ़े प्रहरियों की तरह ही हमारा जीवन भी व्यर्थ हो जाता है; जीवन यांत्रिक हो जाता है। इस प्रकार प्रहरियों का वार्तालाप मूलभूत प्रश्न जीवन-सत्य का स्पर्श करता है।

प्रहरी के जीवन और रक्षणीय वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं है और जब बिना सम्बन्ध के कर्म में प्रवृत्त हुआ जाता है तब एक शून्यता और मरुस्थल का उदय होता है। सत्रह दिनों तक वे लगातार घुट-घुट कर जीते हैं और उनका व्यक्तित्व विघटित होता चला जाता है। सत्रह दिनों का कार्य अन्ततः निरर्थक प्रमाणित होता है और यह निरर्थकता उन्हें तोड़ने लगती है। केवल सम्बन्ध की शून्यता नहीं है, सम्बन्ध विकृत रूप में है। उन्हें सभ्यता-संस्कृति की इस विकृति की रक्षा न चाहते हुए भी करनी पड़ती है और यह विकृति अन्तरात्मा का ध्वंसावशेष करती चली जाती है। न तो ये अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाते हैं और न विकृति का प्रतिरोध कर पाते हैं और तब ये निष्क्रिय नपुंसकता में परिणत होते चले जाते हैं किन्तु वे समर्थ हैं, उनके पास अपना विवेक भी है, जिसके आधार पर वे अपने अनुभवों एवं कार्यों का मूल्यांकन करते हैं। यह विवेक और समर्थता उनकी पीड़ा को और भी तीव्रता प्रदान करते हैं। यह विवेक उन्हें सालता है। समस्त युद्ध-क्रिया ही जब अविवेक से परिचालित है, तब उनका विवेक उन्हें पीड़ित करता है। सत्रह दिनों के युद्ध का अनुभव बार-बार उन्हें काटता है और तब ये प्रहरी व्यापक

परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक बन जाते हैं, उस मानव की नियति के समक्ष आज न तो कोई मार्ग है न चुनाव की स्वतंत्रता जो अन्धेरे में जीवन के सूने गलियारे में निरुद्देश्य भटक रहा है और निरुद्देश्य भटकाव थकान को जन्म देता है। आधुनिक जीवन पर इस रिक्तता ने संवर डाल दिया है। रिक्तता के कारण अतीत का उपयोग नहीं कर पाते, वर्त्तमान को दोषी नहीं मानते, भविष्य हमारे लिए उपयोगी रहता ही नहीं। आधुनिक मानव की यही दायित्वहीन पीड़ा उसे मथती है।

शासन-तंत्र के नेतृत्व वर्ग के शासकों की स्थिति भी पुष्ट नहीं है। इस यातना और पीडा का प्रतिरूप युधिष्ठिर में उभरा है। युधिष्ठिर का मार्मिक कथन विजयी होकर भी अचिन्त्य वेदना की अभिव्यक्ति से लिपट जाता है—

> **"ऐसे भयानक, महायुद्ध को**
> **अर्द्धसत्य, रक्तपात हिंसा से जीतकर**
> **अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना**
> **यह भी यातना ही है······**
> **······सिंहासन प्राप्त हुआ है जो**
> **यह माना कि उसके पीछे अन्धेपन की**
> **अटल परम्परा है।"** *(पृ० १०४)*

इस प्रकार आज का शासक और शासित दोनों ही दु:खों और कष्टों की शृंखलाओं से आबद्ध हैं। युद्ध की विनाशपूर्ण ताण्डव लीला और उससे उत्पन्न भयाक्रान्त, भयावह, संहारक विभीषिका शासक की सबसे बड़ी और प्रत्यक्ष पराजय है। धृतराष्ट्र के शब्द उसे वाणी दे रहे हैं—

> **"गूंगों के सिवा आज**
> **और कौन बोलेगा मेरी जय ?"** *(पृ० ४९)*

इस प्रकार आज के आधुनिक युग की एक अन्य समस्या भाई-भतीजावाद को भी भारती ने समय के अनुरूप वाणी दी। इसका संकेत धृतराष्ट्र के शब्दों में निहित है—

> **"पर वह संसार**
> **स्वत: मेरे अन्धेपन से उपजा था**
> **मैंने अपने वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था······**
> **······कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे**
> **वे ही थे अन्तिम सत्य।"** *(पृ० १७, १८)*

तटस्थ पर्यवेक्षक व्यक्ति दोनों पक्षों में से किसी पर भी अपना प्रभाव डालकर अपने पूर्ण कर्त्तव्य की पूर्ति नहीं कर सकता। उसका व्यक्तित्व नपुंसक की सीमा से कुंठित हो जाता है। संजय का कथन तटस्थता की आधुनिक स्थिति को व्यर्थ सिद्ध कर रहा है—

> **"मैं दो पहियों के बीच लगा हुआ**
> **एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूं**

जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता······
······और उसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता।" *(पृ० ७४)*

संजय जहाँ महाभारत का एक ऐतिहासिक पात्र है, वहीं आधुनिक मानव का भी, उस मानव का जो सचेत है, विवेकशील तथा तटस्थ है। यह एकमात्र पात्र जो तटस्थ, सचेतन एवं विवेकशील है जो मर्यादा, नैतिकता एवं सत्य को खण्डित होते हुए देखता है जो तटस्थ होकर भी भटक रहा है, अन्धेरे मे छटपटा रहा है—

"वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कण्टक पथ पर।" *(पृ० २८)*

"भारती का समस्त काव्य नये भाव-बोध पर आश्रित आधुनिकता का पोषक है। वह आधुनिकता केवल कालगत भाव में नहीं वरन् चिन्तन विधि में है, दृष्टिकोण और विवेक में है, जीवन की स्पष्ट व्याख्या तथा ऐतिहासिक दायित्व में है बल्कि इससे भी आगे वह आधुनिक इसलिए है कि आज के जीवन-सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयोग करता है। उसकी दृष्टि पिटी-पिटाई लकीर से दूर अन्वेषण-गत है, परीक्षण-जन्य है। उसमें तर्कगत अवलोकन है, उसके आधार पर परीक्षण करके किसी समुचित निष्कर्ष पर पहुँचने की अदम्य लालसा है" *(आलोचना, दिसम्बर १९६६)*।

इस प्रकार सुदूर अतीत के पटल से 'अन्धायुग' के प्रतिपाद्य को अंकित कर भारती ने तत्कालीन आधुनिक बोध को व्यंजित करने का सफल एवं सशक्त प्रयास किया है। डॉ० शंकरदेव अवतरे ने भारती के विषय में अपनी विचारधारा को यूँ शब्दबद्ध किया—"······समसामयिकता की इतनी सन्निहित ऐतिहासिक कल्पना करनेवाला भारती के समकक्ष हिन्दी साहित्य में अभी एक ही व्यक्ति हुआ है और वह है प्रसाद। प्रसाद ने 'कामायनी' में सारस्वत प्रदेश की कल्पना के सहारे जैसे इस युग की बौद्धिकता की विध्वंसात्मक रचना का युग-युग व्यापी समाधान चित्रित किया है, उसी प्रकार 'अन्धायुग' में अन्धकार के सहारे शाश्वत प्रकाश की कथा व्यंजित की गई है। यह उद्देश्य इसे महाकाव्य की क्षमता दिलाता है" *(हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों का प्रयोग)*। इसे महाकाव्यात्मक कोटि में ले जाना तो शास्त्रीय टक्कर को जन्म देना है। 'अन्धायुग' के उद्देश्य पर विचार करते हुए नयी कविता के सशक्त हस्ताक्षर गिरिजा-कुमार माथुर के शब्दों में कह सकते है कि "आधुनिकी प्रवृत्ति के दूसरे उन्मेष में वर्तमान पीढ़ी का ऐतिहासिक संताप तथा विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में व्यापक सांस्कृतिक संक्रमण का सबसे मुखर स्वर धर्मवीर भारती के कृतित्व में है जो 'पराजित पीढ़ी' के गीत से लेकर अन्धायुग कनुप्रिया सृष्टि का आखिरी आदमी और सम्पाति तक

उत्तरोत्तर समृद्ध हुआ है। भारती में अर्द्धसत्य और वस्तुसत्ता का ऐसा कलात्मक सामञ्जस्य है जो इन्हें दूसरे चरण के कृतिकारों से अलग पीठिका पर प्रतिष्ठित कर देता है। 'अन्धायुग' निस्सन्देह आधुनिक काव्यधारा की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है" *(नयी कविता सीमाएँ और सम्भावनाएँ)*।

अतः भारती की इस आलोच्य कृति में ऐतिहासिक पौराणिक पृष्ठभूमि पर संवेदित युगबोध हिन्दी नयी कविता की एक नयी अन्यतम अर्जित निधि है।

□

पात्र-परिकल्पना

"आधुनिक युग के प्रतीक नाटकों में यथार्थ स्थितियों से जीवित चरित्रों को आदर्श की ओर उन्मुख गतिमयता प्रदान कर हमारी अंतरंगता देने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। 'अन्धायुग' एक प्रतीकात्मक दृश्य काव्य है। 'अन्धायुग' के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवम् अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट् मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रहकर 'अन्धायुग' मानव-मन के अन्तर्जगत का महाकाव्य बन गया है" *(ज्वालाप्रसाद खेतान, सृजन के आयाम, पृ० १५३)*। इसी प्रकार मनोहर वर्मा ने अपना मत व्यक्त किया है कि "अन्धायुग में चरित्र-चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विद्वेष, कुण्ठाओं के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पतनोन्मुख संस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं" *(आलोचना, जनवरी १९५६, पृ० ११८)*। एक विशिष्ट उद्देश्य-पूर्ति के लिए ही भारती ने 'अन्धायुग' के पात्रों को प्रतीकात्मक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रमाण को पुष्ट करने के लिए 'अन्धायुग' के प्रारम्भ और अन्त से उदाहरण देने पर्याप्त होंगे।

> **"राज्य शक्तियाँ लोलुप होंगी**
> **जनता उनसे पीड़ित होकर**
> **गहन गुफाओं में छिपकर दिन काटेगी**
> ... ...
> **पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित**
> ... ...
> **या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।"** (पृ० १०)

अन्त में—

> **"हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग**
> **अन्धियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है**
> **है दासवृत्ति—उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की**
> **अन्धा संशय है लज्जा जनक पराजय है"** (पृ० १३०)

नाटक के समूचे शिल्प पर चरित्र की स्पष्टता निश्चितरूपता निर्भर करती है जो

नाटक मूलतः प्रस्तुतीकरण के लिए, उसी की सारी व्यावहारिक आवश्यकताओ के बीच से लिखे गए होते हैं। उनके चरित्र बड़े ही समृद्धशाली व्यक्तित्व और निजत्व के होते है और उनमें एक अजीब रंग और प्रभाव होता है क्योंकि ऐसे चरित्र 'कार्य' के बीच अपना सहज निर्माण पाते हैं *(लक्ष्मीनारायण लाल, रंगमंच और नाटक की भूमिका, पृ० ११८)*। भारती ने निर्देश में लिखा है कि "अन्धायुग रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था।" इसलिए स्वतः ही 'अन्धायुग' की चरित्र सृष्टि नाटकीय प्रभाव युक्त होगी। प्रत्यक्ष और परोक्ष विधि के अतिरिक्त भारती ने स्वयं पात्रों का चरित्र-विश्लेपण भी किया। काव्य-रूपक में कवि की ओर से पात्रों का चरित्र-विश्लेपण करना सम्भव नही होता किन्तु भारती ने 'कथागायन' के अन्तर्गत अपने बुद्धि-कौशल का परिचय देते हुए इस पद्धति का सफलता से सार्थक उपयोग किया। प्रमाण को पुष्ट करने के लिए हम भीमादि पाण्डव बन्धुओं के चरित्र-विश्लेषण को दृष्टिगत कर सकते हैं—

"थे भीम बुद्धि से मंद, प्रकृति से अभिमानी
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी।" *(पृ० १०३)*

'अन्धायुग' के वृद्धयाचक, गूंगे सैनिक और प्रहरियों के व्यक्तित्व कवि की कल्पना का चमत्कार है। निर्देश में भारती ने भी लिखा है—"कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्व-कल्पित घटनाएँ।" डॉ० श्रीपति शर्मा ने भी लिखा कि "अधिकतर पात्र प्रख्यात है परन्तु कुछ पात्र कल्पित भी हैं।" *(हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० ३६७)*। भारती ने शेष पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व और पौराणिक गुणों को आधुनिक युगीन सन्दर्भो से जोडते हुए भी सफलतापूर्वक रक्षित किया। "महाभारत के समान ही 'अन्धायुग' के पात्रों मे भी किसी का चरित्र सर्वथा निर्मल नही है। पतिव्रता गान्धारी, धर्मराज युधिष्ठिर तथा मर्यादा-रक्षक कृष्ण सभी के व्यक्तित्वों में कहीं-न-कहीं धब्बा अवश्य है क्योंकि वे सब मानवीय विकास की सीढ़ियाँ हैं। इस विकास को आगे बढ़ाते जाना ही मानववादी की सबसे बड़ी आस्था है।" *(रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृ० ९३)*। शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने भी लिखा—"धर्मवीर भारती की सफलता इसमें सन्निहित है कि उन्होंने मर्यादा और आस्था की अपेक्षा अनास्था का अधिक प्रबल प्रतिनिधित्व पात्रों द्वारा कराया है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारती में केंद्रापगामी प्रवृत्ति अधिक उपलब्ध होती है।" *(नया हिन्दी काव्य और विवेचना, पृ० १४०)*। वस्तुतः 'अन्धायुग' में अनास्था सर्वत्र व्याप्त होने के कारण चरित्र मर्यादा की अपेक्षा अनास्था के अधिक निकट है। प्रत्येक चरित्र विघटित है—आस्था की मनोवृत्ति किसी भी पात्र में उपलब्ध नहीं होती। "अन्धायुग के चरित्र निश्चित ही अन्धे और कुण्ठाग्रस्त हैं किन्तु उनको एक सूत्र में बाँध-कर चलाने वाली कवि की लेखनी में एक संयत मर्यादा, नैतिकता का आग्रह और आशा-वादी मानवता की झाँकी मिलती है। विक्षिप्त एवं उत्पीड़ित कलाकार आशा, संशय, विश्वास......" *(आलोचना, अक्टूबर १९५६, पृ० ५६)*। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि "उसके चरित्र किसी न किसी रूप में अन्धे, पथभ्रष्ट, निष्क्रिय और आत्महारा हैं किन्तु

लेखक ने इसी कुंठा, निराशा और अन्धापन में सत्य की खोज की है।" *(डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, छायावादोत्तर हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० १५५-५६)*। वस्तुतः 'अन्धायुग' की विशिष्टता उसके चरित्र-चित्रण में सन्निहित है। बाह्य-विधान पर अधिक दृष्टि न होकर काव्य-नाटक में रचनाकार की दृष्टि पात्रों की मानसिक स्थितियों, संघर्षों की ओर अधिक रहती है, वही मुख्य है। भारती ने अश्वत्थामा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु की मनःस्थिति के स्तरों का सुन्दर, सशक्त उद्घाटन किया है।" *(डॉ० गिरीश रस्तोगी, हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचना, पृ० १९६)*।

पात्र-परिकल्पना में मनोवैज्ञानिक और मिथकीय धारणा का योग :

महाभारत के अधिकांश पात्र असाधारण हैं। उनके साथ जो कथाएँ चलती हैं वे उन्हें मिथक बना देती हैं। "अन्धायुग के धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा आदि अपने नाम और काम दोनों से मिथक हैं। स्मरण रखना चाहिए कि ये न आदिम मिथक हैं और न उपनिषद्कालीन। इन्हें ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति की फलश्रुति कहा जा सकता है इसलिए उन्हें आज की ह्रासोन्मुखी मूल्यहीन संस्कृति से सार्थक ढंग से संदर्भित किया जा सकता है। आज के सन्दर्भ में उनका अर्थापन गहरे अर्थ में मनोवैज्ञानिक है। उसकी संरचना में उसने जो 'माइथोमोहक' दृष्टिकोण प्रयुक्त किया है, वह उसे मिथकीय अन्विति और पूर्णता देती है'''प्रभु की मृत्यु भी एक प्रकार का मिथक है। इस मिथक के आधार पर नीत्शे के उस सत्य को—ईश्वर मर गया—स्वर दिया गया है लेकिन यह नीत्शे के स्वर से अलग है फिर भी उससे एक मानवीय आस्था का उदय होता है क्योंकि प्रभु का दायित्व लोगों ने ले लिया है। जिन लोगों का दायित्व प्रभु पर है वे संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा की तरह निष्क्रिय, आत्मघाती और विकलांग होंगे। इसका मिथकीय समापन 'दायित्व' के नए मूल्यबोध की ओर इंगित करता है। यह दायित्व स्वयं व्यक्ति का है। व्यक्ति और दायित्व के बीच प्रभु को खड़ा करने की आवश्यकता नहीं है" *(धर्मयुग, जनवरी १९६२, पृ० ५२)*। कुछ विद्वान महान ग्रन्थों में आए हुए चरित्रों को मनमाने ढंग से प्रयुक्त करने के लिए नाटककार को दोषी मानते हैं। उनका विचार है कि केवल एक ही तत्व अर्थात् कृष्ण इस कृति में महाचरित्र के रूप में उपस्थित हुए हैं जिनके प्रति कवि की समस्त आस्था दिखाई देती है। कृष्ण को स्वीकार कर शेष सबको अस्वीकार करना—अर्द्धसत्य से अधिक कुछ नहीं है क्योंकि महाभारत में कृष्ण के महान् अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है। यद्यपि लेखक ने उन अन्य पात्रों को अपनी सीमित नाट्यकृति में नहीं आने दिया है, फिर भी पाठक के संस्कारों को वे बार-बार कचोटते रहते हैं और भारती की सारी दार्शनिकता के बावजूद भारतीय संस्कार उनसे प्रभावित नहीं हो पाते *(धर्मयुग, जनवरी १९६२, पृ० १९)*। भारती के 'अन्धायुग' में लगभग सभी प्रमुख पात्रों के मानव की अन्तश्चेतना तथा उसके मनःव्यापारों, मनोभावों, अतृप्तेच्छाओं एवं मानसिक घात-प्रतिघातों का गतिमय एवं द्वन्द्वात्मक चित्रण किया

गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'अन्धायुग' के पात्रों की वृत्ति अन्तर्मुखी है जो मानसिक जटिलताओं, अनैक्य, आन्तरिक भेदभाव, असन्तोष पालक, तृष्णा, नैराश्यपूर्ण आकांक्षाओं, मनोविकृति, प्रतिशोध ग्रन्थि और अहंवाद से ओत-प्रोत है।'' *(डॉ० गणेशदत्त गौड, आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ० ३६२)*। इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते कि 'अन्धायुग' का सबसे जीवन्त और सशक्त पात्र अश्वत्थामा है क्योंकि उसके चरित्र की कुण्ठाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया। ''भारती की कलम से निकला सबसे सफल, सशक्त, मार्मिक पात्र अश्वत्थामा अन्धायुग में अपनी सारी मनोग्रन्थि, व्यक्तित्व की असमानता के साथ उपस्थित है।'' *(डॉ० गिरीश रस्तोगी, हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचना, पृ० १९२)*।

डॉ० बच्चनसिंह के अनुसार अश्वत्थामा एक असामान्य पात्र (Abnormal Character) है। ''अश्वत्थामा विमंथित अन्तर्मन की विक्षोभ मूर्त्ति है। महाभारतकाल की अनैतिकता उसमें पूँजीभूत-सी हो गई है। वह सामान्य स्थिति में न रहकर बहुत कुछ असामान्य पात्र हो गया है। भारती ने उसके घनीभूत क्षणों को काव्यतत्व से सन्निविष्ट कर अभिव्यक्ति दी है।'' *(हिन्दी नाटक, पृ० १९२)*। श्री प्रतापनारायण टण्डन लिखते है ''अन्धायुग की प्रमुख कमी यह बताई जा सकती है कि उसमें किसी भी ऐसे महान् चरित्र की सृष्टि नहीं हो सकी है जो आस्था का प्रतीक है लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि अश्वत्थामा आदि पात्रों के द्वारा इस दिशा में कवि ने प्रयत्न अवश्य किया था'' *(साहित्यिक निबन्ध, पृ० ६२२)*। डॉ० कुमार विमल ने अश्वत्थामा के चरित्र के विषय में अपना मत दिया—''केवल अश्वत्थामा का चरित्र मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है।'' *(अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० १३९)*। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ''अश्वत्थामा अपनी समस्त कुण्ठाओं के साथ जिस रूप में चित्रित किया गया है वह रूप बहुत ही शक्तिशाली एवं सजीव बन पड़ा है।'' *(कृष्ण सिहल, हिन्दी गीतिनाट्य, पृ० १२४)*। लेखक की सहानुभूति बहुत दूर तक अश्वत्थामा के साथ ही दिखाई पड़ती है, युधिष्ठिर के अर्द्ध-सत्य की मीमांसा ने लेखक की सहानुभूति का स्रोत अश्वत्थामा की ओर मोड़ दिया। ''अन्धायुग की प्राय. सभी समस्याओं का वह केन्द्र बिन्दु है और दृश्य काव्य के समापन तक उसका चरित्र बराबर निखरता गया है।'' *(डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृ० ९२)*। 'अन्धायुग' के पृष्ठों पर सर्वप्रथम अश्वत्थामा भग्न और खण्डित योद्धा के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। पिता की क्रूर और छल-युक्त हत्या और दुर्योधन की दीन-हीन स्थिति से विरक्त और खिन्न होकर विक्षुब्धता से वह धनुष को मरोड़कर टुकड़े कर देता है। प्रतिशोध की अग्नि में झुलसता अश्वत्थामा भयावह होते हुए भी शक्तिहीन होता चला जाता है। उसके मस्तिष्क पर बार-बार पिता की क्रूरतापूर्ण निर्मम हत्या का चित्र बिजली की भाँति कौंध जाता है और वह अन्दर से कहीं खोखला होता जाता है। अश्वत्थामा का चरित्र अपने आप मे ध्वंसात्मक, पीड़ादायक और एक उलझती हुई गुत्थी है के चरित्र निर्माण के विषय में स्वयं भारती अपने

निबन्ध-संकलन 'पश्यन्ती' में लिखते हैं—"इस बार ही नहीं अनेक बार ऐसा हुआ है। पात्र के बारे में पूरे नोट्स बना लीजिए, यहाँ तक कि घटनाक्रम और संवादों की विस्तृत रूपरेखा भी सोच लीजिए, लेकिन जहां लिखते-लिखते पात्र अपने व्यक्तित्व को उपलब्ध कर ले गया वहीं वह आपके हाथ में नहीं रहता। फिर उसका चरित्र-विकास अपने आन्तरिक क्रम के अनुसार होता है और आपका बनाया तथा कागज़ पर लिखा हुआ सारा ढांचा नाकाफी साबित होने लगता है। अश्वत्थामा के बारे में भी यही हुआ। जब 'अन्धायुग' के पूरे नोट्स बनाए थे और अंक-प्रतिअंक उसकी रूपरेखा बनायी थी तब कृष्ण के सारे मूल्य-मर्यादा-जाल को ध्वस्त करने का दायित्व गान्धारी पर था लेकिन लिखते-लिखते गान्धारी शाप देकर कृष्ण के प्रति सहसा द्रवित हो गई और विद्रोह तथा असहमति की कठिन भूमिका आगे आकर अश्वत्थामा ने सम्भाल ली।

पात्र-परिकल्पना में घृणा, त्रास, अंतर्विरोध की जटिलता के कारण प्रतीकात्मकता का प्रवेश :

महाभारत के पात्र अश्वत्थामा के चरित्र को लेखक ने एक समर्थ प्रतीकात्मक आधार दिया है। यह पात्र सांस्कृतिक धरातल पर भी अपने व्यक्तित्व का व्यापक प्रसार करता है। इस पात्र को नया रूप देने में लेखक को अपनी सर्जनात्मकता पर पर्याप्त संयम करना पड़ा है। "अश्वत्थामा का चरित्र खुद मेरे लिए एक पहेली हो गया था। उसके आन्तरिक विकास-क्रम में इतना प्रबल आवेग था कि मैं लिख डालता था और फिर काफी रात गए छत पर टहल-टहल कर सोचा करता था कि अब ? अश्वत्थामा की घृणा, कटुता, आवेग, विक्षोभ इन सबसे मैं आविष्ट था ! कहीं-कहीं आक्रान्त भी ! मैं बहुधा सोचता रहता था कि इतना ध्वंसात्मक, इतना पीड़ादायक पात्र मेरी चेतना में कहाँ उपस्थित था और क्यों" *(पृ० १३)* ? युधिष्ठिर का असत्य से समझौता अश्वत्थामा के अन्दर समस्त मानवीय भावनाओं को निर्मूल कर उसे घृणा, विध्वंस और बर्बरता का प्रतिरूप बना देता है। वह स्वयं ही अपनी पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए अपने चरित्र पर प्रकाश डालता है *(अन्धायुग, पृ० ३५)*। वह अपने नपुंसक और खण्डित अस्तित्व से विक्षुब्ध होकर आत्मघात पर उतर आता है *(पृ० ३५)*। किन्तु अगले ही क्षण वह प्रतिशोध की दारुण ज्वाला में सुलगकर तड़प उठता है और इसी भावना का सहारा लेकर वह ध्वंस और संहार का जीवन सूत्र पकड़ लेता है। वह बर्बर और अमानुषिक पशु बन जाता है और अपना निर्णय देता है *(पृ० ३६)*। यहाँ एक प्रश्न ने फिर सिर उठा लिया "इतनी घृणा, इतना ध्वंस, इतना विक्षोभ आखिर क्यों ? अश्वत्थामा ऐसा क्यों होता गया अपने आप मेरे लिखते-लिखते" *(पश्यन्ती, पृ० १६)*। इसका उत्तर देने के लिए भारती अतीत का पृष्ठ पलटते हैं—"इसका जवाब मुझे जिस दिन मिला वह मुझे याद है अपने मित्र फादर ऐक्ट्रास से घण्टों बातें होती थीं इन तमाम सवालों को लेकर सार्त्र का विकल्प और अस्तित्व व वैष्णवता कथोलिक मानव

वाद, हमारा वर्त्तमान भारतीय बौद्धिक विघटन और बात चलते-चलते जाने कहाँ पहुँच गई कि मुझसे घोर असहमत होते हुए वे बोले—"तुम कभी-कभी अश्वत्थामा की तरह बोलने लगते हो।" फिर जब हम लोग टहलते-टहलते गिरजे के बगल में बर्बीना की नीली क्यारियों के पास पहुँचे तो एक बेंच पर बैठ गए और कहने लगे—"घृणा का भी एक औचित्य है। जानते हो हमारे यहाँ कहा जाता है—'Hatred is the best apprenticeship to love. घृणा प्रेम का पूर्वाभ्यास है।' तो क्या यह अश्वत्थामा की घृणा का एक और आयाम है" *(पश्यन्ती, पृ० १६)*। अन्तस की मनुष्यता नष्ट हो जाने पर अश्वत्थामा की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता और उत्तेजनाजन्य पशुत्व की सक्रियता दोनों को भारती ने एक साथ प्रस्तुत किया। परिस्थितियों ने उसे उस बिन्दु पर पहुँचा दिया कि न चाहते हुए भी उसे किसी की गर्दन मरोड़ देने की इच्छा होती है चाहे वह तटस्थ (संजय) ही क्यों न हो। हिंसा का सम्बन्ध यहाँ आकर अर्थ से टूट जाता है और अब हिंसा उसकी आदत बन जाती है। युद्ध का सही अर्थ समाप्त हो जाता है और वह मात्र हिंसा का प्रयोग बन जाता है। इस परिस्थिति में अश्वत्थामा सचेतनता और विक्षिप्तता दोनों को एक साथ झेलता है उसके मस्तिष्क में एक जटिल मनोग्रन्थि बन जाती है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह उन्माद की चरमसीमा को भी पार कर जाता है। वध उसका धर्म बन जाता है। कभी वह कहता है—"मेरे भूखे पंजे जाकर दबोचेंगे वह गला युधिष्ठिर का, जिससे निकला था अश्वत्थामा हतो: हत:," *(अन्धायुग, पृ० ३७)* और कभी वृद्ध की हत्या कर कहता है—"मैंने नहीं मारा उसे—मातुल विश्वास करो" *(पृ० ४५)*। उसका व्यक्तित्व स्थिर नहीं रहता। 'शठे शाठ्य समाचरेत' नीति पर चलता हुआ अश्वत्थामा अधर्म का उत्तर अधर्म से ही देने का निश्चय कर पाण्डवों का हनन करने की प्रतिज्ञा करता है *(पृ० ६२)*। उसकी घायल आत्मा की तड़पती वाणी उसे प्रतिशोध की ओर प्रेरित करती है। अपने वचन को दृढ़ता से पालन करनेवाला अश्वत्थामा दुर्योधन को दिया अपना वचन और प्रतिज्ञा निभाता है। कृतवर्मा के समक्ष वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को दोहराता है *(पृ० ६७)*। उसकी रक्त से सनी घृणा चरम त्रास और भयानकता का वातावरण उपस्थित कर देती है। वह अमानुषिकता से भयंकर नरसंहार का संचालन कर उसकी केन्द्रीय धुरी बनता है, पाण्डव शिविरों को अग्नि की लपटों में झोंक देता है, स्त्रियों को हाथियों से निर्ममतापूर्वक कुचलवा देता है और धृष्टद्युम्न की हत्या करने में अपनी घृणा की चरम परिणति कर देता है। यातना से तड़पा-तड़पा कर उसका घूँसों से ही हनन कर देता है। संजय उसे भयंकर कुरूप की संज्ञा देता है किन्तु गान्धारी उसे वीरता का शृंगार मानती है। इसका अभिषक्त प्रतिशोधी मन दुर्योधन के समक्ष भयंकर प्रतिशोध की निर्मम ध्वनि उच्चरित करता है *(पृ० ८४, ८५)*।

अश्वत्थामा घृणा का पुँजीभूत रूप होने पर भी शंकर का भक्त, प्रचण्ड पराक्रमी है। दैत्याकार शंकर से युद्ध के पश्चात् पहचानकर उनकी नम्र होकर स्तुतिजन्य अर्चना

करता है। ब्रह्मास्त्र का प्रयोक्ता होने पर भी वल्कल धारण की इच्छा करता है किन्तु अर्जुन के बाण-प्रहार से उसका स्वाभिमान तड़प उठता है। वह तन कर उसके समक्ष स्थिर हो जाता है, विवशता की सीमा का उल्लंघन होने पर अर्जुन ब्रह्मास्त्र छोड़ देता है जिसका उसे उपसंहार भी करना नहीं आता *(पृ० १२०)*। अश्वत्थामा एक पराक्रमी योद्धा की भाँति निर्भीक, निडर और स्पष्टवादी है। कृष्ण की स्तुति उसे झूठी आडम्बर युक्त लगती है और वह स्पष्ट कहते हुए जरा भी नहीं हिचकिचाता *(पृ० १२७)*।

आगे वह पराक्रमी योद्धा होने का परिचय देता है। वह सद्गुणों की सम्मान के कणों से, साधुवाद की आरती से अर्चना करता है चाहे वह शत्रु के ही क्यों न हों। 'शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' नीति पर चलता हुआ अपने विपक्षी, परम शत्रु कृष्ण की प्रशंसा करने में भी अपनी स्पष्टवादिता का त्याग नहीं करता और धैर्यपूर्वक उसके लिए प्रशंसायुक्त अपने भावों को स्पष्ट व्यक्त करता है *(पृ० १२७)*। अश्वत्थामा अपने आपको अमानुषिक और मानव-भविष्य की रक्षा करने में असमर्थता की संज्ञा देते हुए भी अन्त में आत्मान्वेषी और आत्मदर्शी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है—

"किन्तु मैं हूँ अमानुषिक अर्द्धसत्य
तर्क जिसका है घृणा और स्तर पशुओं का है।" *(पृ० १२५)*

इसी तरह—

"मैं हूँ अमानुषिक।" *(पृ० ११८)*

अश्वत्थामा के चरित्र के विषय में हम कह सकते हैं कि "···अश्वत्थामा जैसे शक्तिशाली पात्र की सृष्टि···के कारण 'अन्धायुग', 'हिन्दी गीतिनाट्य', 'साहित्य' की एक विशिष्ट कृति बन गया है" *(कृष्ण सिंहल, हिन्दी गीतिनाट्य, पृ० १२५)*। अन्ततः यही कहना होगा कि अश्वत्थामा जैसे चरित्र की सृष्टि भारती की एक निजी और अन्यतम उपलब्धि है।

भारती ने अपनी स्वाभाविक मनोशास्त्रीय दृष्टि की कसौटी पर पात्रों को ऐसे कणों से सृजित किया जो मानव-व्यक्तित्व की मूलभूत भिन्नताओं को सशक्त वाणी देते हैं। युंग के विश्लेषण को यहाँ उद्धृत किया जाए तो मानव-व्यक्तित्व को मूलतः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। ये दो श्रेणियाँ हैं—वहिर्मुख और अन्तर्मुख। इन्हीं दोनों श्रेणियों को युंग ने आगे चार उपविभागों में बाँटा जो मानव-मन की चार करण-शक्तियों (चिन्तन, अनुभव, प्रेरण एवम् संवेदन) की ओर संकेत करते हैं। इन चार शक्तियों को युंग ने जिन शाब्दिक रेखाओं से चित्रमय बनाकर उपस्थित किया उससे 'अन्धायुग' के चार प्रमुख पात्रों—धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर एवं संजय के व्यक्तित्व को तुलनात्मक कसौटी पर परखना अत्यन्त मनोरंजन का विषय होगा। आन्तरिक एवं बाह्य यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में धृतराष्ट्र का जो दृष्टिकोण मुखर है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। ऐतिहासिक सत्य के रूप में देखा जाए तो धृतराष्ट्र जन्मान्ध था किन्तु उक्त स्थल पर वह हमारे कथन की पुष्टि करता है कि वह अपने रूप में एक ऐसे पात्र को प्रतिनिधि के रूप

मे उपस्थित करता है जिसका चरित्र अंतर्मुखी संवेदन से निर्मित हुआ है। वस्तु-जगत् की सीमाएँ धृतराष्ट्र के लिए उतनी ही थी जितना वह उस वस्तु-जगत् को अपनी वैयक्तिक सवेदन शक्ति के द्वारा जान सकता था, उसकी नैतिकता के स्थिरीकरण के लिए कोई बाह्य मापदण्ड नहीं था, अपनी मांसलता से उत्पन्न कौरवों को ही वह अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकारता था, उसकी नैतिकता की सीमाएँ कौरवों के अन्दर ही समाहित थी; उसकी स्वार्थन्ध ममता कौरवों में ही नीति के रूप में चरम परिणति पाती थी। यथार्थ से उसके सम्बन्ध-सूत्र शब्दगत थे, चित्रगत आकार उसकी दृष्टि से नितान्त निरपेक्ष था। अन्तर्मुख संवेदन के सम्बन्ध में युंग की विचारधारा द्रष्टव्य है *(सुरेश गौतम, अन्धायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ९६)*।

धृतराष्ट्र के मस्तिष्क में जगत् के यथार्थ की धुंधली-सी चेतना की रेखाएँ जब अँगड़ाई लेती हैं तब उसके अनुशासन का सूर्य अन्तिम प्रहर की घड़ियों मे निशा के अन्ध-गर्भ में जा छुप रहा था किन्तु प्रारम्भ में भीष्म, गुरु द्रोण तथा कृष्ण की चेतावनी उसके मानस-पटल पर अंकित हो जाती है—

> **"मर्यादा मत तोड़ो**
> **तोड़ी हुई मर्यादा**
> **कुचले हुए अजगर सी गुंजलिका में कौरव-वंश को**
> **लपेट कर सूखी लकड़ी सा तोड़ डालेगी।"** (पृ० १७)

धृतराष्ट्र उसे महत्त्व की रेखाओं से बाँध ही न सके क्योंकि उनकी अन्तर्मुखी संवेदन-शीलता बाह्य यथार्थ अथवा सामाजिक मर्यादा को ग्राह्य कर पचाने में असमर्थ थी। इस मनःस्थिति का शब्द चित्र भी युंग ने सफलता से चित्रित किया है *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ९७)*। वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि रुग्णता की रेखाओं से सर्वथा चरित्र नहीं जकड़ा हुआ तो यथार्थ के प्रति वह चरित्र उस भ्रान्त दृष्टिकोण को निर्मूल कर उससे उभरता है। स्वस्थ वस्तुगत चिन्तन उसको उसके अन्ध-गह्वर से बाहर निकालकर उसको विशाल जगत् से सम्बध-सूत्र जोड़ने की प्रेरणा देता है। लौकिक धरातल पर जब धृतराष्ट्र पराजय का आलिंगन करता है उस स्थिति में उसे आभासित होता है कि सत्य का आधार उसकी वैयक्तिक सीमाओं की रेखाओं के अन्दर ही नहीं बाहर भी है।[1]

---

१. "His development entranges him from reality of the object, handing him over to his subjective perception, which orientate his consciousness in accordance with the archaic reality, although his deficiency in comparative judgement keeps him wholly unaware of this fact. He judges and acts as though he had such powers to deal with but it beging to strike him only when he discovers that his

गान्धारी का चरित्र भी उपरोक्त व्यक्तित्व को सशक्त वाणी देता है। गान्धारी का दृढ विश्वास है कि हमारे अवचेतन मन के अन्ध-गह्वर में एक अन्धा एवं बर्बर पशु निवास करता है जिसके हाथ में हमारे विवेक की सत्ता है, इससे यही ध्वनित होता है कि गान्धारी का चरित्र अब भी अवचेतन मन की गहन पकड़ से ग्रसित है *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० १८)*। अन्धता से ग्रसित पुत्रों के प्रति असीम ममता, सीमातीत उत्तेजनशीलता, कटुता के तीव्र आवेश के वशीभूत होकर कृष्ण को घोर शाप देना, तत्पश्चात् संवेदनशील हो आँखों से पश्चाताप के मोती बरसाना युग द्वारा चित्रित अन्तर्मुख प्रेरणा-प्रधान चरित्र से साम्य रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी विशेष रूप से दृष्टिगत होना चाहिए कि युंग की यह स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि अन्तर्मुख प्रेरणा-प्रधान चरित्र की उपलब्धि प्रायः नारी जाति में ही होती है।

विदुर को युंगीय दृष्टि के दर्पण में प्रतिबिम्बित करें तो वह अन्तर्मुख अनुभव न (Feeling) प्रधान चरित्र की कसौटी पर खरा उतरता है। यहाँ संजय की तटस्थता का प्रश्न उभर सकता है किन्तु हम पूरे दृश्य काव्य को तथा प्रथम अंक को विश्लेषित करें तो निष्कर्षतः तटस्थता संजय की उद्घोषित प्रवृत्ति होते हुए भी विदुर बाह्य जीवन में संजय से किसी सीमा पर अधिक निर्लिप्त दृष्टिगोचर होता है। कौरव-पक्ष की अनैतिकता और धृतराष्ट्र के विवेक-शून्य अन्ध-निर्णयों, दोनों को ही प्रहारों को व्यंग्यमय चोटों से उद्वेलित करता हुआ विदुर का वार्त्तालाप प्रथम अंक में ही अनेक विवादास्पद प्रश्नों को वाणी देकर भी एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति उदासीन और निरपेक्ष रहता है। अपने प्रभु के प्रति गान्धारी की आक्रोशमयी तीव्र कटुता भी विदुर को विचलित नहीं कर पाती। यह स्थिति भी विदुर में रोष के भावों को न जाग्रत कर एक उच्च उदात्तमयी करुणा की भूमि पर अधिष्ठित करती है। विदुर के शब्द यही व्यञ्जना देते हैं—

> **"वह कटु निराशा की**
> **उद्धत अनास्था है**
> **क्षमा करो प्रभु !**
> **चरणों में स्वीकार करो।"** *(पृ० १६)*

नीतिकुशल विदुर कौरवों का अनुसरण करते हुए भी पाण्डवों के प्रति अपने अन्दर स्नेह-भाव लिए कृष्ण को अपनी भक्ति-भावना से अलंकृत करता है। वह धृतराष्ट्र का सेवक

---

sensation are totally diffient from reality and if his tendency is to reason objectively, he will sense this diffrent as Morbid, but if on the other hand, remains faithfull to his irrationally and is prepared to grant his sansation reality value, the objective world will appear a make belief a comedy."

(C C Jung Psychological Types P P 503 504)

भी है फिर भी उसके चरित्र को भारती की कलम ने कुछ ऐसी व्यवस्थित रेखाओं के साँचे में ढाला है कि तत्कालीन जनता का द्वैत किसी भी परिस्थिति में असन्तुलन का कारण नहीं बनता *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० १००)*। महाभारत का घटनाचक्र विदुर को अनुभूति प्रदान करता है यद्यपि बाह्य जीवन से सम्पर्कित रहकर अपने आपको यथार्थ से संस्कृत करते रहना उसका स्वभाव है। वह अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

> **"मेरे प्रभु**
> **उस निकम्मी धुरी की तरह हैं**
> **जिसके सारे पहिये उतर गए हैं**
> **और जो खुद घूम नहीं सकती।"** *(पृ० ७४)*

परम्परागत शास्त्रीय नैतिकता को स्वर देता हुआ विदुर यह ज्ञान प्राप्त करने पर भी कहता है 'संशय पाप है और पाप मैं करना नहीं चाहता" *(पृ० ७४)*। विदुर के ये प्रयास उस स्वर की सत्यता आभासित करने के प्रयत्न मात्र हैं। वह स्वीकार करता है कि उसकी नीति साधारण स्तर की है और युग की सभी परिस्थितियाँ असाधारण हैं। इतना होने पर भी वह अपनी पूर्व निश्चित नैतिकता के मानदण्डों को नहीं त्याग सकता। युग की शब्दावली। रूपी रेखाओं से संजय के चरित्र को यदि बांधें तो उसके चरित्र को अंतर्मुख चितन-प्रधान चरित्र की संज्ञा देनी पड़ेगी *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० १००-२)*। संजय की तटस्थता को हम मात्र स्थितिजन्य ही नहीं कह सकते वरन् उस तटस्थता में उसके मानसिक संगठन की स्वाभाविक परिणति भी द्रष्टव्य है। वह अपने आपको कर्मलोक से बहिष्कृत स्वीकार करता है। वह अपने आपको दो पहियों के मध्य लगे हुए शोभाचक्र की संज्ञा देता है जो धरा को भी स्पर्श नही कर पाता। यदि दूसरे शब्दों में विश्लेषण किया जाए तो उसकी तटस्थता यथार्थ से कोई दृढ सम्बन्ध-सूत्रों की व्याख्या नहीं करती। अन्त में एक सीमा पर आकर संजय को अनुभव-जन्य ज्ञान का आभास होता है कि उसके जीवन का अर्थ ही लुप्त होता जा रहा है। जीवन के यथार्थ से सम्यक् सम्बन्धों की स्थापना का अभाव अन्तर्मुख चिंतन-प्रधान व्यक्ति को प्रायः ऐसी ही मनःस्थिति में ले जाता है। 'अन्धायुग' की समस्या की मूल धुरी को संजय अपने शब्दों में अभिव्यक्त करता है—

> **"आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने**
> **जैसे प्रकृति ही बदल दी सत्य की।"** *(पृ० ३०)*

आधुनिक मनोशास्त्री युंग ने मानव की समग्र चेतना को एक गतिशील वास्तविकता स्वीकार कर मानव-मन में चार करण-शक्तियों को स्वीकृति दी—चिंतन, अनुभवन, संवेदन और प्रेरणा। धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर और संजय क्रमशः इन्हीं चार चिंतन, अनुभव, संवेदन और प्रेरण करण-शक्तियों के प्रतीक स्वीकार किए जा सकते हैं।

युग-पुरुष व युग प्रभु सबके योग-क्षेम के वहन-कर्त्ता सबके उत्तरदायित्वों के केन्द्र

किन्तु कृष्ण का चरित्र वैविध्यपूर्ण है। इतिहास का एक अंग होते हुए भी व्यक्ति उसका निर्माता और नियामक है। 'अन्धायुग' के श्रीकृष्ण के प्रभु का स्वरूप इसीलिए अक्षुण्ण है कि वे इतिहास के नियामक और मानव-नियति हैं जिसका निर्माण वह स्वत ही कर सकते हैं। कृष्ण के चरित्र की रेखाएँ गीता के प्रभाव से बहुत कुछ आलोकित हैं पर मानवतावादी धरातल पर उस महापुरुष के चरित्र की सर्जना सर्वथा भारती की अपनी मौलिक प्रतिभा की देन है। कृष्ण का चारित्र्य दो धरातलों में ढलकर चलता है। एक ओर यदि उसमें भावुक रहस्यवादिता अन्तर्हित है तो दूसरी ओर उसकी नितान्त धर्मनिरपेक्ष व्याख्या की अवहेलना नहीं की जा सकती पर इसके परिप्रेक्ष्य में यह विचार संशय की सीमाओं से परे है कि उसकी मौलिक भावभूमि बौद्धिक है। कवि की अजेय और अटूट आस्था सुदृढ़ मानवतावाद पर स्थित है। ये कवि के ऐसे मानदण्ड हैं जिसके समक्ष अश्वत्थामा और युयुत्सु जैसे सशक्त चरित्रों को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। 'अन्धायुग' में श्रीकृष्ण का चरित्र विरोधी प्रवृत्तियों को समंजित करते हुए चलता है। दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और ईश्वर के रूप में चित्रित करने के उपरान्त भी कृष्ण के विषय में पात्रों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। बलराम उन्हें 'कूट बुद्धि' कहकर चरित्र पर प्रकाश डालते हैं *(पृ० ८१)*। भीम द्वारा दुर्योधन को अधर्म वार से मारने की प्रेरणा देनेवाले कृष्ण को अश्वत्थामा और गान्धारी अन्यायी की संज्ञा से विभूषित करते हैं *(पृ० ९२)*। इसी प्रकार गान्धारी कृष्ण पर प्रभुता के दुरुपयोग का खुला आरोप लगाती है *(पृ० ९१)*। विदुर कृष्ण को प्रभु कहते हैं "क्षमा करो प्रभु···।" किन्तु गान्धारी कृष्ण को वंचक कहने में भी नहीं हिचकिचाती *(पृ० २२)*।

इस कर्मयोगी की शक्ति और क्षमता की दैवी गति इतनी प्रबल है कि उनकी इतिहास को अनासक्त होकर दी गई चुनौती से नक्षत्रों की दिशाओं में भी परिवर्तन की प्रक्रिया होने लगती है। याचक के शब्दों की यही ध्वनि है *(पृ० २४)*।

कृष्ण के व्यक्तित्व का आकर्षण द्वैध है। एक ओर "···अर्जुन, उठाओ शस्त्र··· निष्क्रियता नहीं···" अर्जुन को उपदेश देते हैं दूसरी ओर उनकी प्रबल विरोधी, गान्धारी, की उनके प्रति ममता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं *(पृ० १०१)*। नाटक के प्रारम्भ में ही कृष्ण को दिव्य आदर्शों की प्रतिमूर्ति, मर्यादा-रक्षक की संज्ञा से अलंकृत किया गया। मर्यादा की पतली डोरी को सुलझाने वाला एकमात्र अनासक्त, निर्विकार, निर्लेप कृष्ण को ही कहा गया। प्रेतात्मा वृद्ध याचक उनके रथ की गति को इसीलिए नहीं बांध पाता कि वह शुद्ध-बुद्ध, मुक्त-स्वभाव और मर्यादा के शान्तिदूत रक्षक हैं *(पृ० १००)*। आवेश और आक्रोश से परिचालित क्रुद्ध, विक्षुब्ध गान्धारी के अभिशाप देने पर भी कृष्ण मर्यादा का सीमोल्लंघन नहीं करते। सदैव की भाँति गान्धारी का सम्मान करते हुए शीलवान और गम्भीर बने समस्त वंश के उन्मूलन का कटु शाप सुनकर भी वे माता गान्धारी के समक्ष उसे स्वीकार कर- अपना शीश झुका- मर्यादा का परिचय देते हैं *(पृ० १२४)*

कवि ने उपरोक्त प्रसंग को भक्ति-भाव के कणों से चित्रित किया। किन्तु युयुत्सु कृष्ण को कायर, वंचक, शक्तिहीन बताते हुए उसे शाप के वशीभूत होकर कृष्ण द्वारा मृत्यु का नाटक रचने की संज्ञा देता है *(पृ० १२४)*। वास्तव में भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र सबसे अधिक रहस्यमय प्रतीत होता है। अप्रत्यक्ष रूप से सब जगह विद्यमान रहते हुए भी वह प्रत्यक्षतः रंगमंच पर उपस्थित नहीं होते। कृष्ण के चरित्र में यहाँ युंग की 'सेल्फ' की धारणा का आभास दृष्टिगत होता है। युंग के मतानुसार मानव-मन की चार करण-शक्तियों में अवचेतन करण-शक्ति 'सेल्फ' के समीपस्थ है। विरोधी पक्ष की होते हुए भी गान्धारी इसी रूप में कृष्ण को आवेश में शाप देकर शान्ति का वरदान नहीं पा पाती तथा विलाप करती है *(पृ० १०१)*।

विकसित करण-शक्ति को और अन्य दो करण-शक्तियों को तुलनात्मक विवेचना की कसौटी पर परखा जाए तो विकसित करण-शक्ति अन्य दो करण-शक्तियों की अपेक्षा 'सेल्फ' के अधिक निकट होती है और इसी प्रकार धृतराष्ट्र के पक्षधर होकर भी संजय और विदुर कृष्ण के भक्त और अनुयायी हैं। पीछे हम कह आए हैं कि कृष्ण का चरित्र अन्य पात्रों की तुलना में सबसे अधिक रहस्यमय रेखाओं से बँधा हुआ है। कृष्ण मानव-मन की द्वैत-गतियों से मुक्त होने के कारण सुख-दु:ख दोनों को एक समान धरातल पर धारण कर सबकी वेदना भोगते हुए भी अनासक्त रहते हैं—

"अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं मरा हूँ करोड़ों बार
× × ×
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ।" *(पृ० १००)*

युग अपनी सेल्फ की धारणा को स्पष्टतः व्यंजित करता हुआ अपनी शब्दावली देता है—'सेल्फ आत्मचेतना का केवल मध्य बिन्दु ही नहीं है वरन् परिधि भी है जो चेतन और अचेतन दोनों को अपने में समेट लेता है। जिस प्रकार अहं चेतना का मूल बिन्दु है उसी प्रकार यह समग्र चेतना का बिन्दु है।[१] इसकी उपलब्धि अन्तर एवं बहिर्जगत के द्वन्द्वों की[२] परिपूर्ति 'काम्पनेशन' है। युंग के मतानुसार व्यक्ति की समग्रचेतना का अंतर्यतर केन्द्र-बिन्दु सेल्फ है जहाँ मानव-चेतना की अहं की द्वन्द्वशील प्रवृत्तियाँ अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखती हुई अपनी प्रतिस्पर्धी द्वन्द्वात्मकता को संयम की रेखाओं से बाँध कर

---

१. The Self is not only the mid-point but also the Circumference taking in the Conscious and the Unconscious; it is the Centre of Psychic totality, as the ego is the Centre of Consciousness.
(J Jacobi : The Psychology of the Jung : P. 123)

२ J Jung Integoration of Persohalties P 96

रखती हैं। इस प्रसंग की विवेचना में युंग की विचारधारा अत्यंत महत्व रखती है *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० १०५)*।

हमारे विश्लेषण के अनुसार कृष्ण सेल्फ के प्रतीक रूप हैं किन्तु उनका पार्थिव शरीर निःशेष हो जाता है। मानव-जीवन की द्वन्द्वशीलता की सीमाओं से मुक्त रहने वाले कृष्ण ने अपने अवसान के गर्भ में विलीन होने से पहले अन्तिम सन्देश में 'दायित्व' को शब्द-बद्ध किया है—

"मेरा दायित्व—वह स्थित रहेगा
हर मानव के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर···।"　　(पृ० १२७, १२८)

अश्वत्थामा की जिज्ञासामय प्रश्नाकूलता सिर उठाती है कि इस अर्थ में प्रत्येक विकृत, अर्ध-बर्बर, आत्मघाती तथा अनास्थामय व्यक्ति अपने जीवन की सार्थकता को आत्मसात् कर लेगा? कृष्ण के अन्तिम शब्दों के वाहक वृद्ध याचक का स्वर स्वीकारात्मक शीश झुकाता है *(सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० १०७)*। मानव-मर्यादा को अमर संजीवनी शक्ति प्रदान करनेवाले कृष्ण अपनी उन्मुक्त भौतिक सत्ता का परित्याग कर मानव मन के आन्तरिक वृत्त में प्रवेश कर जाते हैं। अतिमानवीय सम्भावनाओं की चेतना से पराभूत मानव अपने अन्तर्वृत्त से पूर्णतः परिचित होता है और इसी सीमा-रेखा पर आकर कृष्ण के पार्थिव शरीर की नाटकीय आवश्यकता अन्त शब्द से सम्बद्ध हो जाती है। मानव की अतिमानवीय सम्भाव्यता की चेतना इसी व्यापक सत्ता को निजी रूप से भारती ने उपलब्ध किया।

प्रस्तुत काव्य-रूपक में युयुत्सु का चरित्र सबसे दयनीय है। कवि ने एक ओर उसे सत्य का कर्म-कलश लेकर अन्याय के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में लड़ने वाले कर्त्तव्यशील योद्धा की संज्ञा से अलंकृत किया, दूसरी ओर उसे सत्य का आश्रय लेने के कारण अपराधी मान उसकी नियति को दारुण विडम्बना के तारों से उलझा दिया। उसके दुर्दैव ने सत्य के वक्ष को भी छलनी कर दिया जिसके कारण वह पीड़ा से कराह उठता है—

"मेरा अपराध है सिर्फ इतना
सत्य पर रहा मैं दृढ़···

×　　×　　×

मैं भी हूँ कौरव
पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से।"　　(पृ० ५३)

कौरव और पाण्डव-वंश के अतिरिक्त माता की उपेक्षा ने अन्ततः उसे अर्द्धविक्षिप्तता को न निकलने वाली भंवर में झोंक दिया। यह अवमानना इतनी प्रत्यक्ष थी कि युयुत्सु

सत्य के प्रति अपनी चरम अनास्था प्रकट करता हुआ दर्द की रेखाओं से बँध जाता है। उसके शब्द—

> **"अच्छा था यदि मैं**
> **कर लेता समझौता असत्य से।"** (पृ० ५६)

उसकी चरम विवशता को ध्वनित करते हैं। "आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु है। निश्चित परिपाटी से पृथक् होकर अपना पथ आप निर्धारित करने वाले इस चरित्र में आज के मानव की पीड़ा और यातना साकार हो उठी है" (जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटकों में चरित्र-सृष्टि, पृ० ९७)। उसकी आत्मा अपमान और उपेक्षा से आहत हो कराह उठती है। घायल आत्मा से निःसृत शब्द भी टूट कर बिखरते जान पड़ते हैं मानों उसकी पीड़ा को वहन करने में असमर्थ हों···

> **"···मातृवंचित हूँ, सबकी घृणा का पात्र हूँ।"** (पृ० १५९)

यह घृणा की कुहेलिका युयुत्सु को बुरी तरह जकड़कर तोड़ डालती है, उसके अस्तित्व के खण्डित अणु नदी में बहे पानी की भाँति बह जाते हैं। इस अवश परिस्थिति में वह आत्मघात के क्रूर मग में अपनी साँसों को बिखेर कर लम्बे सफर पर चल देता है। उसके अनुसार—

> **"अन्तिम परिणति में, दोनों जर्जर करते हैं**
> **पक्ष चाहे सत्य का हो, अथवा असत्य का।"** (पृ० ५७)

उपहास की दयनीय पीड़ित स्थिति में युगपुरुष कृष्ण की उदासीनता युयुत्सु की आस्था के स्वर्णिम सूर्य को अनास्था की गहन अन्धकारमय दिशा में अवसान कर देती है इसलिए कृष्ण के मरण के अवसर पर युयुत्सु के प्रेत को कृष्ण के कट्टर विरोधी के रूप में दिखाया गया। इस महिमामय मरण पर भी युयुत्सु की अनास्था की रेखाएँ धुँधली नहीं होतीं—

> **"जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को**
> **मरने का नाटक रचकर वह चाहता है**
> **बाँधना हमको···।"** (पृ० १२४)

युयुत्सु की प्रारम्भिक आस्था अन्त में खोटे सिक्के में बदल जाती है। यह अनास्थामय निराशा अधिक प्रभावशाली और झंझोड़ने वाली है। विश्लेषण की रेखाओं को अन्त में बाँधने पर यही कहेंगे कि युयुत्सु का चरित्र अनास्था के अधिक निकट है।

युधिष्ठिर का चरित्र दुर्बल रेखाओं से बँधा हुआ है। इच्छा रहते हुए भी भीम द्वारा युयुत्सु को अपमानित करने से न रोक पाना, कुटुम्ब पर वश न होना, प्रहरियों की कटुक्तियाँ आदि उसके निर्बल व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। युधिष्ठिर अपने परिजनों की चारित्रिक व्याख्या देता है जिसमें उसकी चरम हताशा, निराशा, दुश्चिन्ता के साथ-साथ सर्वव्यापी अन्धकार और ह्रास के संकेत छिपे हुए हैं (पृ० १०५)।

युद्ध के उपरान्त आत्मघात की मनोवृत्ति युधिष्ठिर को राज्य त्याग कर चले जाने को प्रेरित करती है उनकी विरक्ति एक सीमाबिन्दु को भी पार कर जाती है और

मानसिक अशान्ति के संघर्षों से आहत युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र आदि की मृत्यु का समाचार पा हिमालय के हिमाच्छादित शान्त रम्य स्थान पर तपश्चर्या करने की इच्छा प्रकट करते हैं। युधिष्ठिर का क्षोभ भी विकृत मनोवृत्तियों से ग्रसित समाज की ओर ही संकेत करता है। ह्रासोन्मुख समाज और कुटुम्ब की निम्न मनोवृत्तियों की जैसी सशक्त अभिव्यक्ति 'अन्धायुग' में चित्रित है वैसी अभिव्यक्ति 'जयभारत' तथा 'कुरुक्षेत्र' में नहीं उपलब्ध होती। 'कुरुक्षेत्र' और 'जयभारत' के युधिष्ठिर ने युद्ध की निस्सारता और अपनी भूल के प्रायश्चित को अधिक महत्व दिया है। 'अन्धायुग' में युद्ध के दुष्परिणामों से उत्पन्न आन्तरिक प्रतिक्रियाओं का संकेत अपेक्षाकृत अधिक है। 'जयभारत' के युधिष्ठिर एक ओर युद्ध की विनाशक लीला से विक्षुब्ध हैं तो दूसरी ओर बलराम द्वारा युद्ध की कटु आलोचना करने पर अपने को सर्वथा निर्दोष सिद्ध कर क्षात्र-धर्म को युद्ध होने का मूल कारण मानते हुए उसे उत्तरदायी ठहराते हैं—

"दोष नहीं मेरा यदि है तो क्षात्र-धर्म का
हम अपराधी क्षात्र-धर्म पालन के हैं।"

(मैथलीशरण गुप्त : जयभारत, पृ० ४०९)

'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर ने भी युद्ध की ताण्डव-लीला का द्वेष से उत्पन्न सम्पूर्ण देश के विनाश की बात को दृष्टिगत करते हुए कहा है—

"पाँच असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।"

(रामधारीसिंह 'दिनकर' : कुरुक्षेत्र, पृ० ६)

'अन्धायुग' में युद्ध के उपरान्त होनेवाली ह्रासोन्मुख मनोवृत्तियों की आलोचना द्वारा युद्ध की निस्सारता की ओर इंगित करते हुए युधिष्ठिर कहता है—

"ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्धसत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है......।" *(पृ० १०४)*

वस्तुतः युधिष्ठिर के चिन्तन को माध्यम बनाकर भारती ने जीवन-दर्शन की एक सुनिश्चित धारा को अभिव्यक्ति की रेखाओं से बाँधने का प्रयास किया है।

भारती ने वृद्धयाचक को मनस्वी चिन्तक के रूप में उपस्थित किया। वृद्धयाचक का आधा रूप प्रख्यात है और आधा रूप कल्पना के कोमल तन्तुओं से उत्पन्न। भारती ने अपने दृष्टिकोण को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से याचक भविष्य की कल्पना को रंग दिया है। डॉ० रामदरश मिश्र ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है—"वास्तव में वृद्धयाचक कवि की एक कल्पना है—यह और कोई नहीं, कौरवों के भीतर से उपजा हुआ भावी स्वप्न है जो द्वन्द्व में, लड़ाई में उनकी विजय देखता था लेकिन कौरव हार गए। उनका भविष्य उनका भावी स्वप्न क्षीणयाचक-सा असत्य सिद्ध होकर उन तक ही लौट

आया और फिर यहाँ मारा-मारा फिर रहा है। इस विषय ने अपने को वर्त्तमान से काट कर देखा, स्वप्न ने अपने को यथार्थ से विच्छिन्न करके देखा—इसलिए उसकी वाणी मिथ्या सिद्ध हुई'' *(हिन्दी कविता : तीन दशक, पृ० १६३)*। अन्त में कवि ने उसको 'जरा' नामक संज्ञा से विभूषित किया जो भागवत की रेखाओं से साम्य रखता है। प्रेत-शक्ति, मन्त्र-विद्या, मृत्यु के अनन्तर व्याध रूप में मंच पर उपस्थित करना कवि द्वारा प्रस्तुत अविश्वसनीय प्रसंग है किन्तु इस विषय में मतभेद नहीं होगा कि वृद्धयाचक के माध्यम से कवि ने अपने जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया, इसलिए वृद्धयाचक का विशिष्ट योगदान है। उद्धरण के लिए हम निम्नलिखित उक्ति को उद्धृत कर सकते हैं—

> **''नियति नहीं है पूर्व निर्धारित**
> **उसको हर क्षण मानव निर्णय बनाता मिटाता है।** *(पृ० २४)*

कल्पना की उर्वर शक्ति से रचित 'प्रहरी युग्म' को कवि ने क्रियाशील पात्रों में अवस्थित नहीं किया किन्तु तटस्थ द्रष्टा के रूप में समग्र घटना-क्रम के तारों को उन्होंने अपनी अनुभूतियों के साथ बड़ी गम्भीरता से गूँथा। वातावरण और परिवेश का प्रभाव व्यक्ति, समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। प्रहरी युग्म की कल्पना कर भारती ने इसी उद्देश्य की सिद्धि की। यथा 'अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे' *(पृ० २४)*? इसी कारण वे कहीं—'हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा क्योंकि नहीं थी अपनी कोई गहन आस्था' *(पृ० २६)* कहकर अपनी उदासीनता को वाणी देते हैं और कहीं 'सूने गलियारे-सा सूना यह जीवन बीत गया' *(पृ० २७)* कहकर अपने जीवन की घुटन और निरर्थकता से परिचालित अन्तर्द्वन्द्व को असन्तोष से लपेट कर क्षुब्ध होते हैं। प्रहरी-युग्म की कल्पना ने निश्चय ही आस्था-अनास्था, जीवन की सोद्देश्यता, मर्यादा और मूल्य के महत्त्व आदि के परिवेश में कवि के जीवन-दर्शन को सुदृढ़ और सशक्त अभिव्यक्ति में सहायता दी।

इन पात्रों के अतिरिक्त कृपाचार्य को द्रोणाचार्य की भाँति क्षत्रियोचित ओजदीप्त स्वभाव के रूप में अंकित किया गया है। युद्ध की विभीषिका का जीवित अभिशाप, अपंग गूँगा सैनिक जो हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। वह युद्ध की विडम्बना की साक्षात् यातना का, मानवता को एक घायल विक्षिप्त उपहार है। कृतवर्मा वीरोचित मर्यादा का निर्वाह करता है। व्यास, बलराम आदि प्रधान पात्रों के चरित्र-विकास में सहयोगी हैं किन्तु स्वयं में वे नगण्य हैं। प्रसिद्ध नाट्यलोचक श्री नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में—''इस नाटक के सभी पात्र मूल्यांधता के किसी-न-किसी स्तर, रूप या पक्ष के प्रतीक हैं। अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर कृपाचार्य, युयुत्सु, संजय, युधिष्ठिर तथा अन्य पाण्डव और अन्ततः स्वयं कृष्ण। प्रहरियों के रूप में जनसाधारण की कल्पित निर्लिप्तता भी उसी अन्धता का एक रूप है'' *(स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य, पृ० ७६)*।

समग्रत: विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि 'अन्धायुग' के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं इन प्रत[illegible] पात्रों का कवि ने रचना में सफलता से निर्वाह किया है ☐

रंगकौशल

नाटक की कसौटी मंच है। निर्विवाद रूप से नाटक को मंचित किए बिना उसकी भाव-सम्पदा का मूल्यांकन नहीं हो सकता। 'इसकी (नाट्य-पद्धति की) सजीवता रंगमच अनुष्ठान में है—अभिनेताओं में, रंगशिल्प में, निर्देशन में अर्थात् उस सामूहिक मनोवृत्ति तथा परिवेश में, जब यह दृश्यगत हो' *(लक्ष्मीनारायण लाल : मादा कैक्टस : भूमिका, पृ० 1)*। मंचीय निर्देशनों के विषय में भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की विचार-धारा प्राय: एक-सी रही है। किन्तु नाटक मंच पर तभी अभीनीत किया जा सकता है जब उसमें अभिनयात्मकता के सभी गुण विद्यमान हों। अर्थात् जनसामान्य और विकसित रंगमंचों पर नाटक का प्रदर्शन करने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। इसके लिए नाटककार को मंच को दृष्टिपथ में रखते हुए अनेक विधि-निषेध नियमों से निकलना पड़ता है तभी वह नाटक इस उपयुक्त होता है कि उसे सफलतापूर्वक मंच पर प्रस्तुत किया जा सके। धर्मवीर भारती ने अपने निबन्ध-संग्रह 'पश्यन्ती' मे लिखा है—"आज जब नाट्य-लेखन की समस्याओं पर विचार करने हम इकट्ठे हुए हैं, मुझे एक वयोवृद्ध नाटककार का आत्मीय भरा चेहरा याद आ रहा है—मामा वरेरकर का। जब कभी हिन्दी नाटक और रंगमंच की बात चलती, मामा बड़े दृढ़ स्वरो में कहते, "भाई जब तक हिन्दी नाटक खेले नही जाते तब तक अच्छे नाटक कैसे लिखे जाएँगे और खेलने के लिए कॉलेज-युनिवर्सिटी के छोकरों का अधकचरा रंगमंच था। बड़े-बड़े शहरों के चन्द पढ़े-लिखो का शौकिया रंगमंच से नाट्य-लेखक का सीधा सम्बन्ध जुड़े तभी ठीक नाटक रचना सम्भव है।'''नाटक लिखकर अपना और दूसरों का वक्त क्यो बरबाद करते हो? आप इससे सहमत हों या न हों, पर बात उनकी दो-टूक थी और जाहिरा तौर पर प्रसादजी की उस स्थापना से कि नाटक रंगमंच के अनुरूप नहीं वरन् रंगमंच नाटक के अनुरूप होना चाहिए, मामा वरेरकर की बात ज्यादा व्यावहारिक लगती है। नाटक तो लेखन की ऐसी विधा है जो दृश्य होकर ही सार्थक बन पाती है अन्यथा उसकी क्या सार्थकता" (पृ० 19)?

'अन्धायुग' की रचना भारती ने रंगमंच के लिए ही की, इस कारण रंगमंच ही उसकी रूप-अवधारणा का प्रेरक और नियामक बनकर हमारे समक्ष आता है। भारती ने 'अन्धायुग' के निर्देश में इस मत की पुष्टि की मूलत यह काव्य रंगमच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था यहाँ पर उसी मूल रूप में छापा जा रहा है लिखे जाने के

बाद उसका रेडियो-रूपान्तर भी प्रस्तुत हुआ, जिसके कारण इसके संवादों की लय ओर भाषा को माँजने मे काफी सहायता मिली। मैंने इस बात को भी ध्यान में रखा है कि मच-विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंचवाले लोक-नाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।"

काव्य-नाटक महत्त्वपूर्ण सम्भावना :

वस्तुत: 'अन्धायुग' ने प्रथम बार काव्य और नाटक के गहन आन्तरिक सम्बन्धो को उद्घाटित करने के साथ-साथ काव्य-नाटक के विकास के क्षेत्र में एक स्वस्थ और नवीन मोड उपस्थित किया। रंगमंच की समस्त विशेषताओं, काव्यत्व, नाटकत्व, जीवन से सम्बद्धता, प्रतीकात्मकता, कथा-संघठन, पात्रों के व्यक्तित्व के मार्मिक अंकन, गीत-सगीत, छन्द की नवीनता और लय, कथोपकथन की उचित संयोजना, कला की सोद्देश्यता आदि सभी मानदण्डों पर यह सशक्त तथा पूर्ण कृति है। 'अन्धायुग' ने हिन्दी नाटक ही नहीं हिन्दी रंगमंच को भी गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनो के अभिन्न सम्बन्ध को बड़ी तीव्रता से स्थापित किया है *(आलोचना : जुलाई-सितम्बर १९६७, पृ० ६७)*।

हिन्दी रंगमंच के समक्ष एक प्रमुख समस्या प्रश्न-चिह्न बनी रही है कि वहाँ कृति और रंगमंच के मध्य अस्तित्व की विभाजक रेखा खिंची रही है। विशेषत: उन नाटकों के लिए जो साहित्यिक-गरिमा को अपने अन्दर समाहित किए हुए होते हैं, वे रंगधर्मिता से वचित होते हैं किन्तु 'अन्धायुग' में काव्य के स्तर पर एक ओर गहन मानवीय सत्य को उपलब्ध किया गया तथा दूसरी ओर रंगमंच के स्तर पर एक नवीन मौलिक प्रयोगात्मक शैली को अन्वेषित किया गया।

'अन्धायुग' के मंच-विधान को भारती ने बहुत सरल बनाने का प्रयास किया है। लेखक स्वयं ही 'अन्धायुग' के मंचन के लिए पर्याप्त विस्तार से अपने मत की पुष्टि करते हुए निर्देश देता है—"समस्त कथावस्तु पाँच अकों में विभाजित है। बीच में अन्तराल के पहले दर्शकों को लम्बा मध्यान्तर दिया जा सकता है। मंच-विधान जटिल नहीं है। एक पर्दा पीछे स्थायी रहेगा। उसके आगे दो पर्दे रहेंगे। सामने का पर्दा अंक के प्रारम्भ मे उठेगा और अंक के अन्त तक उठा रहेगा। उस अवधि में एक ही अंक में जो दृश्य बदलते हैं उनमें बीच का पर्दा उठता-गिरता रहता है। बीच का और पीछे का पर्दा चित्रित नहीं होना चाहिए। मंच की सजावट कम-से-कम होनी चाहिए। प्रकाश-व्यवस्था मे अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए।"

लोक-नाट्य शैली का प्रभाव :

'अन्धायुग' में अंक-परिवर्त्तन अथवा दृश्यान्तर के लिए कथा-गायन की पद्धति को भारती

ने लोक-नाट्य से ही ग्रहीत किया। प्रहरियों के संवाद और उसकी नियोजना ग्रीक-नाट्य मंच और ग्रीक-शैली की याद दिलाते हैं। रंगमंच पर प्रकाश और पर्दों को लेकर उन्होंने जो स्फुट टिप्पणियाँ दी है उनमे उनकी अभिनेयता के प्रति जागरूकता का परिचय मिलता है। प्रसंगानुसार पीछे के पर्दों को प्रकाश अथवा अन्धकार में रखकर रंगधर्मिता की उपयुक्तता के लिए दोहरे पर 'ट्रांस्फर सीन' की व्यवस्था का आयोजन किया। एक ही अंक में पुनः-पुनः दृश्य-परिवर्तन की प्रक्रिया से 'अन्धायुग' में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता के लक्षण आ गए। उदाहरण के लिए चतुर्थ अंक को लिया जा सकता है जिसमे चार बार दृश्य-परिवर्तन हुआ जो अभिनय की गतिशीलता और स्वाभाविकता में बाधा उपस्थित करता है।

अभिनय की दृष्टि से 'अन्धायुग' का पट-परिवेश दीर्घ नहीं। मनोवेगों की घनीभूत अवधारणा होने पर भी इसे दोष की संज्ञा नहीं दी जा सकती और इसमें आवश्यकता से अधिक पात्रों की अधिकता भी नहीं और न ही आपस में उलझे हुए प्रासंगिक सूत्र हैं। इसके परिणामस्वरुप कुशल निर्देशक को दृश्य-विभाजन के क्रम को बदलने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होगा क्योंकि काल-सूचना अथवा स्थान निर्देश में निर्देशक के कौशल की अपेक्षा के अतिरिक्त उसकी दक्षता का परिचय अनिवार्य है। इस परिप्रेक्ष्य में यह कह देना संगत है कि इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'अन्धायुग' का दृश्य-विभाजन सर्वथा दोषों से स्वतन्त्र है। कुछ दृश्यों में ध्वनि-प्रभाव को माध्यम बनाकर रेडियो द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु मंच पर उनका अभिनय सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ हम कौरव-नगरी पर लाखों गिद्धों का उड़ना, दावाग्नि का फैलना आदि दृश्यों को लेकर अपने मत को पुष्ट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यात्मकला से बोझिल कुछ स्थल विशेष जो कार्य-व्यापार की क्षिप्र-गति और घनीभूत भावात्मकता से आक्रान्त होने के कारण दर्शक के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं और सर्वत्र उनकी बोध-सीमाओं में नहीं आ पाते किन्तु इस सम्बन्ध में हम अपना मत दे सकते है कि ऐसे विशेष स्थलो पर संवादों की दीर्घता न होने और कार्य-गति की क्षिप्र गतिशीलता से नाटकीय औत्सुक्य में श्रीवृद्धि होने के साथ-साथ प्रभावात्मकता बनी रही है। इस उलझन को सुलझाने के लिए कवि ने संवादों का आश्रय तो ग्रहण किया ही, एक-पात्री अभिनय का भी सफल संयोजन किया। अश्वत्थामा, वृद्धयाचक, युधिष्ठिर, संजय आदि पात्रों को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जा सकता है जिनकी उद्विग्न मनःस्थिति के आरोह-अवरोह, आलोड़न-विलोड़न को भारती ने मंच पर प्रसंगानुसार एकाकी चित्रित कर उनके आत्म-संवादों का आश्रय लिया जिन्होंने उनकी व्याकुल मनःस्थिति को भली-भाँति अभिव्यक्ति दी। उद्धरण के लिए भय और विकृति से युक्त रंगमंच पर धनुष मरोड़ते हुए अश्वत्थामा का आर्त्तनाद—"पुकारते हुए जाते हैं, दूर से उनकी ''' अन्धेरा''''''केवल एक प्रकाशवृत अश्वत्थामा पर, जो टूटा हुआ धनुष हाथ में लिए बैठा है—

"यह मेरा धनुष है
... ...
धनुष मरोड़ा है
गर्दन मरोड़ूँगा
छिप जाऊँ उस झाड़ी के पीछे।" *(पृ० ३३, ३४, ३५, ३६)*

इसी प्रकार पृष्ठ ४०, १०४, १०५, १२१ से अन्य उदाहरण लिए जा सकते हैं। इन मनःस्थितियों के क्षणों में जीना पात्रों के लिए कठिन हो जाता है किन्तु इस बात को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए कि अभिनय की सफलता का मेरुदण्ड निर्देशक और पात्रों पर ही आश्रित नहीं होता, वरन् नाट्य-वस्तु और नाट्य-शिल्प भी नाटक की सफलता की आधारभूमि होती है और यह भी आवश्यक नहीं कि सब नाटकों का अभिनय करने के लिए एक ही विधि को अपनाया जाए और वे एक ही ढंग से सफलता का आलिंगन कर लें। "नाटक के अभिनय में केवल निर्देशक और पात्रों की कला ही सब कुछ नहीं होती, नाटक का विषय, मूलभाव और शैली भी रंगमंच की प्रस्तुतिकरण विधि को प्रभावित करते हैं।" *(डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त : शोध और समीक्षा : पृ० ४९)* रंगमंच की कसौटी पर किसी कृति को अभिनय द्वारा परखने के लिए यह आवश्यक नहीं कि लेखक द्वारा निर्देशित सभी दृश्यों और रंग-संकेतों का यथावत् निर्वाह आवश्यक है— कृति के मूल उद्देश्य और उसके सार प्रभाव को बिना किंचित् हानि पहुँचाए निर्देशक उसको मंचित करने के लिए मंचानुसार यथोचित परिवर्त्तन कर सकता है, किन्तु इन परिवर्त्तनों को कृति के अभिनेय और अनभिनेय के लिए आधार मान लेना अज्ञानता का परिचय देना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में इस बात पर गम्भीर विचार अपेक्षित होता है कि क्या कृति-विशेष में अभिनय के सार्थक तत्त्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर उसे मंचित करने में सफलता पाई जा सकती है। जहाँ तक 'अन्धायुग' के अभिनय और मंचित करने का प्रश्न है इसमें कौरव-पाण्डव युद्ध के गहन-वातावरण और उससे उदित परिणामों को दृष्टिपथ में रखते हुए नवीन दृष्टिकोण और मौलिकता का आश्रय लेकर विश्लेषित मूल्यांकित किया गया है, अतः वस्तु-शिल्प पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह काव्य-नाटक प्रत्येक दृष्टि से रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है और यत्किंचित परिवर्त्तन करने के उपरान्त निर्देशक के कौशल और जागरूक सहयोग से इसके अभिनय को मंच पर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रंग-संकेतों की सार्थकता :

'अन्धायुग' में भारती ने पर्याप्त रंग-संकेत दिए हैं जो मंच पर अभिनय और रेडियो से प्रसारित होने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। प्रायः पात्रों की वेशभूषा के विषय में अधिक संकेत न देकर भी भारती ने रंग-संकेतों की योजना से पात्रों की उद्विग्न मनःस्थितियों चेष्टाओं और भाव भंगिमाओं को समझने में तो हैं ही किन्तु इन रंग

संकेतों से मंच को एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ है कि मंच की क्रियाशीलता को जीवित रखने में सहायक है। इसके प्रमाण के लिए उदाहरण के रूप में हम पात्रों की क्रियाओं को उद्धृत कर सकते हैं, जैसे—सहारा लेकर चलना, सैनिक का घिसटते हुए आना संकेत से पानी माँगना, हाँफना, आँख मूंदकर लेटे रहना इत्यादि (पृ० ४८, ४९)। इसी प्रकार उलूक और कौए से सम्बद्ध प्रासंगिक घटना को भारती ने दीर्घ रंग-संकेत के रूप में प्रस्तुत कर रोमांचकारी वातावरण उपस्थित कर दिया—"धीरे-धीरे स्टेज पर अन्धेरा होने लगता है। वन में सियारों का रोदन। पशुओं के भयानक स्वर बढ़ते हैं······एक प्रकाश अश्वत्थामा पर भी पड़ता है जो स्तब्ध कौतूहल से इस घटना को देख रहा है··· कौआ एक बार अलसायी करवट लेता है और उलूक को देखकर बिना ध्यान दिए सो जाता है। उलूक पहले सहम जाता है · फिर सहसा उस पर टूट पड़ता है। भयानक-रव, कोलाहल, चीत्कार। दोनों गुँथे रहते हैं। बिल्कुल अन्धकार। फिर प्रकाश। कौए के कुछ टूटे हुए पंख और उलूक के पंजे रक्त से लथपथ। उलूक उन पंखों को उठाकर नृत्य करता है। वधोल्लास का ताण्डव। एक प्रकाश अश्वत्थामा पर। सहसा उसकी मुखाकृति बदलती है और वह जोर से अट्टहास करता हुआ उसकी ओर बढ़ता है। उलूक कटे पंख उसकी ओर फेंककर भागता है। अश्वत्थामा कटा पंख हाथ में लेकर उल्लास में चीखता है' (पृ० ६८, ६९)।

कृति के प्रारम्भ में नर्तक के द्वारा नैपथ्य की उद्घोषणा के क्षणों में विभिन्न प्रकार की भाव-मुद्राओं को प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है कि भारती ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना का भी पर्याप्त ध्यान रखा है—"···नेपथ्य से उद्घोषणा तथा मंच पर नर्तक के द्वारा उपयुक्त भाव नाट्य का प्रदर्शन। शंख-ध्वनि के साथ··· उद्घोषणा के साथ-साथ उसकी मुद्राएँ बदलती जाती हैं" (पृ० ९)।

शिल्प-प्रयोग को सशक्त बनाने के लिए कवि ने शब्दों और वाक्यों के पुनर्पुन: प्रयोग का आश्रय लेकर जिज्ञासा कौतूहलवर्द्धक वातावरण को बनाए रखा। उदाहरण के लिए यहाँ पर हम गान्धारी की उक्ति को अंकित कर सकते हैं—

"फिर क्या हुआ ?
संजय ! फिर क्या हुआ ?" (पृ० ७९)

संवादों की मंचीयता :

'अन्धायुग' की अभिनेयता विषयक विचार-विश्लेषण में संवादों की सार्थकता और रंगधर्मिता को विश्लेषित करना भी आवश्यक एवं अपेक्षित प्रतीत होता है। भारती ने मनोवेगों और मन:स्थितियों की तीव्र व्यञ्जना की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए अल्प-विस्तार, वाक्य-विन्यास की संक्षिप्तता, प्रश्नवाचक उक्तियों, विस्मयादि बोधक वाक्यों आदि को माध्यम रूप में ग्रहण किया। कहना न होगा कि 'अन्धायुग' के संवाद गत्वर, प्राणवान् और अपने अन्दर सशक्तता को छिपाए हुए हैं। 'अन्धायुग' के पट-परिवेश में

व्याप्त सर्वत्र अनास्था, कुण्ठा, शोक और आक्रोश के अनुरूप ही कहीं तो संवाद संक्षिप्त होकर स्वाभाविकता का परिचय देते है और कहीं यही संवादों की संक्षिप्तता विशृंखल शब्द-विन्यास के रूप में अभिव्यक्त हुई है। कथोपकथन को सशक्तता और क्षमता प्रदान करने के लिए कवि ने कहीं तो शब्द-विशेष, शब्द-समूह अथवा पंक्ति-विशेष को आश्रय बनाया और कहीं सूक्ति गाम्भीर्य से भावाविष्ट उक्तियों का शृंगार किया तो कहीं अर्थ गर्भ मौन को मान दण्ड बनाकर कुछ विशेष स्थलों पर भावावेगों को तीव्र और सक्षम अभिव्यक्ति देने के लिए उक्तियों को अपूर्ण ही छोड़ दिया। अश्वत्थामा की पाण्डव-वंश को जड़ से निर्मूल कर देने की दृढ़ प्रतिज्ञा—

"हाँ, बिल्कुल वैसे ही
जब तक निर्मूल नहीं कर दूँगा
मैं पाण्डव-वंश को······।" (पृ० ६२)

और उसी के विषय में गान्धारी की छटपटाहट से भरी कलकती तीव्र जिज्ञासा—

"पत्थर की खानों से मणियाँ निकलती हैं
बाधा मत डालो विदुर
संजय फिर······।" (पृ० ८०)

आदि के प्रसग में '······' पद्धति का प्रयोग इसी शैली के उदाहरण माने जा सकते है।

संवादों में प्रखरता को वाणी देने के लिए भारती ने पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, आरोह-अवरोह, आलोड़न-विलोड़न अथवा अंत:संघर्ष के संकल्प-विकल्प को मूर्त्त रूप में अभिव्यक्ति देने की ओर भी उपयुक्त ध्यान देकर उनकी मन:स्थितियों को चित्रित करने की चेष्टा की। उदाहरण के रूप में विदुर द्वारा संजय के स्थान पर स्वयं एक स्थल पर युद्ध की सूचना देना—

"संजय नहीं, मुझसे सुनो···
···स्त्रियाँ जहाँ थीं वहीं कुचल गई
पाण्डव शिविरों में आग लगा दी।" (पृ० ८०)

इसी प्रकार गान्धारी और अश्वत्थामा के वचन-वैदग्ध्य को लिया जा सकता है। तीव्र व्यंग्य को अपने गर्भ में समेटे हुए इन पात्रों के संवाद ओजपूर्ण रंगमंच के उपयुक्त है। युद्ध के सूर्य के अस्त हो जाने पर कृतवर्मा का कौरवों की नियति पर तीव्र व्यंग्य, युद्ध से लौटने पर गान्धारी द्वारा युयुत्सु के मर्म को छलनी करने वाला कटु व्यंग्य से पूर्ण साधुवाद—

बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी थकी तो नहीं······
अपने बन्धुजनों का
वध करते-करते······?" (पृ० ५५, ५६)

विदुर और गान्धारी का व्यंग्य-वैदग्ध्य संवाद- चट्टानी यथार्थ पर जीवन जीने वाले

प्रहरियों की यथार्थ से प्रेरित व्यंग्य से भरपूर उक्तियाँ (पृ० १६, ४०, ८०, १०७, १०८) इत्यादि ऐसे प्रसंग हैं जिससे इस काव्य-रूपक के मंचित होने पर सफल एवं सजीव अभिनय में विश्वासपूर्वक सहायता मिलेगी।

पात्रों की मन.स्थिति के अनुकूल उठते-गिरते संवादों ने 'अन्धायुग' के अभिनय को सरल बनाया है जिससे कहीं पर एक रसता का दोष भी नहीं दिखाई पड़ता। उदाहरण के लिए भारती ने उद्‌बोधन, दार्शनिकता, कटुता आदि अभिव्यक्ति को वाणी देने के लिए जिन संवादों को सहायक बनाया है और इनके आधार पर प्रभाव-वैविध्य की योजना की है उससे ऐसा ही ध्वनित होता है। इस उद्देश्य की सफलता में संवादों के उत्तर-प्रत्युत्तर के स्वाभाविक क्रम ने भी अपनी सार्थक कड़ियाँ जोड़ी हैं। नाटकीय औत्सुक्य के विधान को सजीव और स्वाभाविक बनाने के लिए भारती ने पात्रों की स्वगत-उक्तियो, व्यास की आकाशवाणी, वृद्ध-याचक और युयुत्सु जैसे प्रेतात्मा-पात्रों के कल्पित संवादो का भी आश्रय ग्रहण किया और संवादों को माध्यम बनाकर कहीं-कहीं उन्होंने कथागति को तीव्र गतिशीलता प्रदान की।

इतना विचार-विश्लेषण करने के उपरान्त भाषा के विषय में भी चर्चा करनी आवश्यक है कि 'अन्धायुग' की भाषा इसके मंच पर अभिनय में कहाँ तक साधक है और कहाँ तक बाधा उपस्थित करेगी। वस्तुत: 'अन्धायुग' की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट अवश्य है किन्तु प्राय: सभी स्थलों पर व्यावहारिकता से सम्पुष्ट एवं सरलता और प्रवाहात्मकता को लिए हुए है। मंच पर अभिनय के लिए इसकी भाषा आवश्यकतानुसार लयात्मकता, आवेग-प्रवेग, आरोह-अवरोह आदि को अपनी क्रोड़ में समेटे हुए है जिसके कारण इसकी भाषा में पर्याप्त नाटकीय सघनता और स्तरानुरूप साहित्यिक गुण विद्यमान हैं।

भारती ने अपने निबन्ध-संग्रह 'पश्यन्ती' में 'अन्धायुग' के सफल रेडियो-रूपान्तर और इसकी सफल मंचीयता के विषय में विस्तृत और ठोस चर्चा की। उन्होंने लिखा—'अन्धायुग' की मूल पाण्डुलिपि समस्त मंच-संकेतों के साथ दृश्यकाव्य के रूप मे ही लिखी गयी थी। आकाशवाणी के उपयुक्त वह हो सकती है इसका दूर-दूर तक ख्याल नही था। एक दिन जब श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रस्तावित किया कि इसे वे आकाशवाणी पर प्रस्तुत करना चाहते हैं और स्वयं इसका निर्देशन करेंगे तो मुझे आश्चर्य हुआ···जिस दिन रेडियो पर पहली बार 'अन्धायुग' प्रसारित हुआ, तमाम लोग रेडियो खोले बैठे थे और मैं अपनी साइकिल लिए अंधेरी सड़कों पर भटक रहा था। मेरी हिम्मत नहीं थी कि मैं उसका प्रसारण सुनूँ। अगर कहीं नितान्त असफल हुआ तो ? जिन पात्रों और प्रसगों और संवादों को मैंने···लेकिन साढ़े-ग्यारह बजे रात को पता चला कि 'अन्धायुग' अप्रत्याशित रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।···दूसरे दिन गोपालदास जी के कमरे मे बैठकर पूरा रेकॉर्डेड टेप सुना और उस ध्वनि-नाट्य का अश्वत्थामा सारी घृणा को एक नया आयाम देता हुआ लगा। अश्वत्थामा की आवाज···अपने सधे, गम्भीर, संयमित कंपन वाले स्वर के द्वारा गोपालदास ने ——— की घृणा की जो व्याख्या प्रस्तुत की

थी उससे लगा कि अगर अनासक्त युद्ध के दार्शनिक कृष्ण है तो अनासक्त विक्षोभ का प्रणेता अश्वत्थामा है'' (पृ० १३, १४, १५)।

ध्वनि या टोन का प्रसंगानुकूल उठना-गिरना 'अन्धायुग' की अभिनयात्मक सफलता का एक मुख्य आधार है, यह स्वत: सिद्ध है ही कि रेडियो से अभिनीत होने वाले नाटक के लिए ध्वनि या टोन [illegible]धिक महत्त्व की वस्तु होती है। 'अन्धायुग' की मंचीयता के सम्बन्ध में भारती अप[illegible] [illegible]ार व्यक्त करते हैं''''''और वर्षों बाद की बात। अल्काजी के खुली छत वाले मंच पर सत्यदेव दूबे द्वारा 'अन्धायुग' का बिल्कुल नये ढंग से प्रस्तुतिकरण। छत पर अन्धेरा है, दर्शक सीढ़ीनुमा सीटों पर खामोश बैठे हैं और बहुत हलके आलोक में एक पेड़ के सूखे तने के पास एक काँपता हुआ तीखी झकोर वाला प्रबल स्वर—मैं क्या करूँगा ? हाय मैं क्या करूँगा ? वर्त्तमान को जिसमें मैं हूँ और मेरी प्रतिहिसा है ? और अश्वत्थामा का यह मर्मस्पर्शी स्वर दर्शकों को झकझोर जाता है। और एक के बाद एक प्रसंग—टूटे हुए धनुष के पास बैठा हुआ अश्वत्थामा, वृद्धयाचक की हत्या-प्रयास के बाद उसका कृपाचार्य से पूछना, ''मैंने क्या किया मातुल ?''''नाटक समाप्त होने के बाद भी जैसे अश्वत्थामा के संवाद अन्धेरे में प्रेत की तरह चीत्कार करते छूट जाते हैं'''(पृ० १५)।

'अन्धायुग' की इस मंचीय सफलता ने दर्शकों को इस सीमा तक अभिभूत कर लिया था कि दो वर्ष बाद थियेटर युनिट ने उसे पुन: मंचित किया। डॉ० भारती के शब्दो मे—''दो वर्ष बाद जब थियेटर युनिट ने पुन: 'अन्धायुग' के प्रस्तुतिकरण की तैयारी शुरू की'''अश्वत्थामा मंच पर आया तो वह अन्दर से बेहद भरा हुआ था, इस कदर लगता था कि सवाद के शब्द उसके लिए यथेष्ट नहीं पड़ रहे और कथ्य इस कदर तेज''' सारी खीज, विक्षोभ, घृणा, तैश और छटपटाहट एक अन्याय-पीड़ित पात्र की ही नही, एक बहुत अनुत्तरित प्रश्न की है'''(पृ० १५, १६)।

'अन्धायुग' की मंचीय सफलता के मूल्यांकन में हम पुन: अपने मत को पुष्ट करने के लिए विद्वानों के विचार उद्धृत कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में श्री देवन्द्र इस्सर का कथन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने लिखा—''सन् १९६३ में दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खण्डहर और प्रकृति के मिले-जुले प्रभाव से रचित रगमंच पर जब 'अन्धायुग' प्रदर्शित किया गया तो यह आशा प्रबल हो उठी कि शायद हिन्दी में आधुनिक नाटक का सूत्रपात हो उठा है। नाटक कुछ वर्ष पूर्व तक पाठ्य-पुस्तक के पृष्ठों में ही बन्द रहा और किसी हद तक अब भी है। नाटक का अर्थ अधिकतर एकांकी ही रहा है या रेडियो द्वारा प्रसारित नाटक, जिनमें थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करके उन्हें रंगमंच के लिए उपयुक्त बना दिया जाता था। एक सुदृढ़ और सुसंगठित व्यवसायी अथवा अव्यवसायी रंगमंच के अभाव में ऐसे नाटक अधिकतर स्कूलों और कॉलिजों के मचों पर ही खेले जाते थे या कोई मण्डली शौकिया तौर पर उनका प्रयोग कर लेती थी। कुछ बड़े नगरों को छोड़कर उस स्थिति मे अब तक भी कोई मूलभूत परिवर्त्तन या सुधार नहीं हुआ है। फिर भी धर्मवीर भारती

के 'अन्धायुग' से मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' तक हिन्दी नाटक के विकास की नवीन सम्भावनाओं को इंगित करता है'' *(आजकल : जनवरी १९७१, पृ० २३)*। अभिनयात्मक सफलता के कारण ही श्रीकृष्ण सिहल ने 'अन्धायुग' को 'हिन्दी व गीति-नाट्य साहित्य की एक विशिष्ट कृति' बताया है। यहाँ तक आने के बाद एक बार पुनः हम डॉ० भारती के निबन्ध-संग्रह 'पश्यन्ती' की ओर मुड़ते हैं। भारती के ही शब्दों में—''… हिन्दी के गम्भीर नाट्य-लेखन पर अन-अभिनेयता के व्यापक आरोप को खण्डित किया और जैसे अल्काज़ी के 'अन्धायुग' के प्रदर्शन पर उत्साहित होकर हमारे लगभग एकमात्र जागरूक आधुनिक नाट्य समीक्षक सुरेश अवस्थी ने लिखा था : ''यह आशा लगने लगी कि एक दिन प्रसाद के नाटकों को भी उचित संशोधन के साथ रंगमंच पर लाने का सफल प्रयास कोई कर सकेगा'' *(पृ० ११४)*।

उपरोक्त परिशीलन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि लेखक ने 'अन्धायुग' को अभिनय और मंच पर मंचित करने की दृष्टि को लेकर ही बड़े मनोयोग से इसकी रचना की और इसकी अभिनेयता संदिग्ध नहीं है क्योंकि इसका सफल अभिनय और मंचन हो चुका है। 'अन्धायुग' जैसे नाटकों की परम्परा की विकास-प्रक्रिया के अंकुर अभी हिन्दी में फूटे ही हैं किन्तु 'अन्धायुग' के सफल रेडियो-रूपान्तर और मंचाभिनय ने निस्सन्देह ऐसी कृतियों के लिए एक बाधा रहित मार्ग प्रशस्त करते हुए उनकी प्राणवत्ता को सहज ही सिद्ध कर दिया है।

□

प्रतीक विधान

नयी कविता की प्रतीक-चेतना :

नयी कविता की मूलचेतना उस स्थिति विशेष से सम्बद्ध है जब काव्य की भाषा निरन्तर संकुचित होती हुई सीमा को विच्छिन्न कर युगीन-परिवेश से उत्पन्न नूतन-सौन्दर्य-बोध तथा संवेदना की निस्संग और अप्रत्याशित अभिव्यञ्जना चाहती है। शब्दो की प्रचलित सामान्य अर्थवत्ता जब कवि को युग-बोध से दूर ले जाकर उसकी अनुभूति मे बाधा उपस्थित करती है तब वह अपने सार्थक-अनुभव क्षणो की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए पुरानी भाषा की केंचुली को उतारकर नवीन कणों से नयी भाषा का निर्माण करता है। भाषा की इस निर्माण-प्रक्रिया में भाषा-विशिष्ट प्रतीक-धर्मी होकर कवि की अनुभूति को अधिक सघनता और तीव्रता से अभिव्यक्त करती है।

प्रतीक : नये अर्थ की सम्भावना का कलात्मक उपकरण :

प्रतीक : नए अर्थ की सम्भावना का कलात्मक उपकरण है (द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, *अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ६५*)। अज्ञेय का विचार है कि काव्य-साहित्य में 'कम से कम शब्दों द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियों का उद्भावन' (*आत्मनेपद*) अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वस्तुत: यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि जिस कविता में अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापक अर्थ की सम्भावना निहित रहती है वह प्रतीकात्मक होती है।

डॉ० भारती ने अपनी विचारधारा को 'मानव, मूल्य और साहित्य' में अभिव्यक्त करते हुए लिखा—"साहित्य की महत्ता और सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतर कर हमारी वृत्तियों का सस्कार करता है, उन्हें एक उदात्त सामाजिकता प्रदान करता है। वह चाहे किसी भी सकीर्ण मतवाद का प्रचार करे या न करे, वह किसी तात्कालिक समस्या का समाधान दे या न दे किन्तु यदि उसमें यह शक्ति है कि वह हमारी वृत्तियों को संस्कृत बनाता है तो वह साहित्य कल्याणकारी है······बाह्य घटनाओं की अपेक्षा साहित्यकार का ध्यान सामाजिक-व्यवस्था द्वारा उद्भूत जटिल रागात्मक स्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाली विषमताओं, विकृतियो तथा असन्तुलन पर केंद्रित रहता है और वह उन्ही का परिहार एवं परिष्कार करता

है। कभी वह उसके लिए तात्कालिक नाम, स्थिति और पृष्ठभूमि ग्रहण करता है, कभी वह उसी को पौराणिक और काल्पनिक देशकाल और पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, कभी वह उसके लिए अप्रस्तुत प्रतीकों और संकेतों का आश्रय लेता है। साहित्यकार अपने स्तर पर, अपने ढंग से संस्कृति की विराट्-प्रक्रिया में योग देता है। रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध उसके माध्यम हैं और युग, काल एवं स्थितियों के अनुसार जैसी भी जटिलताएँ होती हैं, वैसी ही सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष रीति से वह अपना कार्य करता है'' *(मानव मूल्य और साहित्य)*।

'अन्धायुग' की रचना कर डॉ० भारती ने साहित्यकार के दायित्व की कसौटी को अक्षुण्ण रखा। उन्होंने पौराणिक कथा और प्रतीकों को माध्यम बनाकर आज के समाज में व्याप्त कुण्ठा, निराशा, विकृतियों की ऐंठन और टूटन, विषमताओं से उत्पन्न व्यक्तित्व को विघटित करती मनोवृत्तियाँ, असामाजिक स्थितियों के चरम-त्रास, द्वन्द्व और असन्तुलन आदि को चित्रित कर उसके परिहार-परिष्कार को रूपायित करने की चेष्टा की जिसमें प्रतीकों के माध्यम से युग-सत्य को प्रस्तुत किया गया है।

'अन्धायुग' नाटक की प्रतीकात्मकता को व्यंजित करने के लिए भारती ने कथा-गायन को माध्यम बनाया। उन्होंने नाटक के अन्त में लिखा—

> **''उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जग पर**
> **बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है**
> **हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं**
> × × ×
> **मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता**
> **अन्धे संशय, दासता पराजय से।''** (पृ० १३०)

प्रतीकात्मक नामकरण की सार्थकता :

नाटक का नाम 'अन्धायुग' प्रतीकात्मक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के लोमहर्षक परिणामों ने राजनीति और साहित्य के आकाश को अन्धकार से आच्छादित कर दिया, विशेषत पश्चिम के साहित्याकाश को द्वितीय महायुद्ध ने ग्रस लिया जिसका प्रतीक यह 'अन्धायुग' बना *(द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ६८)*।

द्वितीय विश्वयुद्ध के ताण्डव नृत्य ने पश्चिम में ही नहीं भारत में भी संकट की स्थिति को उत्पन्न कर दिया। डॉ० भारती ने अंकित किया—''ज्यों ही संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया त्यों ही यह ऊपरी भव्यता और प्रभामण्डल अकस्मात् निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थिति के अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट ही दीखने लगा। इस प्रभामण्डल (नैतिकता के प्रभामण्डल) के फीके पड़ने के चिह्न तो सन् ३९ के ही लगभग दिखाई पड़ रहे थे। जब पहली बार राष्ट्रीय मन्त्रीमण्डल बने उस समय भी महसूस किया जाने लगा था कि राष्ट्रीय मन्त्रीमण्डल पुरानी तौर

तरीके में अपने को ढाल रहे हैं और उन्हीं को उचित साबित करने की कोशिश में लगे हैं। यह सब हालाँकि बुरा है पर बर्दाश्त किया जा सकता है पर उससे भी बुरा यह है कि इतनी मेहनत से हमने जो जनता के दिल में ऊँची पोजीशन बनाई है उसे हम धीरे-धीरे खोने जा रहे हैं। हम पेशेवर राजनीतिज्ञों के स्तर पर उतार दिए गए हैं'' *(सन् १९३९ मे गाँधीजी के नाम लिखे गए नेहरूजी के एक पत्र मे)*।

आज भी भारत में शासन सत्ता कुछ अनोखे ही रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रही है। इस प्रकार संकट की स्थिति से तमराच्छादित और अनिश्चय की स्थिति सभी घनघोर घटाओं से दोलायमान आज क्या देश, क्या विदेश, साहित्य, राजनीति का प्रतीक है, 'अन्धायुग'।

'अन्धायुग' की उद्घोषणा में इसी तथ्य को परिलक्षित किया गया। (पृ० १०)

आज के जटिल जीवन में मनुष्य इसी तरह जी रहा है। उसकी अन्तरात्मा, मनोवृत्ति, चरमत्रास और द्वन्द्व में परिणति पाती है, उसकी आत्मा जर्जर विकृत हो गई है *(पृ० १०)*।

इस प्रकार महाभारत का 'अन्धायुग' स्वतः ही आज के पश्चिम और भारतीय साहित्य तथा राजनीतिक विषमता के प्रतीक का मूर्त्त रूप धारण कर लेता है।

कथात्मक प्रतीकात्मकता :

दृश्य-काव्यकार के अनुसार इस कृति में अन्धों को माध्यम बनाकर युग-ज्योति की कथा कही गई है। इसकी नाट्यवस्तु महाभारत के विनाशक भयंकर नरसंहारक युद्ध के उत्तरार्ध की कथा को लेकर नाटककार ने युद्धोत्तर स्थिति के लोमहर्षक दुष्परिणामों के परिप्रेक्ष्य में अनेक व्यापक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। मानसिक संत्रास, द्वन्द्व, अनाचार, अमर्यादा, टूटन-विघटन और अनास्था से युक्त वह सम्पूर्ण युग ही अन्धत्व से शापित था, ग्रसित था। मात्र कृष्ण ही वह व्यक्ति थे जो अपनी प्रबुद्धता और युगचेतना से, विकृतियों से उलझी मर्यादा की पतली डोरी को सुलझा सकते थे। चिन्तन और संघर्ष के उपरान्त भी इस कृति में घटनाओं की विभिन्नता नहीं है। दुर्योधन की पराजय, युधिष्ठिर के अर्द्धसत्य से द्रोण की अमानुषिक हत्या और उससे उत्पन्न अश्वत्थामा की विकृत मनोग्रन्थियाँ, भीम और दुर्योधन का अन्तिम निर्णायक युद्ध, दारुण प्रतिहिंसा से पीड़ित अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का हनन, युयुत्सु का आत्महत्या की क्रोड में विश्रान्ति पाना, कृष्ण-गान्धारी वार्त्तालाप तथा कृष्ण की मृत्यु आदि घटनाएँ एक के बाद एक अपना क्रम बनाती चली जाती हैं और पाठक या दर्शक इस प्रवाह में निमग्न होता चला जाता है। ''सम्पूर्ण कथानक की बनावट कुछ इस प्रकार की गई है कि वह बराबर एकतान और गतिशील रहता है'' *(श्रीकृष्ण सिहल : हिन्दी गीति-नाट्य)*।

सम्पूर्ण 'अन्धायुग' की कथा में तृतीय महासमर की पाशविक विभीषिका से आतंकित त्रस्त मानवता को 'अन्धेयुग' के महासमर रूपी दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब

दिखलाई पड़ता है। 'अन्धायुग' की कलात्मक अन्विति और गतिशीलता में लक्ष्य को बेधने का निरन्तर वेग ही नहीं, प्रतीकात्मकता का सशक्त व प्रखर आग्रह भी है। समासत: कथाशिल्प की दृष्टि से अन्धायुग उत्कृष्ट कृति है। 'अन्धायुग' की कथा प्रत्येक महासमर के उपरान्त किसी भी युद्ध संस्कृति, अमानवीय विघटित विकृत मूल्यों, विकलांग, कुण्ठित और जीर्ण-शीर्ण, क्षत-विक्षत घायल तन-मन की कथा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

पात्रों की प्रतीकात्मक स्थिति :

'अन्धायुग' का सबसे सशक्त पात्र अश्वत्थामा है। साहित्यिक क्षेत्र में नीत्शे और सार्त्र आदि ने जिस मनुष्य की कल्पना की—अश्वत्थामा उसी का प्रतीक है और राजनीतिक क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित युद्धवादियों, प्रतिहिंसक, पशुत्व और न्यूराटिक युद्ध लिप्सा तथा महाभारत युग का व्यक्ति विशेष न होकर उस सम्पूर्ण वर्ग का प्रतीक है जिसकी आत्मा ने युद्ध के संत्रास को प्रत्यक्ष झेलकर अचिन्त्य वेदना झेली है।

अश्वत्थामा को हम नाजीवादी भावना का प्रतीक भी मान सकते हैं जो मनुष्य के यथार्थ को मान्यता नहीं देता, वह किसी भी यथार्थ, व्यक्ति, देश को पदाक्रान्त कर दलित कर सकता है किन्तु इस प्रक्रिया में उसे आत्मसात् नहीं कर सकता क्योंकि विघटित और श्रमहीन होने के कारण उसे विनष्ट करने का प्रयास करता है। अश्वत्थामा एक ओर पूँजीवाद के दुष्परिणामों से आक्रान्त क्रूर-हिंसक पाशविकता का भी प्रतीक है और दूसरी ओर जाँ पाल सार्त्र के नास्तिक अस्तित्ववाद का भी *(द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ७१)*। अश्वत्थामा मरणोन्मुख संस्कृति का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है।

भँवर के वक्ष पर विचलित, डूबते हुए अन्धे धृतराष्ट्र की मरणोन्मुख संस्कृति के पोत का अश्वत्थामा सशक्त पक्षधर है। दुर्भिसन्धि और षड्यन्त्रों से परिचालित युद्ध में पिता की क्रूर हत्या से अश्वत्थामा का अहं और स्वाभिमान कराह उठता है, उसकी विद्रोही आत्मा उसे पशु का रूप धारण करने को विवश कर देती है। अश्वत्थामा के रोम-रोम में पीड़ा अंगड़ाइयाँ लेती है। वह बार-बार पीड़ित होता है—

> **"एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के**
> **मेरे भविष्य की हत्या कर डाली।"** (पृ० ४२)

कोमलतम भावों की भ्रूण-हत्या हो जाने पर केवल मात्र वध उसका धर्म बन जाता है, उसके रोम-रोम से प्रतिहिंसा के विकृत स्वर झंकारते हैं। मानसिक विकृति ने उसे जर्जर और विक्षिप्त बना दिया है। उसका मानस-पट पीड़ा और क्षोभ से कुण्ठित है, उसके मन में ग्लानि, क्षोभ, पीड़ा, निराशा, कुण्ठा आदि मनोग्रन्थियों की सुरंगें बिछी हुई हैं *(द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ७२)*। वह अपनी पराजय और पिता की अमानुषिक क्रूर हत्या से प्रक्षिप्त होकर मानसिक रोगी

बन गया है यहाँ आकर अश्वत्थामा आज के आधुनिक मानव का प्रतीक बन जाता है यही मनोवैज्ञानिक स्थिति आज के मानव की है। आज ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि मनुष्य के अन्दर पशुत्व उभर आया है। आधुनिक और युद्ध की परिस्थितियाँ आदमी को अन्दर से ठेलकर, मनुष्यता को समाप्त कर, पंगु और कितना बर्बर बना देती हैं और मानव की मानसिक अवस्था विकृत होकर कोढ़ी बन जाती है जिससे सम्पूर्ण समाज विक्षिप्तावस्था में जीने के लिए विवश हो जाता है जिसके दुष्परिणाम मनुष्य को अश्वत्थामा की भाँति पशुत्व में परिवर्तित कर देते हैं। उपरोक्त स्थल पर भारती ने युद्ध के परिप्रेक्ष्य में आज की आधुनिक परिस्थितियों का चित्रण कर इसी विकृति और टूटन की कल्पना की।

युद्ध की विभीषिका और पिता की छलयुक्त क्रूर हत्या से अश्वत्थामा इस सीमा तक विवेक खो कर मानसिक ग्रन्थियों से लिपट बैठता है कि उसके लिए कोई नीति, नियम स्थिर नहीं रहते और उसकी मानसिक अवस्था जर्जर और खण्डित हो जाती है। वह किसी की भी हत्या करने को उद्यत रहता है (द्रष्टव्य : *सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि*, पृ० ७३)। प्रतिहिंसा और पागलपन से परिचालित अश्वत्थामा की मनो-वृत्तियाँ उसे प्रतिशोध के दारूण और क्रूर कर्म की ओर प्रेरित करती हैं और वह भविष्य की हत्या कर डालता है, उसकी नस-नस में, शिराओं में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध का ताजा रक्त प्रवाहित रहता है। उसके तन की कोमल स्नायुओं तक में 'अन्धायुग' बैठा हुआ है जिसका परिणाम केवल मनोवृत्तियों को विगलित करना ही है।

संजय तटस्थ, निर्भीक, विवेकशील शिल्पी का प्रतीक होने के साथ-साथ निरपेक्ष सत्य और बुद्धिवादी उस मानव का प्रतीक भी है जो इन अन्धों की अविवेकी साम्राज्यवाद की चक्रव्यूही नगरी में भटककर भी त्राण नहीं पाता और निरन्तर मोह निशा के भँवर मे झूलता कण्टकित पथ में भटकता फिरता है। संजय जहाँ महाभारत का ऐतिहासिक पात्र है वहीं आधुनिक मानव का प्रतीक भी है—उस मानव का जो सचेत है, विवेकशील है, तटस्थ है। यह एकमात्र पात्र जो तटस्थ, सचेतन एवं विवेकशील है जो मर्यादा, नैतिकता एवं सत्य को खण्डित होते हुए देखता है, जो तटस्थ होकर भी भटक रहा है अन्धेरे मे छटपटा रहा है (द्रष्टव्य : *सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि*, पृ० ७४, ७५)।

संजय निरन्तर युगीन परिस्थितियों से ऐंठा हुआ विडम्बनाओं और विसंगतियों की भँवर में गोते खाता है। उसकी मर्म को छूने वाली विडम्बना यह है कि न तो वह इन परिस्थितियों पर विजय की मुद्रा ही अंकित कर सकता है और न ही इनसे पलायन कर विश्राम पा सकता है। वह निरन्तर वैचारिक और सांस्कृतिक संघर्षों के चट्टानी पाटों के मध्य विवशता से पिसकर अपनी आत्मा को कुण्ठित करता रहता है। भारती ने यहाँ शोभाचक्र (पृ० ७०) के सार्थक प्रतीक से आज के खण्डित मानव व्यक्तित्व की निरर्थकता

को साकार किया।" *(द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ७५)*।

आज के युग में कवि भी संजय की भाँति मानसिक यातना में जीता है, छटपटाता है। उसकी यातना चरम पीड़ा बन जाती है कि वह अन्धों से किस प्रकार सत्य कहे। अपनी असहृदयता के कारण वह प्रकारान्तर से युद्ध के एक सार्वकालिक सत्य की ओर इंगित करता है कि युद्ध का मूल कारण अतिशय अन्धी ममता है जिसकी गुंजलिका मे बुरी तरह जकड़ा हुआ शासक सामाजिक यथार्थ को उपेक्षित कर देता है।

सत्य की त्रासदी का जीता-जागता प्रतीक रूप है युयुत्सु ! उसकी आत्मा सत्य की ज्योति का आलिंगन करना चाहती थी इसलिए वह पाण्डवों को सत्य का पक्षधर समझ कर उन्हीं का पक्ष लेता है। जीवन में सत्य को सर्वोपरि मानकर पालन करने वाले युयुत्सु को इसका दण्ड उपेक्षा में मिलता है। उसको सब ओर से उपेक्षा मिलती है और उसकी आस्था के मानदण्ड कृष्ण शापग्रस्त हो जाते हैं। सबकी उपेक्षा और मर्मान्तक अपमान उसकी आत्मा को छलनी कर देते हैं और वह अनास्था से ऊबकर आत्महत्या की क्रोड़ में विश्रान्ति ले लेता है।

'भारती' ने युयुत्सु के सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या बहुत ही सटीक प्रतीकात्मक चित्र द्वारा प्रस्तुत की है। युयुत्सु का यह प्रतीकात्मक चित्रण कवि-कौशल की उपलब्धि है—

> **"मैं हूँ युयुत्सु**
> **मैं उस पहिये की तरह हूँ**
> **जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा रहा**
> **पर जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था**
> **और मैं अपनी इस धुरी से उतर गया हूँ।"** *(पृ० ७४)*

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र अन्धी शक्ति उपासना और नेतृत्व वर्ग की साम्राज्य विस्तार-वादी सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिपत्य की संकीर्ण और स्वार्थ भावना के प्रतीक हैं *(द्रष्टव्य : सुरेश गौतम, अन्धायुग : एक सृजनात्मक उपलब्धि, पृ० ७६)*। धृतराष्ट्र युग के अन्धत्व के साथ-साथ अन्धे शासक के प्रतीक भी हैं। धृतराष्ट्र ने अन्धे होने पर भी पूरे युग पर अपना शासन-चक्र चलाया। उनकी ममता अविवेक से लिपटी हुई थी। उनके चक्षुपटल पर ममता के कारण अविवेक का अन्धकार छाया हुआ था जिसके परिणाम-स्वरूप वह कुछ भी देखने में असमर्थ थे *(पृ० १५)*। और जब अविवेक की परिणति विनाश में हुई तब यही विनाश उसके बाह्य यथार्थ जगत् के बोध का माध्यम बना किन्तु उस अन्धे शासक की यह विडम्बना है कि उसे यह ज्ञान और विवेक का बोध उसके लिए दृढ़ता के स्थान पर भय उत्पन्न करता है। महाभारत युग का शासन सत्तान्ध व्यक्तियों द्वारा चलाया जा रहा था जो विवेक और मर्यादा को देख नहीं पा रहे थे। इस प्रकार यह पंक्तियाँ *(पृ० १७)* प्रतीकधर्मी बनकर जहाँ महाभारतकालीन अविवेक, खण्डित मर्यादा एवं अन्धत्व को व्यक्त करती हैं वही आज के विश्वयुगीन अविवेक को भी जो

मानवता को कुचलने के लिए सिद्धान्तों का कुचक्र चलाती हैं। इस प्रकार महाभारत की यह पीड़ा आधुनिक मानव की पीड़ा को भी उद्घाटित करती है। युधिष्ठिर नेतृत्व वर्ग के साथ-साथ पेशेवर राजनीतिज्ञ के भी प्रतीक हैं। उनकी शासन-व्यवस्था में प्रजा (जनता) सुखी नहीं है और न ही पूर्व की शासन-व्यवस्था में सुखी थी। युधिष्ठिर उस मनुष्य के प्रतीक हैं जो विजय की उल्लासमयी पीड़ा में अन्दर कहीं से खोखले हैं, बर्फ की तरह गल रहे हैं। उन्हें ऐसा लगता है मानों यह युद्ध, यह विजय के क्षण उनकी अन्तरात्मा को विघटित और उनका मर्मान्तक उपहास कर उनके व्यक्तित्व-अस्तित्व को क्षार कर खण्ड-खण्ड कर रहे हैं मानों उनका विराट् सत्य घायल होकर आहत साँसे ले रहा है। विजित वर्ग होने पर भी अपने आप में असन्तुष्ट हैं।

'अन्ध युग' का वृद्ध याचक लेखक के दृष्टिकोण को समर्थ वाणी देने में सक्षम है। वह लेखक की विचारधारा का मूर्धन्य प्रतीक है। वह मानव-भविष्य को शिवं मे अलंकृत करने का उपदेश देता है। लेखक की दृष्टि कोरे भविष्य के कथन-मात्र से ही नहीं लिपटी रही। वर्तमान क्षणों में नूतन सर्जना को भी महत्त्व देती है। भारती की यह विचारधारा स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती है *(अन्धायुग : पृ० २४)*। भारती प्रगतिशील साहित्यकार है और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को पूर्णतः निभाया है। अन्त में वह विश्व के समक्ष मानव-मूल्य के रूप में (प्रभु) का साक्षात्कार कर मानव-मूल्य की उद्घोषणा करता है *(अन्धायुग : पृ० १२१)*।

अन्धायुग के प्रहरी युग्म दासवृत्ति और जनसाधारण के प्रतीक हैं। 'मानव-मूल्य और साहित्य' में डॉ० भारती ने अपने इन विचारों को सशक्त अभिव्यक्ति दी; उन्होंने लिखा—"लेकिन पिछले दस वर्षों में, न केवल विदेशों में वरन् भारत में भी राजनीति का महत्त्व घटा है। मानव नियति को केवल राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है ·····जनतन्त्र का नाम तो अवश्य दिया पर अधिकांश व्यवस्थाओं में तन्त्र औरों के ही हाथ में रहा 'जन' तो ज्यों-का-त्यो दास बना रहा। यह बात केवल विदेशो पर ही लागू नहीं होती दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देश पर भी लागू होता दीख रहा है।"

भारतीय जनता को भरपेट भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान चाहिए इसमें दो मत नहीं हो सकते किन्तु दूसरी ओर उसे समानता की उपलब्धि भी होनी चाहिए। प्रहरी-युग्म का वार्त्तालाप जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हुए इस मत को स्पष्टतः व्यंजित करता है जिसमें जीवन की दासता और कटुता की यातना भी निहित है *(अन्धायुग : पृ० २७, १०७, १०८, ११८)*।

प्रहरियों के वार्त्तालाप में व्यंग्य, विडम्बना और परितप्त वेदना वर्त्तमान है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे अहसास से थके हुए हैं। इन्होंने सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम मे भाग तो नही लिया किन्तु यहाँ राजमहल के सूने गलियारे में पहरा दे रहे हैं। ये शारीरिक रूप से अधिक मानसिक स्तर पर थके हुए जान पड़ते हैं इनका सारा कर्त्तव्य

कर्म निरुद्देश्य है और निरर्थक प्रयत्न थकान और व्यक्तित्व को विघटन के अतिरिक्त दे ही क्या सकता है ? ये प्रहरी युद्ध में भाग लेकर अपने भाले अर्थात् सामर्थ्य का उपयोग कर सकते थे किन्तु जब उन्हें अवसर नहीं मिलता तब वह सामर्थ्य व्यर्थ होकर उनकी योग्यता एवं व्यक्तित्व को ही विघटित करने लगती है और यह विघटन मानसिक थकान बनकर छा जाता है।

उनके समक्ष अब एक मूलभूल प्रश्न मुँह बाए खड़ा है कि उनके जीवन की सार्थकता आखिर है क्या ? वे अब अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें एक विकृत शासन-तन्त्र के नीचे दबा रहना पड़ा है। मात्र पहरा देना उनका काम है। यह कर्त्तव्य-कर्म कुछ भी सार्थक नहीं मालूम पड़ता जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है। उनका जीवन और कर्त्तव्य-कर्म शासन-व्यवस्था का ही एक यांत्रिकीकरण होकर रह गया है। शासन-तन्त्र के लौह अस्थिपंजर में उनकी स्वतन्त्रता कोमल भावनाएँ, उनका उद्देश्य समाप्त हो गया है और उनका जीवन भी शासन-तन्त्र का एक अंग बनकर रह गया है। उनके जीवन का जो मूल उद्देश्य होना चाहिए इस बोध को अपहृत कर लिया गया है। जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है तब पहरा देने का क्या अर्थ ? किन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि उन्हें न चाहते हुए भी निरुद्देश्य पहरा देना पड़ता है। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं बल्कि प्रतीक भी हैं। हरेक मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अन्धकार है जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेच्छानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है; जीना उसके लिए भार बन जाता है। कम लोग हैं जो जीवन जीते हैं ऐसा लगता है कि समय ही उन्हें जीता है, भोगता है लेकिन समय को हम जिएँ न कि समय हमें जीए। यह तभी सम्भव है जब हर प्रकार से हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हो और जब हमें वह नहीं मिलती तब इन बूढ़े प्रहरियों की तरह ही हमारा जीवन व्यर्थ हो जाता है, जीवन यान्त्रिक हो जाता है। इस प्रकार ये पंक्तियाँ मूलभूत जीवन-सत्य का स्पर्श करती है।

प्रहरी के जीवन और रक्षणीय वस्तु में कोई सम्बन्ध नहीं है और जब बिना सम्बन्ध के कर्म में प्रवृत्त हुआ जाता है तब एक शून्यता और मरुस्थल का उदय होता है। सत्रह दिनों तक वे लगातार घुट-घुटकर जीते हैं और उनका व्यक्तित्व विघटित होता चला जाता है। सत्रह दिनों का कार्य अन्ततः निरर्थक प्रमाणित होता है और यह निरर्थकता उन्हे तोड़ने लगती है। केवल सम्बन्ध की शून्यता नहीं है, सम्बन्ध विकृत रूप में है। उन्हें सभ्यता-संस्कृति की उस विकृति की रक्षा न चाहते हुए भी करनी पड़ती है और यह विकृति अन्तरात्मा का ध्वंसावशेष करती चली जाती है। न तो ये अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाते हैं और न विकृति का प्रतिरोध कर पाते हैं और तब ये निष्क्रिय नपुंसकता में परिणत होते चले जाते हैं किन्तु वे समर्थ हैं। उनके पास अपना विवेक भी है जिसके आधार पर वे अपने अनुभवों और कार्यों का मूल्यांकन करते हैं यह विवेक और समर्थता

उनकी पीड़ा को और भी तीव्रता प्रदान करता है। यह विवेक उन्हें सालता है। समस्त युद्ध जब अविवेक से परिचालित है तब उनका विवेक उन्हें पीड़ित करता है। सत्रह दिनो के युद्ध का अनुभव बार-बार उन्हें काटता है। ये प्रहरी व्यापक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक बन जाते हैं।

माता गान्धारी अन्ध मनोवृत्तियों का प्रतिनिधि प्रतीक है जिसकी विचारशीलता मे बौद्धिक तर्कों को स्थान नहीं। गान्धारी का चरित्र इस बात का प्रमाण है कि मानव-मन पर अवचेतन की बहुत गहन पकड़ होती है। गान्धारी का व्यवहार उनकी भावना के अनुकूल प्रत्येक क्षण परिवर्त्तनशील होता रहता है। अन्धी ममता से वशीभूत कौरवों की विजय का मोह गान्धारी के बाह्य जगत को विश्लेषित कर भविष्य के प्रति आशान्वित होने का अवकाश नहीं देता। गान्धारी की मनःस्थिति भी अश्वत्थामा के समानान्तर चलती है। उसकी मर्मान्तिक गहरी व्यथा और घोर निराशा द्रष्टव्य है *(अन्धायुग : पृ० २२)*। सत्रह दिनो की युद्ध विभीषिका की ताण्डव विनाश लीला का चित्र गान्धारी मर्मान्तिक रूप से पति के समक्ष खींचती है *(अन्धायुग : पृ० २२)*।

संजय से अश्वत्थामा द्वारा किए गए घृणित और वीभत्स कार्यों का विस्तृत वणन सुनकर वह एक प्रकार की आत्मतुष्टि का अनुभव करती है। विक्षुब्ध और व्याकुल होकर वह कुरूपता के प्रतिरूप भयंकर अश्वत्थामा को संजय की दिव्यदृष्टि के माध्यम से चाक्षुप करना चाहती है क्योंकि वह वीरता का शृंगार है। पुत्रों की मृत्यु की शोक-मग्न-ज्वाला और दुर्योधन का कंकाल गान्धारी को अन्दर तक कुण्ठित और जलाकर क्षार कर देता है। इस कुण्ठा की प्रतिक्रिया कृष्ण को शाप देने में होती है *(पृ० २२)*। किन्तु कृष्ण की स्वीकारोक्ति पर माता गान्धारी की ममता फूट पड़ती है *(पृ० २२)*। गान्धारी का जीवन-चक्र सहज मनोवृत्तियों से परिचालित है। हमारी अन्ध मनोवृत्तियों को तर्क-सगत सिद्ध करने के लिए नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण यह सब सामाजिक आवरण हैं जिनसे हमको अलंकृत किया जाता है। इस झूठे आडम्बर से माता गान्धारी को नफरत थी। इसलिए स्वेच्छा से उन्होंने आँखों पर पट्टी चढ़ा ली।

इन सबके मध्य एकमात्र केन्द्र-बिन्दु हैं—कृष्ण जिनकी प्रबुद्धता और सजगता ने सम्पूर्ण युग की व्यथा को भोगा है प्रत्येक व्यक्ति के मरने पर स्वयं मृत्यु का आलिंगन किया है फिर भी युग की आस्था और विश्वास को स्थिर रखने में, रक्षा करने में समर्थ है क्योंकि वह साहस, स्वतन्त्रता, सृजन और मानव-मूल्य के प्रतीक रूप हैं। इस अन्धेयुग मे भी वे भविष्य की सम्भावनाओं और मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठापना में समर्थ है। इसलिए 'अन्धायुग' में प्रभु की वाणी उद्‌भासित है *(पृ० १२७, १२८)*।

कृष्ण का व्यक्तित्व विरोधी प्रवृत्तियों से संयुक्त है। उनमें अन्धकार एवं प्रकाश, आसक्ति एवं अनासक्ति का अन्तर्विरोध है। जहाँ सब लोग अन्धे, पथभ्रष्ट एवं युद्धरत हैं वहाँ कृष्ण ही ऐसे हैं जो अनासक्त हैं, तटस्थ हैं किन्तु उनकी अनासक्ति भी समानान्तर विरोध मे प्रकट है जहा वे कौरव पक्ष को अपनी सेना देकर सहायता करते हैं वही

पाण्डव पक्ष में स्वयं को समर्पित करके—इस प्रकार यह मात्र तटस्थता एवं अनासक्ति नहीं, कृष्ण के व्यक्तित्व का विभाजन है। वे स्वयं निर्णय करने में असमर्थ थे कि पक्ष किस का लिया जाए ? इस प्रकार कृष्ण ब्रह्म नहीं, आधुनिक संशयग्रस्त मानव का प्रतिनिधि अथवा प्रतीक बन जाते है और तब वे सत्य-असत्य का निरपेक्ष वरण नहीं करते, सत्य-असत्य को परिस्थिति सापेक्ष्य मानकर परिस्थिति के अनुसार कार्य करने लगते हैं। कृष्ण युद्ध की सारी पीड़ा को एकाकी झेलते हैं और कृष्ण के माध्यम से आधुनिक युद्ध-पीड़ित उस मानव का चित्र उभरता है जो यह मानता है कि कोई भी आदर्श एवं मर्यादा उसका उद्धार नहीं कर सकती। पीड़ा झेलना उसकी नियति है और उसका उद्धार उसके अपने ही हाथों से होगा। उसे एकाकी ही संघर्षमय परिस्थितियो से जूझते हुए प्रकाश-पथ की ओर बढ़ना होगा।

प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु की परिणति मानव ही है और प्रभु मानवीय मूल्यों की समग्रता का पूँजीभूत रूप है—

"What will you do, God, when I die ?
When I your pitcher, broken, lie ?
I am your grab the trade you fly,
You lose your meaning losing me."

(भारती, मानव मूल्य और साहित्य, पृ० १३२, १३३)

व्यास शान्ति-कामी नेता का प्रतिनिधित्व करते है और बलराम उग्रतावादी निष्क्रिय शक्ति को वाणी देते हैं। गूँगा भिखारी युद्ध के पश्चात् हुए विकलांग मानव का प्रतीक चित्र है। द्रोण और भीष्म आदि रोटियों के वशीभूत है। यह गुलामी और परवशता उन्हें अपने स्वामी के लिए युद्ध करने को तो बाध्य करती ही है साथ ही इसने उनकी सत्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, साहसिकता आदि के गले में फाँसी का फंदा डाल दिया है।

'अन्धायुग' में पात्रों के प्रतीकात्मक महत्त्व को स्वीकार करते हुए मनोहर वर्मा ने लिखा है—"अन्धायुग में पात्रों का प्रतीकात्मक महत्त्व इतना बढ़ गया है कि वे मानवीय अस्तित्व को खोकर विशेष विचारधारा या कुण्ठा के प्रतीक मालूम होने लगते हैं जैसे युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र नेतृवर्ग की अन्धी शक्ति उपासना के प्रतीक, गान्धारी घबरायी हुई उस मानवता का जो कि युग के बर्बर और अमर्यादित नैतिकता की प्रतिक्रिया में कटु निराशा की उद्धत अनास्था का मार्ग पकड़ लेती है।" *(आलोचना : अक्टूबर १९५६, पृ० ११९)*।

इसी प्रकार अन्धायुग के पात्रों की प्रतीकात्मकता की चर्चा करते हुए ज्वालाप्रसाद खेतान ने अपनी पुस्तक 'सृजन के आयाम' में लिखा—"अन्धायुग के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है जिसके कारण महाभारत

की कथा के अंश का पुनर्कथन मात्र न रह कर अन्धायुग मानव-मन के अन्तर्जगत का महाकाव्य बन गया है।

प्रतीकात्मकता के अन्य धरातल :

देशकाल के माध्यम से ही परम्पराओं और संस्कारों से चले आते प्रतीक अपनी अर्थव्यंजना के गौरव को सुरक्षित रखने के लिए आधार प्राप्त करते हैं इसलिए स्वत: ही प्रतीक नाटकों की देशकालगत सत्ता महत्त्वपूर्ण हो जाती है। काल का चक्र ही अपनी खरोंच से प्रतीकों की अर्थगत महत्ता को उदित और अस्त करता है अत: प्रतीक सदा वर्त्तमान को वर्त्तमान के माध्यम से या वर्त्तमान को अतीत के माध्यम से व्यक्त करते हैं। 'भारती' के 'अन्धायुग' में वर्त्तमान को अतीत के प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति दी गई है।

काल की दृष्टि से 'अन्धायुग' पर विचार किया जाए तो इसका घटनाकाल महाभारत युद्ध के पश्चात् से लेकर कृष्ण की मृत्यु तक फैला हुआ है। इसी कारण युद्धोत्तर स्थितियों से उत्पन्न विभीषिकाओं और टूटन-विघटन का वातावरण अधिक गहराया हुआ है।

आज जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र मे विज्ञान का स्थान सर्वोपरि है और इस शताब्दी मे विज्ञान की सबसे बड़ी और भयंकर उपलब्धि अणुबम है जिसके कारण मानव जाति के संहार का त्रास छाया हुआ है। इसी अणु तथा उद्जन बमों के पैशाचिक दुर्दान्त, अभिशप्त प्रभाव को 'भारती' ने 'अन्धायुग' में चित्रित किया (पृ० ९२, ९३)। यहाँ ब्रह्मास्त्र अणुबम का सार्थक और स्पष्ट प्रतीक है। वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की सम्भावना ने विश्व को त्रस्त कर रखा है। इसी लोमहर्षक संत्रास की स्थिति (वातावरण) को भारती ने यहाँ सशक्त और समर्थ अभिव्यंजना देकर अपने आधुनिकी-करण की प्रवृत्ति का परिचय दिया। व्यास के उपरोक्त शब्द आज के अणु-प्रयोगो (हिरोशिमा और नागासाकी के सन्दर्भ मे) की भयानकता और उससे उत्पन्न वातावरण को चित्रित करने में मानों पुरानी शब्दावली का ही उपयोग कर रहे हैं।

दृश्यकाव्यकार ने वातावरण को गहन, मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए मार्मिक घटनाओं, प्रतीकों और चाक्षुप दृश्य योजनाओं का आश्रय ग्रहण किया। प्रहरियों का वार्तालाप (पृ० १४) युद्ध की भयंकरता का चित्र आँखों के समक्ष मूर्तिमान कर देता है।

सभी दृष्टियों से विवेचित करने के उपरान्त 'अन्धायुग' का वातावरण प्रभावशाली होने के साथ ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति भी देता है। अतीत के परिणाम को बिम्बित करने के साथ-साथ भविष्य की दिशा को भी निर्देशन देता है।

प्रतीकात्मक शब्दों और स्थितियों का सटीक उपयोग 'भारती' की एक अन्यतम विशेषता है। प्रहरियों द्वारा गिद्धों को माध्यम बनाकर युद्ध की स्थिति और उलूक-काक घटना द्वारा अश्वत्थामा और द्रौपदी के पुत्रों का हनन का निदर्शन बड़ी ही

और सांकेतिक व्यंजना देता है। व्यक्ति की मूल वृत्तियों का केन्द्र-विन्दु अवचेतन मन है जो अपनी क्रोड़ में व्यक्ति की मूल वृत्तियों का एक व्यापक और विराट् स्वरूप समाहित किए रहता है। व्यक्ति के 'अवचेतन मन' और 'अहं' के लिए 'भारती' ने क्रमशः 'अन्ध गह्वर' और 'अन्धे बर्बर पशु' प्रतीकों को अपनाया—

"हम सब के मन में कहीं एक अन्ध गह्वर है
बर्बर पशु, अन्धापशु वास वहीं करता है
स्वामी जो हमारे विवेक का है।" (पृ० २१)

समग्रतः, लेखक के अनुसार 'अन्धायुग' अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा है। नैतिक मूल्यों से कुण्ठित, स्वार्थान्ध, मर्यादाहीन उस युग को युद्ध की दारुण विभीषिका में भस्मित् करने के पश्चात् आस्था, विश्वास और सृजन की कसौटी पर कुन्दन बनी जो चेतना कृष्ण के व्यक्तित्व से उद्‌भासित होकर विकीर्ण होती है वही इस नाटक का केन्द्रीय भाव, उद्देश्य है। उद्देश्य की प्रतीकात्मकता ने तृतीय विश्वयुद्ध की त्रासदायक स्थितियों और द्वन्द्वों के मध्य चल रहे वर्त्तमान युग को ज्योति और विश्वास देने का प्रयास किया है।

□

दर्शन-दिग्दर्शन

साहित्य वर्त्तमान सामाजिक-व्यवस्था का एक सांस्कृतिक अंग होता है। वह उस व्यवस्था से प्रभावित होता है तथा उस व्यवस्था को प्रभावित करता है। एक चिन्तक साहित्यकार होने के नाते भारती-साहित्य को सांस्कृतिक विभूति के रूप में देखने के पक्षधर है। साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्युत्तरो मे से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है। दो महायुद्धों ने एक विघटन की स्थिति समाज मे ला दी। मानवीय विघटन के इसी संकट को लक्षित कर बर्ट्रेण्ड रसेल ने घोषणा की थी कि आधुनिक विश्व में हम उस जाति के मध्य में है, जो मानवीय कुशलता को साधन मानकर मानवीय पाशविकता को अपना साध्य मानती है। इस सन्दर्भ को ध्यान में रख भारती ने स्पष्ट शब्दों में लिखा—"स्थिति यह हुई कि बाह्य प्रगति हो रही है, भौतिक परिवेश सुधर रहा है, लेकिन मानवीयता हर जगह निर्वासित और नष्ट हो रही है और तब इस बात की ओर ध्यान आकर्षित हुआ कि विज्ञान की मूल्य रहित यांत्रिकता की भित्ति पर आधारित मानव नियति की जो व्यवस्थाएँ थीं, वे नीत्शे की हों या मार्क्स की, या औद्योगिक पूँजीवाद की, ये सब मनुष्य का अवमूल्यन कर उसे अन्दर की ओर उन्मुख करने वाली जो आन्तरिकता है, अपने भविष्य को अपने सपनों के अनुसार निर्मित करने वाली जो संकल्प शक्ति है, अपने को निर्जीव यन्त्र न मानकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व मानने की जो गरिमा है, उसे ये तमाम पद्धतियाँ स्मरण और कुण्ठित बना रही हैं।" एक ओर यह विराट् विघटन है और दूसरी ओर इस नये मूल्य-बोध का उदय। इन दोनों के तनाव के बीच में पिछले पचास वर्षों का साहित्य लिखा गया जिसे आधुनिक साहित्य कहते हैं। (*कल्पना*, फरवरी १९६१, *आधुनिकता का बोध*, पृ० ४१)।

इसी परिप्रेक्ष्य में अन्धायुग पर विचार करते हुए एक प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि किस पृष्ठभूमि, मानसिकता एवं वैचारिक आग्रह ने धर्मवीर भारती को यह काव्य नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया ? सन् १९५४ में 'अन्धायुग' की रचना हुई, '५५ मे भारती का एक लेख छपा जिसमें मनुष्य की धुरीहीनता की चर्चा थी तथा 'मानव, मूल्य और साहित्य' के अधिकांश निबन्ध इसी दौर में लिखे गए। अन्धायुग की भावभूमि इन्ही निबन्धों से सम्बद्ध है। 'मानव, मूल्य और साहित्य' का अन्तरात्मा के ध्वंसावशेप शीर्षक अन्धायुग की मन:स्थिति को व्यक्त करता है। ऐसे युग का आरम्भ जिसमें सब ध्वस्त है।

धुरीहीन शब्द > अर्थ का व्यापक प्रसार करता है > वह व्यक्ति जो अपने केन्द्र से ही च्युत हो गया है।

अन्धायुग का कथानक महाभारत के अन्तिम दिन की सन्ध्या से है, पर कथानक का आयाम काल परिधि का अतिक्रमण कर आज का कथानक बन जाता है। भारती ने इसे स्पष्ट किया है—

"युद्धोपरान्त,
यह अन्धायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में है साहस सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।" (पृ० १०)

समय की चिरन्तन परिवर्तित गति की धुरी पर चक्राकार गति-सा यह युग निरन्तर चक्कर काटता रहता है, निःशेष नहीं होता, इसीलिए भारती ने इसे परम्परित समस्या के रूप में अंगीकार किया, फलतः अतीत-सन्दर्भ एक माध्यम भर बनकर युगीन जटिलता को मुखर कर गया। यह युगीन जटिलता क्या थी जिसके लिए भारती को समानधर्मी कथानक का चयन करना पड़ा ? भारती की रचना मानसिकता के निर्माण के लिए उस समय का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत कुछ जिम्मेदार है। हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिरने की त्रासदायक घटना एवं योरुपियों पर नाजियों द्वारा बर्बर दमन-चक्र की विनाशक घटनाएँ लेखक की रचना मानसिकता का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। अणुबम के प्रयोग ने समस्त नैतिक, सामाजिक और मानवीय मूल्यों का विघटन कर दिया। इन विभीषक घटनाओं को साहित्यकारों ने प्रतीक रूप में ग्रहण किया, परिणामस्वरूप समाजवाद के विरुद्ध एक वातावरण का निर्माण होने लगा। लोगो को अनुभव हुआ कि रूस के लोग राष्ट्रवादी साम्राज्यवादी हैं। इस कारण उस समय योरुप की मानसिकता सर्वनिषेधवाद की बन गयी। कुछ भी ठीक नहीं है ऐसा अनुभव करने के कारण एक धुंधलके वातावरण का जन्म हुआ। इस वैचारिक नैराश्य से वहाँ अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। वहाँ के लोग चरम-स्थितियों में आस्था की खोज करने लगे। विचारधाराएँ दर्शन का रूप ग्रहण करने लगी। जीवन-यात्रा का आरम्भ जन्म से नहीं मृत्यु से होता है इन विचारों ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले लिया

राष्ट्रीय-फलक पर मूल्य विघटन हमें सन् १९४७ में देखने को मिला जब गांधीवाद की पराजय के कारण देश का विभाजन हो गया। गांधी के देश में विश्वमानवता के संदेश का प्रसार का लक्ष्य टूट गया, गांधी की इस असफलता ने एक नये नैराश्य को जन्म दिया। लोगों की आस्था डगमगा गई जिस लक्ष्य को लेकर गांधी जी लड़े वही असफलता की परिभाषा बन गया। बँटवारे के कारण छोटे पैमाने पर भारत मूल्य विघटन की पीडा का अनुभव कर रहा था ऊपर से साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। रही-सही पराकाष्ठा गांधी जी की हत्या से पूर्ण हो गई। योरुप जो मूल्यहीनता का दर्द बड़े पैमाने पर झेल रहा था उसका संक्षिप्त संस्करण भारत में प्रकट था। दुर्भाग्यवश जैसा लांछन 'अन्धायुग' के कृष्ण के चरित्र में है वैसा ही लांछन गांधी के चरित्र में देखने को मिल गया। अस्तित्ववादी व्यापक नर-संहार को प्रभु की मृत्यु (God is dead) के रूप में देखता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय संदर्भों के मिलने के कारण विशेष वैचारिक दबाव ने उस मनःस्थिति का निर्माण कर डाला जहाँ आस्था-मूल्यहीनता का अर्थ एक हो गया। ईश्वर जिन मूल्यों का प्रतीक है वे सब समाप्त हो चुके हैं इसी सन्दर्भ मे संवेदनशील बुद्धिजीवी ने वैचारिक दबाव अनुभव कर उनसे उत्पन्न बहुत से प्रश्नों को अपने साहित्य मे स्थान दिया। इस स्थिति को उन्होंने अनास्था के रूप में देखा। आस्था का आधार भी नहीं और देखने वाली दृष्टि भी अन्धी। वस्तु और विचार (धृतराष्ट्र और गान्धारी) दोनों स्तरों पर अन्धापन व्याप्त है। इसलिए आस्था का कोई आधार ही शेष नहीं रहता। आस्था और अनास्था के जटिल प्रश्नों से जूझती भारती की यह कृति मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ से प्रेरित, परोक्ष रूप में राष्ट्रीय सन्दर्भ से जुड़ी हुई है। इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय सन्दर्भों ने भारती की मानसिकता का निर्माण किया। युग का स्पन्दन साहित्यकारों की धड़कनों में धड़कने लगा जो रचनाओं का रूप लेकर समाज और टूटते जा रहे मूल्यों को परिभाषित करने लगी।

विघटन की स्थिति होने के कारण सम्पूर्ण युग अन्धा है। परिस्थितियों की विषमता सभी वस्तु-स्थिति (Subjective) में आस्था के आधार की हत्या करने पर विवश कर रही है। वस्तु-स्थिति (Subjectivly) देखने वाली सभी दृष्टियाँ अन्धी हैं। दोनो स्तरों पर एक तरह का अन्धापन व्याप्त है। गान्धारी धृतराष्ट्र अन्धेपन के प्रतीक है। कवि ने इस प्रश्न को विराट् फलक पर उठाया है। कृति की मूल समस्या मूल्यहीनता (Absense of value) की है। परिस्थितियों की जटिलता के कारण युवा मानस विद्रोही है जिसका उग्रतम रूप अश्वत्थामा में देखने को मिलता है। अनास्था की चरम सीमा इतनी दूर तक खींच ले जाती है कि कोई मर्यादा, विवेक शेष नहीं है, मात्र कुछ शेष है तो प्रश्न! और क्षोभ से उत्पन्न विद्रोह। व्यावहारिकता का पक्ष अश्वत्थामा है किन्तु प्रश्न गान्धारी उठाती है। कर्म के स्तर पर अश्वत्थामा मूल्यहीनता को वाणी देता है, अनास्था की पराकाष्ठा होने पर उसका यही रूप हिंसा में परिणत हो जाता है। आस्था हिंसा को बाधित कर रोकना चाहती ह किन्तु जब हिंसा बढते-बढते चरम हिंसा का रूप

धारण कर लेती है तब आस्था के शेष आधारों की हत्या हो जाती है। अनास्था का यह दूषित वातावरण व्यक्ति को ही नहीं सम्पूर्ण युग को प्रभावित, दूषित करता है। ऐसी स्थिति में जो कुछ भी घटित होता है उसके लिए सम्पूर्ण युग उत्तरदायी है। प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे समय में साहित्यकारों का दायित्व क्या है? क्या उसके पास यह विकल्प है कि वह तटस्थ रहे? बुद्धिजीवी केवल सत्य-बोध मात्र से सन्तुष्ट रहे? उत्तर नकारात्मक है। संजय की स्थिति के समानान्तर लेखक की स्थिति है। संजय के चरित्र-माध्यम से इन प्रश्नों को प्रस्तुत कर उत्तर भी दिया है—"सत्य यदि कटु है फिर भी उसे कहना है, बाधाएँ सहकर भी उसे लेखक का दाय निभाना है। हर स्थिति में उसे सत्य का पक्ष ग्रहण करना है चाहे सत्य अथवा असत्य अन्तिम परिणति में उसे जर्जरित क्यों न कर दें क्योंकि यह उसके बुद्धिजीवी होने का अभिशाप है—

> **"कैसा यह शाप मुझे व्यास ने दिया है**
> **अनजाने में**
> **हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद**
> **शेष बचोगे तुम संजय**
> **सत्य कहने को**
> **अन्धों से।"** *(पृ० ३१)*

लेकिन आज अन्तिम पराजय के अनुभव ने सत्य की प्रकृति बदल दी। संजय शंकित हो उठता है कि आज वही शब्द किस प्रकार नूतन अनुभूति के वाहक बनेंगे। बुद्धिजीवी के सामने यही अनास्था, असमंजस है। दायित्व गहन है, भाषा अधूरी, श्रोता अन्धे हैं—ऐसी घोर संकट ग्रस्त स्थिति में साहित्यकार क्या करें? यह कृति चरम स्थितियों का साहित्य है। अस्तित्ववादी भाषा का प्रयोग कर भारती ने प्रश्न का अनावरण भी अस्तित्ववादी भाषा में किया, समाधान भी जहाँ खोजा, वे घटनाएँ भी अस्तित्ववादी भाषा में वर्णित हैं। युद्ध सामूहिक हत्या की स्थिति है—Murder on Every level! हत्या का विकृत रूप है आत्महत्या। आत्महत्या और हत्या दोनों चरम स्थितियाँ हैं। जो (विवेक, नीति, मर्यादा, आस्था) साहित्यकार उन्हें पग-पग चुनौति देता है। द्रोणाचार्य की हत्या, सत्य की अवधारणा के आगे प्रश्नचिह्न है, चुनौती है। इस पूरी स्थिति को भारती मानवीय अवस्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं। यह संकट शाश्वत है जो अपने आपको दोहराता है। युद्ध का विभीषिक रूप समाप्त हो गया है आतंक फिर भी शेष है। यह दोहराव की बेचैनी योरुप की मानसिकता से जुड़ी है। अस्तित्ववाद के आवरण को अंशत: स्वीकार कर भारती ने कृति का अन्त भारतीय भावनाओं के अनुकूल किया है। *(मानव मूल्य और साहित्य, पृ० ११९, १२०)*।

इनसे भारती की मानसिकता जुड़ती है। अन्धायुग में समस्या उठाने के लिए जो स्थिति स्वीकार की है वह उसी अन्धेपन, क्षोभ, अन्धेरे की है जो उस समय योरुप में व्याप्त थी। जो कुछ सुन्दर सत्य या वही पराजित हुआ है भारती ने

मानव-बोध को अन्धापन कहकर उसे महाभारत युद्ध के साथ सम्बद्ध कर दिया। आत्मघाती प्रवृत्ति, बंधुघाती प्रवृत्ति अन्धेपन की संस्कृति के लक्षण हैं—

"वह जो बन्धुघाती है
हत्या जो करता है माता की, प्रिय की
बालक की, स्त्री की
किन्तु आत्मघाती······
घातक रोगों सा
× × ×
आत्मघाती वाली इस
युधिष्ठिर की संस्कृति में
मैं नहीं रह पाऊँगा।" (पृ० ११०, १११)

घातक परिस्थितियों ने जो कुछ भी सुन्दर और कोमल था उसे विलीन कर उसके स्थान पर नई संस्कृति का विकास किया है जिसका प्रतिफलन बधुघात से होते हुए आत्मघात की नपुंसकता में होता है। यह आत्महत्या व्यक्ति की नहीं उसे विशिष्ट तौर पर व्याख्यायित किया गया—

"यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन-व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का।" (पृ० ११०)

विज्ञान की इस परिणति ने एक अजीब-सी विषम स्थिति ला दी। इस सारे अभियन्ता का केन्द्र बिन्दु था मनुष्य और वह एक विचित्र शून्यता में परिवर्तित हो गया। इसके लिए मूल्य-निर्धारण की कसौटी क्या ? इसकी यह विकास-यात्रा हो किस लिए रही है ? इसके लिए विज्ञान के पास कोई साधन नहीं या अभी तक जो तत्व मनुष्यों को पशुओं से पृथक् करते थे यानि उसकी विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति, उसकी नैतिकता, चेतना, इन दोनों ने विज्ञान को अमान्य सिद्ध कर दिया। परिणाम यह था कि हम सारे मूल्यों का अव-मूल्यन पाते हैं—एक विराट् अराजकता, एक घातक अन्धकारमय शून्य। मूल्यों के इस विघटन ने कैंसर की तरह मानवीयता को अन्दर से खोखला बनाना शुरू कर दिया। इसके पहले कि विज्ञान और दर्शन इस संकट का अनुभव करते साहित्य ने इस संकट का एहसास कर लिया था। *(आधुनिकता का बोध : कल्पना, फरवरी १९६१, पृ० ४०-४१)*

यह आत्मघाती प्रवृत्ति समाज के हर स्तर पर प्रतिध्वनित होगी क्योंकि समाज के हर स्तर पर हिंसा-हत्या का वातावरण व्याप्त है जिसकी चरम परिणति प्रभु की मृत्यु में होती है। एक प्रकाश-रेखा जो सबको उबारकर जीवन के कर्म का नवीन सन्देश दे सकती थी उसी की हत्या होने पर आस्था का अन्तिम आधार भी समाप्त हो गया।

भारतीयता है। इसमें छिपा हुआ आस्था का स्वर भी भारतीय है। अस्तित्ववादी मनुष्य आस्था अपने आचरण से उत्पन्न करता है, यहाँ आचरण में—प्रभुत्व की स्वीकृति है। नियतिवाद का तिरस्कार किया है—

> **"जब कोई भी मनुष्य**
> **अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,**
> **उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।**
> **नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित—**
> **उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।"** (पृ० १२४)

यहाँ क्षणवाद का महत्त्व अस्तित्ववादी विश्वास की स्वीकृति है। प्रत्येक क्षण को पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना से भोगना चाहिए क्योंकि हर क्षण इतिहास परिवर्तित करने का होता है। मनुष्य की आचरण क्षमता में अपूर्व आस्था को व्यंजित कर संयोग का तिरस्करण अस्तित्ववाद को आधार देता है। विकल्प की स्वतन्त्रता, संकल्प की गरिमा भारती अन्धायुग द्वारा मानव को देना चाहते हैं। जब कोई पुरुष सम्पूर्ण इतिहास को चुनौती देता है तब भविष्य की गति बदल जाती है। मनुष्य का हर चुनाव गरिमापूर्ण है। "मनुष्य में विवेक दृष्टि होनी चाहिए। विकल्प की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, संकल्प की क्षमता होनी चाहिए। अपने विवेक के अनुसार उसे आचरण करना चाहिए क्योंकि अपने आचरण के प्रति वह उत्तरदायी है और इस प्रकार वह अपनी नियति का निर्माण करता चलता है। एक स्पष्टता की कुहेलिका उन्हें आच्छन्न कर लेती है। वस्तुतः मनुष्य के अन्दर न अन्तरात्मा रह जाती है जो संसार का मूल्यांकन कर सके और न उसके बाहर कोई व्यवस्था रह जाती है जिसका मूल्यांकन किया जाए। ऐसा लगता है जैसे एक शून्य दूसरे शून्य के सैलाब में फंस गया है।" *(मानव, मूल्य और साहित्य, पृ० ३१)*

धृतराष्ट्र का अन्धापन व्यापक पैमाने पर समाज का असन्तोष है। आज के प्रश्न का सम्बन्ध घटना से नहीं दृष्टिकोण से है। औद्योगीकरण वैज्ञानिकता का विकास भौतिक सतह पर सुख-समृद्धि प्रदान करता है किन्तु भीतर की वैज्ञानिकता एक दृष्टिकोण का बीजारोपण करती है। साहित्यिक स्वर रागात्मकता से वैचारिकता की ओर उन्मुख होता है। हम सब कुछ तर्क की कसौटी पर कसना चाहते हैं।

अन्तरात्मा का यह अर्थ नहीं कि अन्तर में आध्यात्मिक तत्व विद्यमान रहे। कृष्ण तत्व प्रत्येक मानव में रहता है। इस बात को अन्धायुग में भारती ने स्वीकार किया है। मानव का अपना निर्णय हो, कृष्ण में आस्था न होकर संकल्प में आस्था हो। कर्मों का दाय कृष्ण थे, उन्हें कर्मों का दाय सौंप कर एक युग में सब सन्तुष्ट थे। लेकिन एक युग में कृष्ण के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है किन्तु फिर उसके बाद कृष्ण में आस्था होती है। अश्वत्थामा इस बात का प्रमाण है। दूसरी स्थिति अनास्था की है, आस्था का आधार मनुष्य का विवेक है। भारती के मन में विद्यमान परम्परागत संस्कारों में विचित्र प्रकार

का विरोधाभास है। धार्मिक मूल्य के प्रतीक कृष्ण में अनास्था व्यक्त करवाना मोहभंग का परिचायक है। सहसा भारती के आस्थावान वैष्णव संस्कार प्रबल होते हैं और वे अन्धायुग का अन्त आस्था में करते हैं। अनास्था के दौर से गुजरकर भारती अपनी मानसिकता में कृष्ण की मृत्यु तक यूरोपीय मानसिकता के अनुरूप है। वे दायित्वपूर्ण आचरण का प्रतिपादन करना चाहते हैं। भौतिक सिद्धि के प्रति सजग मनुष्य अपने कर्मों के प्रति उत्तरदायी है अतः मानव चुनाव पर बल है। वह अपने कर्मों के अनुरूप फल देखने को भी सजग रहेगा। भारती की प्रतिबद्धता प्रश्न उठाने में नहीं, उत्तर खोजने के प्रति है, इसीलिए आदर्शवादी समापन आरोपित-सा लगता है।

'अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा' भारती ने अन्त में जिस समाधान के विषय में आरम्भ से प्रश्न उठाया—उसी को अन्य शब्दों में सन्देश का रूप दे दिया है। अन्त मे प्रभु-तत्त्व, उसकी बार-बार मृत्यु, हत्या, उसकी समाप्ति के पश्चात् मनुष्य शेष रहता है और उससे भी शेष बचता है प्रभु तत्व। अस्तित्ववाद के दो पक्ष हैं—आस्तिक, नास्तिक! भारती का यह प्रतिपादन ईश्वरवादी अस्तित्ववादियों के अधिक निकट है।

धृतराष्ट्र का पश्चात्ताप भूल को रेखांकित करता हुआ बढ़ता है। आचरण के नियमों के लिए बाह्य मापदण्ड आवश्यक है। धृतराष्ट्र का प्रश्न अनुभूति सत्य सत्ता है जो व्यक्ति की सत्ताओं के बाहर है। यहीं भारती अस्तित्ववाद के निकट आते हैं। गीता की भाषा में समाधान ढूंढ कर बाहर की भाषा में प्रश्न उठाए गए हैं। भारती की मानसिकता का विकास पश्चिम के अनुरूप हुआ किन्तु उसका समाधान भारतीयता मे कर उन्होंने अस्तित्ववाद को गीता के साथ सम्बद्ध कर दिया। इस प्रकार सम्भावनापूर्ण अन्त के द्वार भारती ने बन्द कर दिए। प्रभु की मृत्यु चरम स्थिति है, यही अन्त अपेक्षित था। यह काव्य एक साथ समसामयिक भी है और देशकाल का अतिक्रमण भी करता है।

युद्धोत्तरकाल के पश्चिमी प्रदेश में हुई मूल्यातंता से अन्धायुग का तात्कालिक सम्बन्ध है किन्तु उसकी स्थितियाँ देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण कर शाश्वत, चिरन्तन बन गई है। भारती क्रमशः व्यष्टि से समष्टि, समष्टि से व्यष्टि की ओर संक्रमित होते रहे हैं। युग-स्थिति कुण्ठा हताशा की है और लेखक पर उस स्थिति का अतिक्रमण कर सत्य के अन्वेषण का दायित्व है। लेखक ने अपने इस आत्मविश्वास की घोषणा कृति की भूमिका में कर दी। लोक-सम्पृक्ति जो नई कविता की एक प्रमुख विशेषता है, अन्धायुग की भावभूमि का अभिन्न अंग है और इसीलिए इस कृति में यथार्थवाद के अन्वेषण की आवश्यकता नही रह जाती क्योंकि उसका समूचा कथानक तथा प्रेरणा अपने आप में यथार्थ है। बौद्धिक तटस्थता तथा सन्तुलन गम्भीर चिन्तन की उपलब्धि है और ये दोनों तत्व अन्धायुग को विशिष्ट गरिमा प्रदान करते हैं। मूल्यवान्‌ साहित्य देशकाल बद्ध या शाश्वत प्रश्न है जिसमें वह बंधा हुआ है। पहली प्रतिबद्धता अपने युग के प्रति है जो सीमित है किन्तु भारती की प्रतिबद्धता शाश्वत चिरन्तन है

युद्धोत्तर मूल्यातंता की स्थिति में विकृति ही विकृति देखने को मिलती है, विकृति के सिवाय कुछ भी शेष नहीं रहता इसीलिए भारती ने समष्टि से प्रश्न उठाकर व्यष्टि से जोड़ दिया। घटनाओं को ऐसा रूप देने की चेष्टा की कि वे अप्रासंगिक न हों। महाभारत के साथ आधुनिक युग को जोड़कर अपनी कृति की महत्ता सिद्ध की। अतः स्वतः ही अन्धायुग पौराणिक की आधुनिक संगति प्रदर्शित करने वाला महत्त्वपूर्ण नाटक बन गया।

□

काव्यरूप

आधुनिक नाट्य-काव्य भी इस युग के साहित्य की विविध काव्य-विधाओं के मिश्रण की प्रवृत्ति के परिणाम हैं जिनमें नाट्य तथा काव्य-तत्त्व का सम्मिश्रण पाकर नया रूप उभरता है। इसी आधार पर टी० एस० इलियट ने यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि प्रत्येक कविता नाटकीयता की ओर और प्रत्येक नाटक कवित्व की ओर उन्मुख होता है (T. S. Eliot: Selected Essays 'A Dialogue on Dramatic' p. 52)। आज ऐसी अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो स्थूल रूप से समान काव्य-विधा से सम्बद्ध होती हुई भी रूपाकार, शिल्पगत अथवा आत्मगत अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर के कारण परस्पर भिन्न हैं। इसी पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के आधार पर आधुनिक आलोचना-शास्त्र मे पद्यबद्ध नाटक (Poetic Drama), गीति-नाट्य (Lyrical Drama), नाटकीय कविता (Dramatic Poetry) तथा नाट्य-गीति (Dramatic Lyric) जैसी सर्वथा नवीन काव्य-विधाओं की सूचक पारिभाषिक शब्दावली की अवतारणा हुई। स्थूल नाट्य-काव्यों के दो भेद किये गए हैं—१. नाटकीय कविता, २. काव्य-रूपक।

तत्कालीन युग की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का आलोक-स्तम्भ 'अन्धायुग' भारती का श्रेष्ठ काव्य-रूपक है। काव्य-रूपक का अर्थ काव्य में रचित रूपकों से है। इसको कई भेदों में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु काव्य-रूपक के दो ही प्रधान भेद हैं—काव्य-नाटक और गीति-नाट्य। काव्य-नाटक की धुरी पर घटना और क्रिया-व्यापार का चक्र प्रधानतया महत्त्व पाता है तथा चरित्र-सृष्टि का क्रमिक विकास कथानक की संघटन शक्ति आदि सभी तत्त्व नाटक की भाँति समाहित होते हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम काव्यात्मक होता है और वह काव्यात्मक अभिव्यक्ति छन्दोबद्ध अथवा छन्द से मुक्त किसी भी रूप का आश्रय ले सकती है। हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण धरातल पर प्रायः अधिकांश काव्य-नाटक मुक्त छन्द में रचित हैं। गीति-नाट्य की संवेदना किन्हीं स्तरों पर काव्य-नाटक से भिन्नता प्राप्त कर लेती है। उसका मूल केन्द्र-बिन्दु मनोराग गीति काव्यात्मक अर्थात् आत्मनिष्ठ, अन्तर्मुखी और संगीतमय तारों से सम्पुष्ट होता है। गीति-नाट्य में घटना-व्यापार की अपेक्षा भावविस्तार को प्रमुखता दी जाती है। डॉ० निर्मला जैन के मतानुसार—"एक ओर गीति-नाट्य का गीति-तत्त्व उसे सामान्य पद्य-नाट्य से भिन्न करता है, दूसरी ओर उसमें अभिनेयता नाट्य-कविता से उसका व्यावर्त्तन करती है अतः गीति-नाटय काव्य-रूपक का ही एक भेद है जिसमे अंतर्मुखी

संघर्ष का अंकन गीति के माध्यम से होता है।"*(आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधाएँ)* । श्रीकृष्ण सिंहल ने अपने मत को पुष्ट करने के लिए अपनी पुस्तक 'हिन्दी के गीति-नाट्य' मे काव्य-नाटकों और गीति-नाट्यों को एक ही श्रेणी में रखकर उनका मूल्यांकन किया है और दोनों को ही 'गीति-नाट्य' शब्द की संज्ञा देकर उसी का प्रयोग किया है। किन्तु मेरी दृष्टि में डॉ० निर्मला जैन द्वारा किया गया वर्गीकरण और विवेचन अधिक वैज्ञानिक पैठ पाता है और हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि तुकान्त अथवा अतुकान्त छन्द मे रचित सभी काव्यात्मक नाट्य रचनाएँ काव्य-रूप के अन्तर्गत ही हैं। इसके अनेक भेदोप-भेद हो सकते हैं किन्तु मुख्यतया इनके दो भेद हैं—गीति-नाट्य और काव्य-नाटक।

काव्य-रूपक का अभिप्राय ही नाट्य-तत्त्व और काव्य-तत्त्व दोनों का सम्मिश्रण है। काव्य-तत्त्व होने से उसमें मानव-जीवन के राग-तत्त्व की प्रमुखता होती है, भावनाएँ और अनुभूतियाँ तीव्र वेग के साथ गतिमय प्रवाहात्मकता को समेट लेती हैं और नाट्य-तत्त्व के कारण उसमें कथावस्तु और बहिजगत का चित्रण होता है। इस प्रकार काव्य-रूपक में मानव का अन्तर्जीवन और बहिजगत चित्रण की समान रेखाओं में अभिव्यक्ति पाता है। काव्य-रूपक के सम्बन्ध में भाषा-शैली के प्रश्न को उठाते हुए यहाँ कहना उपयुक्त होगा कि उनकी भाषा छन्दोबद्ध, लयपूर्ण तथा अलंकृत होनी चाहिए जिससे वह नाटक के स्वरूप ग्रहण के अनुकूल हो सके। भावनाओं की तीव्रता के क्षण भाषा को स्वत: ही लयपूर्ण बना देते हैं। टी० एस० इलियट की यह बात बिल्कुल सत्य है कि—"भावावेग के क्षणों में मानव-आत्मा पद्य में ही अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास करती है। अत: यदि संगीतात्मकता के पीछे तीव्र अनुभूति और भावावेग है तो वह सहज स्वाभाविक प्रतीत होती है (T. S. Eliot : Poetry and Drama : p. 12)।" बिम्ब-प्रधान भाषा होने से भावों की गहनता और सघनता के साथ-साथ पात्रों के चरित्र को भी प्रकाश मिलता है, जिससे उनकी चरित्रगत महत्ता दृष्टिगत हो जाती है। अत: हम साथ-साथ 'अन्धायुग' के संवादों, छन्द, भाषा, संघर्ष आदि पर विचार करते चलेंगे।

यहाँ से हम लेखक के निर्देश में दिए गए वक्तव्य की ओर मुड़ते हैं। भारती ने 'अन्धायुग' के निर्देश में 'अन्धायुग' के लिए 'नाटक', 'दृश्य-काव्य', 'गीति-नाट्य' और 'काव्य' चार नामों का उल्लेख किया है—

(क) "इस 'दृश्य-काव्य' में जिन समस्याओं को उठाया गया है उसके सफल निर्वाह……।"

(ख) "अभी इस प्रकार के नाटकों की परम्परा का हिन्दी में सूत्रपात ही हो रहा है।"

(ग) "……न केवल इन गीति-नाट्यों वरन् समस्त नई कविता के प्रभावोत्पादक पाठ की असित……।"

(घ) "मूलत: यह 'काव्य' रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था………।"

लेखक के वक्तव्य के गम्भीर विचार विश्लेषण के पश्चात यह निष्कष ध्वनित होता है

कि भारती 'अन्धायुग' को गीति-नाटक स्वीकारते है क्योंकि काव्य तो प्रत्येक दृश्य अथवा श्रव्य होता ही है, इसमें शंका समाधान का कोई प्रश्न ही नहीं। नाटक दृश्य-काव्य का ही पर्याय कहा जा सकता है या नाटक भी दृश्य-काव्य का ही नाम है। गीति-नाट्य अवश्य एक विशिष्ट स्तर का दृश्य-काव्य रूप है। अतः हम लेखक के ध्वनित मतानुसार 'अन्धायुग' को गीति-नाट्य मानकर ही उस पर विचार-विश्लेषण करेंगे।

'अन्धायुग' कई दृष्टियों से हिन्दी गीति-नाट्य धारा की परम्परा में एक नवीन और स्वस्थ मोड़ उपस्थित करता है। इसीलिए 'अन्धायुग' के नाट्य-रूप को अपने आप मे एक उपलब्धि बताते हुए श्री नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं—"अन्धायुग का नाट्य-रूप अपने-आप में एक उपलब्धि तो है ही, साथ ही वह हिन्दी नाटक के लिए नयी सम्भावनाओ को भी सूचित करता है, विशेषकर हमारे प्राचीन संस्कृत तथा लोक नाटको के यथार्थवादी नाट्य-व्यवहारों के नई दृष्टि से अन्वेषण और प्रयोग की सार्थक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है।" अन्धायुग से पूर्व के गीति-नाट्य एकांकी गीति-नाट्य थे और उनमें व्यापक कथावस्तु का समावेश नहीं हो सकता था क्योंकि उनकी संकुचित सीमाएँ व्यापक कथावस्तु को अपने अन्दर समाहित करने में असमर्थ थीं। केवल सेठ गोविन्द दास कृत 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६) में तीन अंकों का संयोजन है। 'अनघ' (१९२५) तथा 'उन्मुक्त' (१९४०) आकार की दृष्टि से उनका पट-परिवेश विस्तृत होते हुए भी इनका विभाजन अंकों में नही है। अतः 'अन्धायुग' हिन्दी का एकांकी गीति-नाट्य न होकर सर्वप्रथम पूर्ण गीति-नाट्य है। इसका विभाजन क्रमशः 'कौरव-नगरी', 'पशु का उदय', 'अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य', 'गान्धारी का शाप' और 'विजय एक क्रमिक हत्या' पाँच अकों मे किया गया है। भारती ने इन अंकों के अतिरिक्त प्रारम्भ में 'स्थापना-अन्धायुग', मध्य में 'अन्तराल', 'पंख, पहिए और पट्टियाँ' तथा अन्त में 'समापन-प्रभु की मृत्यु' की नियोजना भी की है। वृत्त की दृष्टि से भी इसमे नवीनता का समावेश है। गीति-नाट्यो की परम्परा में अभी तक अतुकान्त छन्दों को प्रयोग में लाया जाता है किन्तु निराला के 'पचवटी प्रसंग' के पश्चात् 'अन्धायुग' में आकर इस परम्परा ने मुक्त वृत्त का रूप धारण कर लिया। मुक्त वृत्त की नवीन कुशल प्रयोगशीलता के कारण 'अन्धायुग' रंगमंच के उपयुक्त तथा भावाभिव्यञ्जना में अधिक सुष्ठु और समर्थ होकर पाठकों और दर्शकों के सामने प्रस्तुत हुआ। 'अन्धायुग' में पूर्ववर्ती गीति-नाट्यों की अपेक्षा अत्यन्त प्रख्यात तथा मर्म को तीव्रता से स्पर्श करने वाली विस्तृत कथावस्तु को समाहित किया गया किन्तु नाटककार की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, कथा का रूप-विन्यास, पात्रों की मार्मिक अभिव्यञ्जना, उनकी उर्वर कल्पना और गम्भीर चिन्तन-मनन शक्ति की परिचायक है। 'अन्धायुग' में उन आन्तरिक सत्यों को विश्लेषित किया गया है जिन्हें देश और काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। इसके मूल बिन्दु के नीचे मानव-इतिहास के पृष्ठों पर चिर-नवीन, चिर-अंकित, चिरन्तन युद्ध-दर्शन का प्रश्न रहा है। **इसके लोमहर्षक परिणामों और** को जानते-बूझते हुए भी

मानव-इतिहास के पृष्ठों से इसका अस्तित्व निर्मूल नहीं कर पाया। सूक्ष्म जीवन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक अभिनयात्मक वृत्तियों से गुम्फित और अपूर्व काव्यात्मकता के कणों से अलंकृत कलात्मकता के मणिकांचन समन्वय ने 'अन्धायुग' के गौरव और महत्त्व को बढ़ाकर स्थिर कर दिया है। 'अन्धायुग' का महत्त्व यहीं निर्विवाद हो जाता है कि गीति-नाट्य के मूलभूत सूक्ष्म तत्त्व दृश्य-काव्यकार की सहज उच्छलित प्रतिभा से स्पष्ट और स्वाभाविक रूप में विश्लेषित किए जा सकते हैं। 'अन्धायुग' में महाभारत-युग की वह कथा समाहित है जिसमें नैतिक मूल्य निरन्तर पतन के गहन गर्त्त की ओर ह्रासोन्मुख थे। युद्ध के सूर्य के अस्त होते-होते अनैतिकता ने अपनी चरम सीमा का अतिक्रमण कर लिया था। उपरोक्त गीति-नाट्य में इसी अनैतिक काल की घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा, रक्तपात, अविवेक, टूटन-विघटन, द्वन्द्व-त्रास आदि की अन्धी और कुण्ठित भावनाओं के मर्म को छलनी करने वाली अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः 'अन्धायुग' की कथा महाभारत-कालीन तथ्य को ही उद्घाटित नहीं करती बल्कि ऐसे युग की कथा को भी उद्भासित करती है जिसके पथरीले वक्ष पर कुत्सित भावनाएँ व्यापक जनमानस में प्रसार पाकर बैठ जाती हैं। इस गीति-नाट्य में पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात के कुशल संयोजन के साथ प्रतीकात्मकता को लेकर लेखक ने नाटकीय सुसम्बद्धता को पुष्ट करते हुए मुक्त छन्द और अपनी भावाभिव्यञ्जना को सफलता पूर्वक प्रदर्शित किया, जिससे इनकी सबल अभिव्यक्ति मे भाषा प्रवाहपूर्ण बनकर 'अन्धायुग' के पृष्ठों पर अंकित हुई।

१९५४ ई० में ही भारती ने 'अन्धायुग' के अतिरिक्त 'सृष्टि का आखिरी आदमी' नामक एक अन्य संक्षिप्त गीति-नाट्य प्रस्तुत किया। उसमें भारती ने सृष्टि के अन्तिम दिनों की काल्पनिक झाँकी का चित्रण किया तथा उसी में नूतन सृष्टि निर्माण के संकेत-सूत्र पिरोए। अतः ये दोनों गीति-नाट्य युद्ध और सामाजिक संघर्ष प्रधान गीति-नाट्य धारा की परम्परा को पुष्ट कर अपनी सफलता की नई कड़ियाँ जोड़ते हैं।

इस कथा के माध्यम से नाटककार ने युद्ध जन्य अर्द्धसत्यों, कुण्ठाओं और अन्ध-स्वार्थपरता, विवेकहीनता आदि को उद्घाटित करते हुए इनके मध्य उदित होती हुई शुभ, मंगलमयी कुंकमी ज्योति के प्रकाश में मर्यादा, आस्था, कर्मपरता को विवेचित किया। यह मंगलमयी कुंकमी ज्योति अन्ध गह्वर की भँवर में गोते खाते हुए मानव के लिए निरन्तर प्रेरणा बनकर उसके लिए प्रकाश देने का कार्य करेगी। शिवं से अनुस्यूत इस ज्योति का मूल स्रोत गीता का अनासक्त कर्म योग है, लेकिन भारती ने इसको नए सन्दर्भ में इस्तेमाल किया है। भारती ने कृष्ण को माध्यम बनाकर व्याध को कहा—

> **"लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे**
> **बाकी सभी**
> **मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा**
> **हर मानव मन के उस वृत्त में**

जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेंगे पिछले ध्वंसों पर
× × ×
जीवित और सक्रिय हो उठूंगा मैं बार-बार।" (पृ० १२७, १२८)

'अन्धायुग' की सम्पूर्ण कथा के मोतियों को कुछ इस तरह पिरोया गया है कि वह एक सीमा तक एकतान और अटूट बन गई। इसलिए श्रीकृष्ण सिंहल ने लिखा—"सम्पूर्ण कथानक की बनावट कुछ इस प्रकार की गई है कि वह बराबर एकतान और गतिशील रहता है।" *(हिन्दी गीति-नाट्य)*। डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी कहा है—"सारा कथानक सुनियोजित, गतिशील, प्रभावपूर्ण, कल्पना की सक्षमता से गूंथा हुआ है।" *(हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन)*। कथावस्तु को तीव्रता और गतिशीलता प्रदान करने के अतिरिक्त अन्विति क्रम में ढालने के लिए भारती ने प्रमुखत: दो उपादानों को माध्यम बनाया—कथा गायन या कोरस और प्रसंगानुकूल परिवर्तित होते हुए टोन और लय का प्रयोग।

कथा-गायन का प्रयोग अंग्रेजी नाटकों में टी० एस० इलियट, आडेन आदि के नाटकों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। युनानी नाटकों में भी प्राय: यह कोरस अथवा कथा-गायन अनिवार्य अग के रूप में देखा जा सकता है। भारती के शब्दों में—"यह पद्धति लोक-नाट्य परम्परा से ली गई है।" सभी अंकों में प्रारम्भ, मध्य और अन्त मे कोरस अथवा कथा-गायन है जिसके माध्यम से कई कार्यों की सिद्धि की गई है। इसलिए कथा-गायन 'अन्धायुग' में वस्तु सगटन का एक परमावश्यक उपकरण बनाकर प्रस्तुत किया। दृश्य अथवा अंक परिवर्त्तन की सूचना देने के साथ मंच पर अभिनीत घटनाओ की सूचना देना, वातावरण की उपयुक्तता, मार्मिकता, गहनता को स्थिर रखना, कथा-सूत्रों में तारतम्य बनाकर सम्बद्ध रखना, संगीत माधुरी से पाठक और दर्शक को बाँधकर नाटकीय औत्सुक्य की वृद्धि करना और कहीं-कहीं कथानक के प्रतीकात्मक अर्थों को स्पष्ट कर खोलना और दो युगों को एकसाथ सम्बद्ध करना, अत: स्वत: ही कथा-गायन या कोरस 'अन्धायुग' का अनिवार्य अंग सिद्ध हो जाता है। दृश्य परिवर्त्तन की ओर इंगित करते हुए प्रथम अंक के कथा-गायन को उदाहरण के लिए लीजिए—

"अन्त:पुर में मरघट की सी खामोशी
कृश गान्धारी बैठी है शीश झुकाए
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए।" (पृ० १६)

गीति-नाट्य में टोन (स्वर) अथवा लय (संगीतात्मकता) का भी विशेष महत्त्व है।[1]

इसी टोन अथवा लय पर नाटक की अभिनयात्मक सफलता-असफलता निर्भर करती है। 'अन्धायुग' में भारती ने सर्वत्र इसका ध्यान रखा। ग्रन्थ के निर्देश में वे जागरूक होकर लिखते हैं : "जैसे एक बार बोलने के लिए मुँह खोले किन्तु उसी बात को कहने मे मन में कई बार करवटे वदल लें तो उसे सम्प्रेषित करने के लिए लय भी अपने को बदल लेती है। कहीं-कहीं लय का यह परिवर्त्तन मैंने जल्दी-जल्दी किया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ ७६, ८० पर संजय के समस्त संवाद एक विशिष्ट लय में हैं। पृष्ठ ८१ पर संजय के सवाद की यह लय अकस्मात् वदल जाती है।" प्रथम अंक में विदुर के पैरों की आहट सुनकर धृतराष्ट्र का 'संजय' उच्चारण करना बहुत ही स्वाभाविक लगने के साथ ऐसा स्वर-कम्पन ध्वनित करता है कि उसके वाल्यूम से पाठक अथवा दर्शक के मन में कहीं एक सचार हो जाता है। इससे धृतराष्ट्र की संशयाकुल मनःस्थिति और व्याकुलता का बोध होता है। एक ही व्यक्ति की मनःस्थिति को उद्घाटित करने के लिए संवादों की लय भी परिस्थितियों के अनुरूप कई स्तरों पर लय-परिवर्त्तन को लेकर प्रतिफलित हुई। सबेदो के प्रादुर्भाव से संवादों की लय-परिवर्त्तन प्रक्रिया द्रष्टव्य है। अश्वत्थामा के शब्द—

"कितना सुनसान हो गया है वन
जाग रहा हूँ केवल मैं ही यहाँ
इमली के, बरगद के, पीपल के
पेड़ों की छायाएँ सोई हैं……।" *(पृ० ६८)*

और पृष्ठ के समाप्त होते ही वह पुकार उठता है—

"तुमने कहा था नरो न कुंजरो वा।
कुंजर की भाँति
मैं केवल पदाघातों से
चूर करूँगा धृष्टद्युम्न को।" *(पृ० ७०)*

स्वच्छन्द आकाश में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र छोड़ते ही ज्वालामुखियों की-सी भयानक गड़गड़ाहट की ध्वनि-मध्य-व्यास की तीखी आवाज़ भयग्रस्त मौन वातावरण के वक्ष को भेदती हुई ध्वनित होती है—"यह क्या किया अश्वत्थामा ! नराधम ! यह क्या किया।" *(पृ० ९२)*

कहीं-कहीं पृथक् टोनों के माध्यम से नाटकीय क्रिया-व्यापार का शब्द-चित्र समक्ष आकर उपस्थित हो जाता है। उद्धरण के लिए प्रथम अंक में प्रहरी के मन के भय को

---

1. Opera : A dramatic performance in which Music Forms an essential part, consisting of recitatives, arias and Chorores with orchestral accompaniment and Scenery.
(Shorter Oxford Dictionary Vol II p 1374)

अंकित कर सकते हैं— "सुनते हो, कैसी है ध्वनि यह भयावह" और फिर दूसरे प्रहरी का कथन भी—

"बादल नहीं हैं ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों
पाँखें खोले।" (पृ० १४)

गिद्धों का पंख-ध्वनि सुनते ही पुनः स्थिति की गम्भीरता को विश्लेषित करता—

"लो, सारी कौरव नगरी
का आसमान गिद्धों ने घेर लिया।" (पृ० १४)

दृश्य का शब्द-चित्र प्रत्यक्षत चक्षु-पटल पर उपस्थित हो जाता है और फिर तुरन्त ही दूसरे प्रहरी का कहना—

"झुक जाओ, झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिद्ध भूखे हैं।" (पृ० १४)

उस भयावह वातावरण का चित्र अंकित कर देता है। आँधी की ध्वनि के क्षीण हो जाने पर प्रहरी का एक ही वाक्य—"मौत जैसे ऊपर से निकल गयी।" प्रहरी की ठण्डी साँस के साथ उसके मुख की चिन्ता के कणों को सुखाकर किंचित् निश्चिन्तता को मूर्तित कर देता है। यह ध्वनि सौन्दर्य 'अन्धायुग' के पट-परिवेश में सर्वत्र व्याप्त है जिसे संजय, धृतराष्ट्र, गान्धारी, अश्वत्थामा, प्रहरी आदि सभी के संवादों में परिलक्षित किया जा सकता है। स्वरों की यही परिस्थिति और समय-सापेक्ष आरोह-अवरोह से युक्त कम्पन सम्पूर्ण गीति-नाट्य में प्राण-शक्ति का संचार कर देता है। स्वाभाविकता और सहजता के लिए कहीं-कहीं भारती ने शब्दों और अर्द्धवाक्यों की पुनरावृत्ति का प्रयोग भी किया। उदाहरण के लिए अश्वत्थामा—

"वध, केवल वध, केवल वध
मेरा धर्म है
मैं क्या करूँ
मातुल ! मैं क्या करूँ……।" (पृ० ४३, ४४)

इस प्रकार 'अन्धायुग' में नाटकीय परिस्थितियों के अनुसार टोन अपनी परिवर्तन-प्रक्रिया को साधे रखती है जो नाटकीय स्थिति और परिस्थितियों की सापेक्षता के अनुकूल और आवश्यक है।

गीति-नाट्य में भाषा निर्विवाद महत्त्व रखती है क्योंकि भाव-प्रेषणीयता के केन्द्रीय सूत्र की वही संचालिका है। टी० एस० इलियट ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार भाषा न तो इतनी प्राचीन होनी चाहिए कि उसकी बोधगम्यता ही संदिग्ध हो जाए और न कुछ आधुनिक फ्रांसीसी की तरह के वार्त्तालाप से

मिलती-जुलती होनी चाहिए। इसलिए अपनी शैली को उसने तटस्थ (Nuetral) कहा है (T.S. Eliot : Essays of Eliot p. 39)। इस तटस्थता को निर्वाह का परिवेश पहनाने के लिए इलियट ने गीति-नाट्यों में अतुकान्त छन्दों के प्रयोग का आश्रय नहीं लिया, किन्तु आधुनिक संवेदनाओं और समस्याओं के साथ अतीत की कथावस्तु के तारों को समंजित करने के लिए भाषा को कुछ इस प्रकार सतर्कता से ढालना पड़ेगा कि जो दोनों युगों— अतीत और वर्त्तमान को एक बिन्दु पर लाकर सशक्त रूप से व्यक्त करने में समान रूप से समर्थता प्राप्त कर सके। आज के पारिभाषिक शब्दों की सतर्कता और बौद्धिक कुशलता के साथ रक्षा करनी चाहिए। प्रतीकात्मक अर्थ की स्पष्टता व्यंजित करने के लिए 'वैयक्तिक मूल्य', 'अर्द्धसत्य' आदि शब्दों के उन्मुक्त प्रयोग और व्यवहार में किसी की आपत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जब अश्वत्थामा—

> **"वध मेरे लिए नहीं रही नीति**
> **वह है अब मेरे लिए मनोग्रन्थि।"** (पृ० ४४)

कहता है तब उसकी महाभारतकालीन पात्रता का परिवेश उतर जाता है किन्तु इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग 'अन्धायुग' में नगण्य ही है। भाषा-सौन्दर्य और अभिव्यजना-कौशल की दृष्टि से 'अन्धायुग' में बड़ी सशक्त और सांकेतिक पंक्तियाँ यत्र-तत्र परिलक्षित होती हैं—द्वितीय अंक के अन्त में—

> **"यह रात गर्व में**
> **तने हुए माथों की**
> **यह रात हाथ पर**
> **धरे हुए हाथों की।"** (पृ० ४६)

इसके अतिरिक्त प्रतीकों और सशक्त बिम्बों के निर्माण ने इस कृति को अत्यन्त समृद्ध और सशक्तता का अद्भुत गौरव प्रदान किया। युयुत्सु के सम्पूर्ण जीवन की मार्मिक व्याख्या भारती ने एक ही प्रतीकात्मक चित्र से अंकित कर दी—

> **"मैं हूँ युयुत्सु**
> **मैं उस पहिए की तरह हूँ**
> **जो पूरे युद्ध के दौरान रथ में लगा रहा**
> **पर जिसे जब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था**
> **और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ।"** (पृ० ७४)

इसी प्रकार अर्थपूर्ण बिम्ब द्वारा युद्ध में शेष बचे अश्वत्थामा का अर्थपूर्ण विकृत रूप चित्रित किया—

> **"जिस तरह बाढ़ के बाद उतर रही गंगा**
> **तट पर तज जाती विकृत शव अधखाया**
> **वैसे ही तट पर आज अश्वत्थामा को**
> **इतिहासों ने सब नया मोड़ अपनाया।"** (पृ० ४६)

गीति-नाट्य में चरित्र-चित्रण अपेक्षाकृत अधिक कौशल और जागरूकता की आवश्यकता अनुभव करता है। अभी तक 'अन्धायुग' के रूप-विन्यास के विषय में ही चर्चा होती रही। गद्य-नाटकों और गीति-नाट्यों के मध्य एक विभाजक रेखा बड़ी स्पष्ट है। गद्य-नाटकों में नाटकीय स्थितियों और परिस्थितियों की नियोजना करने में जितना अवकाश मिल जाता है उतना अवकाश गीति-नाट्यों में प्राप्त नहीं होता। किसी विशेष स्थिति अथवा परिस्थिति को चित्रित करने के लिए अनुकूल घटनाओं परिवेशों को संगठित करना गीति-नाट्यकार के लिए प्राय: बहुत ही कठिन होता है या यूँ कहना चाहिए कि संभव नहीं है। नाटक की आत्मा का केन्द्रीय सूत्र संघर्ष है और काव्य-रूपक में चूँकि मानव के अन्तर्जीवन का चित्रण प्रमुखता प्राप्त करता है अत: स्वत: ही उसमें बाह्य-संघर्ष के स्थान पर अन्त:संघर्ष की प्रधानता हो जाती है। जो घटनाएँ और स्थितियाँ विविध विरोधी भावों के परस्पर संघर्ष का अवकाश उत्पन्न करती हैं, वे ही काव्य-रूपक में समाहिति के लिए उपयुक्त समझी जाती हैं। गीति-नाट्य में नाटककार का बाह्य-दृश्य विधान की अपेक्षा मानसिक संघर्ष, द्वन्द्व, घात-प्रतिघातों को चित्रित करना ही मुख्यत. लक्ष्य होता है। इन मानसिक द्वन्द्वों, आलोड़न-विलोड़न से उत्पन्न मन:स्थितियों से ही पात्रों के चरित्र की महत्ता का उद्घाटन होता है जिससे पात्रों में नवीन उत्कर्ष के साथ निखार आता-जाता है। क्योंकि यही संघर्ष क्रिया-व्यापार की गतिशीलता, कथा के विकास की प्रक्रिया और चरित्र-चित्रण शैली में प्रयुक्त होकर गीति-नाट्य में सर्वत्र अनुस्यूत हो जाता है। डॉ० श्यामनन्दन किशोर का इस विषय में मन्तव्य सार्थक प्रतीत होता है—"अन्तर्द्वन्द्वों के कुशल चित्रण से चरित्र-चित्रण का शिल्प निखर उठता है। यह द्वन्द्व-चित्रण प्रत्यक्ष भी होता है अप्रत्यक्ष भी। अप्रत्यक्ष चित्रण परिस्थितियो के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को प्रकट करता है *(आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान)*। इसलिए यह आवश्यक है कि चरित्रों के मानसिक संघर्ष के साथ नाटक की कविता और क्रिया-व्यापार के साथ समंजन को परखने के लिए इसी कसौटी से सम्बद्ध कर दिया जाए।

भारती के गीति-नाट्य 'अन्धायुग' में युद्ध की भयानक विभीषिका का विनाशक त्रास अधिक है तो अन्तर्मथन की रेखाएँ भी कम तीखी नहीं। इस गीति-नाट्य के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा के तीव्र उद्वेलन, कृष्ण के गम्भीर चिन्तन, प्रहरियों के पीड़ामय मौन और गान्धारी के वेदना से आक्रान्त पश्चात्ताप में यह संघर्ष सशक्तता से चित्रित है। इसके अतिरिक्त युयुत्सु का आत्मघाती संघर्ष, संजय की तटस्थता का पीड़ामय संघर्ष, धृतराष्ट्र का अन्धसंघर्ष भी अत्यन्त मुखरता के साथ उभरा है। इनके मानसिक संघर्षों के घात-प्रतिघातों के विभिन्न स्तरों को उद्घाटित करते हुए भारती ने सर्वत्र यह ध्यान रखा है कि कहीं भी काव्य-तत्व और क्रिया-व्यापार से मानसिक संघर्ष का सम्बन्ध विघटित न होने पाए। नाटकीय सुसम्बद्धता रहित होने पर काव्यत्व नाटक का अंग नहीं बन पाता। इसलिए काव्य-तत्त्व की सार्थकता नाटकीय सुसम्बद्धता में ही अन्तर्भूत है। युधिष्ठिर के एक अर्द्धसत्य ने अश्वत्थामा के अन्दर जो भी कुछ शुभ था कोमल था उसे

विनष्ट कर डाला और उसे मानव से बर्बर पशु में परिवर्तित कर दिया। अश्वत्थामा की आस्था कुण्ठित होकर मन की विचित्र मनोग्रन्थि बनकर उभर आई, जिसे वह जितना ही सुलझाव की रेखाओं में ढालता, वह उतनी ही उलझनों के चक्रव्यूह में फँसता जाता। अश्वत्थामा कुण्ठा और बर्बरता का वात्याचक्र बना बार-बार पीड़ित होकर वेदना से कराह उठता है—

> **"एक अर्द्धसत्य ने युधिष्ठिर के**
> **मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।"** (पृ० ४२)

केवल वध उसका धर्म बन जाता है, प्रतिहिंसा का ताजा रक्त उसकी नस-नाड़ियों मे प्रवाहित होता है। मानसिक ग्रन्थियों ने उसे विक्षिप्त कर जर्जर कर डाला है। अश्वत्थामा की इन उलझनों में, उसके वक्तव्यों में नाटकीय सुसम्बद्धता को देखा जा सकता है। ऐसा लगता है कि उसकी विभिन्न मन:स्थितियो में विभिन्न प्रकार के क्रिया-व्यापारों को मनोग्रन्थि से पीड़ित तार में पिरोया गया है। उसके मन में ग्लानि, क्षोभ, पीडा, आशा-निराशा, कुण्ठा आदि मनोग्रन्थियों की सुरंगें बिछी हुई है। वह विमंथित अन्तर्मन की विक्षोभ से जड़ित प्रतिमूर्ति है। उसके अन्तर्मन का यही अन्तर्द्वन्द्व, अन्त-सघर्ष सम्पूर्ण गीति-नाट्य में तारतम्य की भाँति गुंथा हुआ है। महाभारत-काल की सम्पूर्ण अनीति, अमर्यादा, पशुता, वर्बरता का प्रतीक रूप बनकर वह हमारे समक्ष उपस्थित होता है। इसलिए वह सामान्य मानसिक स्थिति मे ऊपर उठकर बहुत कुछ असामान्य पात्र (Abnormal Character) की रेखाओं से बँध गया है। भारती ने बडे मनोयोग से अश्वत्थामा के घनीभूत क्षणों को काव्य-तत्त्वों से सन्निविष्ट कर मुखर अभि-व्यक्ति दी। गान्धारी की मानसिक स्थिति भी बहुत कुछ अश्वत्थामा की मन.स्थिति की प्रक्रिया से मेल खाती है। उसकी व्यथा और घोर निराशा इन पंक्तियों से ध्वनित होती है—

> **"माता मत कहो मुझे**
> **तुम जिसको कहते हो प्रभु**
> **वह भी मुझको माता ही कहता है**
> **शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों-सा**
> **मेरी पसलियों में धँसता है।"** (पृ० २२)

सजय से अश्वत्थामा द्वारा किए गए घृणित और वीभत्स कार्यों को सुनकर वह एक प्रकार की आत्मिक सन्तुष्टि का अनुभव करती है। इससे कथानक को गति मिलती है। विषम परिस्थितियों के भँवर में उलझा युयुत्सु हृदय की अथाह ग्लानि और क्षोभ से करुणा का वक्ष फाड़ देता है और आत्मघात की क्रूर छाया में विश्राम पाता है। गान्धारी, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि भी आत्महत्या में ही विश्राम पाते हैं। उनकी आत्महत्या जैसा कि गीति-नाट्यकार ने इगित किया, तत्कालीन युग की समस्त संस्कृति में व्यापक रूप से व्याप्त हो उठी थी

सुदूर अतीत का प्रतिपाद्य होने पर भी 'अन्धायुग' में आधुनिकीकरण का तीव्र स्वर है। आत्महत्या, संशय, विक्षेप और शाप से ग्रसित तत्कालीन कथावस्तु का आधुनिक स्थितियों से समजन कर नाटककार ने अपने गम्भीर चिन्तन-मनन का परिचय देकर एक अन्यतम सिद्धि प्राप्त की है। द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाशक युद्ध के पश्चात् जो अन्धायुग अवतरित हुआ क्या वह महाभारत युगीन अमर्यादा और अनैतिकता से किसी भी स्तर पर कम कहा जा सकता है ? आज दुनिया रक्तपात, कुण्ठा, बर्बरता, कुरूपता, भयंकरता, अन्धापन, निराशा आदि से बुरी तरह आक्रान्त है। गूँगे सैनिक के मर्म को छलनी करने वाली व्यथा आज के परमाणु-युग पर निर्दोष मार्मिक खून के छींटे देकर कटु-व्यंग्य करती है। तत्कालीन कथावस्तु का आज की ज्वलन्त समस्याओं से सामजस्य करने का कार्य प्रहरी युग्म करता है। कहीं पर वे हमारे समक्ष आज के शस्त्रास्त्रों की स्पर्धा करने का व्यंग्यमय संकेत देते हैं तो कहीं निम्न वर्ग की दारुण अपरिवर्त्तनीय स्थिति की ओर इंगित करते हैं। युधिष्ठिर की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित वार्तालाप आज की शासन-व्यवस्था के खोखलेपन की व्यंजना करता है—

> **"शासक बदले**
> **स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं**
> **इससे पहले ही शासक अच्छे थे**
> **अन्धे थे······।"** (पृ० १०७)

विस्तृत विवेचन के उपरान्त स्वतः ही आवश्यक-सा हो जाता है कि 'अन्धायुग' के दोषों को भी परिलक्षित कर लिया जाए जो 'अन्धायुग' की महत्ता पर चोट करते हैं। गीति-नाट्यकार ने 'स्थापना' के अन्तर्गत इस बात का दावा किया है कि 'अन्धायुग' में "यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।" किन्तु कृतिकार का यह दावा सारपूर्ण दृष्टि-गत नहीं होता। इसीलिए श्री नेमिचन्द्र जैन ने कहा है, "निस्सन्देह 'अन्धायुग' की भाववस्तु के अपने अन्तर्विरोध हैं। पूरा नाटक पढ़ चुकने पर ऐसा लगता है कि भारती अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने के प्रयास में अन्धकार में ही उलझे रह गए हैं। पूरे नाटक में ऐसा गहरा निराशा और विवशता का चतुर्दिक लगभग समान मर्यादा-हीनता और अनैतिकता का दम घोंटने वाला वातावरण है कि अन्त में वृद्ध याचक और कथागायक का आशावाद आरोपित लगने लगता है। अश्वत्थामा और कृष्ण या प्रभु को लेखक ने कुछ इस प्रकार से आमने-सामने और बराबरी के साथ रखा है कि यदि गान्धारी के श्राप के बाद कृष्ण की स्वीकृति की प्रतिक्रिया न होती तो ज्योति का शायद एक कण भी नाटक में न रह जाता" *(स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य)*। यदि गम्भीरता से अध्ययन मनन करने के उपरान्त विचार किया जाए तो इससे ध्वनित होता है कि 'अन्धायुग' की विषयवस्तु उनके नाम को ही सार्थकता प्रदान करती है। नाटक के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा और गान्धारी विघटन से त्रसित, निराशा से कुण्ठित, अन्तर्संघर्षों की दावाग्नि से ग्रसित एवं मर्यादाहीन जीवन धाराओं के प्रतिरूप बनकर 'अन्धायुग' के

पृष्ठों पर अंकित हुए हैं। इस गीति-नाट्य में एक भी सशक्त पात्र ऐसा नहीं है जो भावात्मक जीवन-दृष्टि को उन्मुक्त सशक्तता प्रदान कर ज्योति का आलोक-स्तम्भ खड़ा कर सके। विदुर और संजय को दर्शकमात्र की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। युयुत्सु न्याय का पक्ष लेकर भी पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता है और अथाह ग्लानि और क्षोभ से पीड़ित उपेक्षा से आत्मघात कर लेता है। धर्मराज युधिष्ठिर असत्य से समझौता कर लेते हैं। यहाँ तक कि महाप्रभु कहे जाने वाले कृष्ण भी मर्यादा-अमर्यादा के झूले में घड़ी के पैंडुलम की भाँति झूलते हुए अपनी प्रभुता का दुरुपयोग करते हैं। महाप्रभु कृष्ण के माध्यम से कृतिकार जिस ज्योति की कथा को प्रकाशित करना चाहता है वह सम्पूर्ण गीति-नाट्य का अनिवार्य अंग नहीं बन पाई इसलिए ज्योति की कथा कुण्ठित होकर बहुत कुछ दब जाती है। समस्त कृति में लेखक का दृष्टिकोण स्पष्टतः व्यंजित नहीं हो पाता कि इन व्यक्तियों में कौन-से मूल्यों का तिरोभाव हुआ, जिससे वे अवरुद्ध हो गए एवं वह कौन-सी मर्यादा है जिसके उल्लंघन के परिणामस्वरूप महाभारत की विनाशक ताण्डव लीला ने इतिहास के पृष्ठों को अपने रक्त से लाल बनाया। कृति के प्रारम्भ से अन्त तक गीति-नाट्यकार ने 'मर्यादा' शब्द को उल्लेखित किया किन्तु कहीं भी इसके रूप की विवेचना और इसमें समाहित जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं समझी।

'अन्धायुग' प्रतीकात्मक दृश्य काव्य है। यह पहले कहा जा चुका है, पात्र मन-स्थितियाँ, स्थितियाँ, वस्तुएँ, वातावरण, उद्देश्य, नामकरण, शीर्षक सभी कुछ प्रतीकात्मकता की सशक्त अभिव्यंजना करते हैं इसलिए स्वतः ही प्रतीकों की बहुलता है। विविध प्रतीकों के मध्य केन्द्रीय प्रतीक 'अन्धायुग' या 'अन्धीयुग-दृष्टि' प्रतीकों की शृंखला को एक क्रम में पिरोकर एक सूत्र में नहीं गूंथ पाता। केन्द्रीय प्रतीक अन्य प्रतीकों की समष्टि को अभिव्यक्ति न देकर उन्हीं के समान बनकर रह गया है, जबकि उसे अपने महत्त्व की विशिष्टता को तीव्रता से व्यंजित करना चाहिए। वह बार-बार आवृत्ति से अलंकृत करने पर ही व्यंजित होता है।

समासतः परिशीलन कर हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण रूप में 'अंधायुग' प्रथम सफल गीति-नाट्य है जो नवीन दिशा का सूचक बनकर हिन्दी गीति-नाट्य-परम्परा के विकास में अद्यतन चरण रखते हुए अपने उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण योगदान से एक नवीन और स्वस्थ मोड़ देता है। बिम्बों और प्रतीकों की सजीव योजना, नाटकीय निर्वाह की प्रभान्विति, कथानक की उत्कृष्टता, अभिनयात्मकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या और गहन भावाभिव्यक्ति, संवादों की गीतिमयता, कार्य-व्यापार की तीव्रता, कल्पना-समृद्धि, अनुकूल कथा-गायन की योजना, प्रहरियों की नवीन प्रभावपूर्ण योजना, अभिव्यंजना-शैली एवं काव्य-तत्त्व की दृष्टि से भारती की यह कृति अद्यतन है जो हिन्दी गीति-नाट्य साहित्य की एक विशिष्ट, श्रेष्ठ और उत्कृष्ट परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है ☐

वस्तु-संयोजन का इतिहास

हिन्दी काव्य-जगत में जयशंकर प्रसाद की कामायनी के पश्चात् दिनकर की उर्वशी का अवतरण हिन्दी के चिन्मय विकास में एक युगान्तकारी घटना है। उर्वशी में भी कामायनी की भाँति मानसिक वृत्तियों की कथा है। घटनाएँ प्रत्यक्ष धरातल पर घटित न होकर सूचित होती हैं। Mith and Reality में उर्वशी के जैविक कार्य-फलन का उल्लेख प्राप्त होता है। डॉ० कौशाम्बी ने जैविक शक्तियों का विकास आगे चलकर किस कथा में किस प्रकार होता है इसको व्याख्यायित किया तथा जैविक शक्तियों की विकास-प्रक्रिया को सामाजिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी रखकर देखा-परखा है। दिनकर ने उर्वशी की भूमिका में लिखा, "कला, सुरुचि, सौन्दर्य-बोध और प्रेम, इनका जन्म जैव धरातल पर होता है, किन्तु सार्थकता उनकी तब सिद्ध होती है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करते हैं।" 'पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन गुह्य लोको मे प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष मे विचरण करता है। पुरुरवा के भीतर देवत्व की तृषा है। इसलिए मर्त्यलोक के नाना सुखो में वह व्याकुल और विषण्ण है।"

यहाँ उद्धृत पहले उदाहरण में जैव धरातल और द्वितीय उदाहरण में शरीर का धरातल है। प्रत्येक युग में यह सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के अनुरूप रूपांतरित होता रहता है। इसी जैव धरातल को दिनकर ने उदात्त बनाने का प्रयास किया है। ऐन्द्रिय आकांक्षा जैविक है और मनुष्य निरन्तर उसे उदात्त बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है। जैविक शक्ति को उदात्त बनाने के कई स्तर हो सकते हैं किन्तु दो रूपों से हम अधिक परिचित हैं—धर्म और दर्शन। जैसे-जैसे सामाजिक विकास होता गया वैसे-वैसे दाम्पत्य भावना का विकास होता गया। यह उदात्त आभिजात्य का धरातल है जिसमे मर्यादा संयम, एक के प्रति अपने को अर्पित कर देने की पीड़ा है। यह धर्म का धरातल है। धर्म से प्रेरित होकर मनुष्य ने अपनी यौन अनुभूति को आभिजात्य धरातल दिया। दूसरा धरातल मनोवैज्ञानिक दार्शनिक है। इसमें स्वच्छन्द यौनाचार मानसिक धरातल पर ग्रहण किया जाता है और उसे दार्शनिक धरातल देकर उदात्त बनाया जाता है। इसलिए जहाँ भी दार्शनिक धरातल पर कविता चरितार्थ होने लगती है वहाँ समाज से

उसका सम्बन्ध धीरे-धीरे टूटने लगता है। इसलिए किसी भी कविता में दूसरा आधिक्य नहीं होना चाहिए।

सभी स्वच्छन्दतावादियों (Romantics) की यह दृष्टि थी कि वे स्त्री-पुरुष के आकर्षण को एक ओर दार्शनिक और दूसरी ओर दर्शन के कोण से उदात्त बनाने का प्रयत्न करते है। ये प्रेम की दो संकल्पनाएँ है। दिनकर ने इन्हें जानने-परखने का प्रयास किया है। दाम्पत्य और स्वच्छन्द प्रेम की दो धारणाएँ वर्त्तमान है। फलतः इनमें दो धारणाओं की भूमिका होनी चाहिए। उर्वशी इन्हीं धारणाओं की सूक्ष्म मानसिक धरातल पर संकल्पनाओं की कथा है। दिनकर आभिजात्य और रोमानी संवेदना के बीच से किसी तीसरी संवेदना को उपार्जित करने के आग्रही रहे हैं। प्रेम की आभिजात्य रोमानी धारणा को समानांतर प्रस्तुत करके तीसरे को खोजना ठीक है। इन दोनों संकल्पनाओं का जितना तनाव होगा उसी के अनुसार कथा-विधान निर्मित होगा।

प्रथम अंक में मेनका, रंभा और सहजन्या के संवादों में दिनकर ने मौलिक समस्या को उठाया है। रंभा धीरे-धीरे चित्रलेखा, मेनका के तर्कों से विश्वस्त होती है कि स्वच्छन्द प्रेम की अपेक्षा एक के प्रति समर्पित प्रेम गरिमामय है—

हम भी हैं मानवी कि ज्यों ही प्रेम उगे, रुक जायें
मिले जहाँ भी दान हृदय का, वहीं मग्न झुक जायें ?
प्रेम मानवी की निधि है अपनी तो वह क्रीड़ा है
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।"　　(पृ० १५)

दिनकर यहाँ उर्वशी की मूल समस्या की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। वह पहले दैवी और मानवीय संवेदना के बीच एक संवाद चलाते हैं। पहले में दैवी प्रेम मात्र स्वाद होता है किन्तु मानवीय प्रेम स्वाद न होकर आकुल-पीड़ा है। दिनकर ने दैवी पीड़ा को मानवीय पीड़ा से जोड़कर एक मूल्य के साथ जोड़ा है। वस्तुतः किसी भी भावना में जब पीड़ा होती है तब वह मूल्य को प्राप्त करती है।

द्वितीय अंक में उर्वशी देवलोक को त्याग कर नीचे धरती पर आती है। वह मानवीय धरातल पर पुरुरवा से प्रेम करती है। दूसरी ओर औशीनरी पुरुरवा के प्रति—

"हाँ अनोखी साधना है,
अप्सरा के संग रमना ईश की आराधना है
पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुंज वन में
और मैं आराधना करती रहूँ सूने भवन में
कितना विलक्षण न्याय है !
कोई न पास उपाय है !
अवलंब है सबको, मगर नारी बहुत असहाय है।"　　(पृ० ३९)

कटु वाक्य कहती है। पुरुरवा के प्रति एकनिष्ठ और पूर्ण समर्पित होकर भी उसे इसी बात का आश्चर्य है कि उसके स्वामी अप्सरा के साथ उन्मुक्त भोग-विलास को ईश्वर की

आराधना की संज्ञा देते हैं। सब बातों से परिचित होते हुए भी औशीनरी का वही भारतीय नारी का परम्परागत रूप सामने आता है जिसके आँचल में दूध और आँखों मे पानी भरा रहता है। औशीनरी इस बात को स्वीकार करती है कि यही नारी की नियति है जिसके आगे वह विवश है। मूक होकर इस असहनीय पीड़ा को सहने के अतिरिक्त उसके पास और कोई मार्ग शेष नहीं। इतना सब होने पर भी औशीनरी भारतीय नारी की गरिमा का परित्याग नही करती और प्रियतम के पथ में बिछ जाना चाहती है---

> **"तब भी मरुत अनुकूल हों**
> **मुझको मिलें जो शूल हों**
> **प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फूल हों।"** (पृ० ३९)

औशीनरी निरन्तर इस प्रयत्न में लगी रहती है कि किसी भी प्रकार से अपने दाम्पत्य प्रेम को बनाये रखे। दूसरी ओर उर्वशी अपने प्रेम को प्राप्त करना चाहती है। दोनो की पीड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि औशीनरी की दाम्पत्य प्रेम की पीड़ा और उर्वशी की स्वच्छन्द प्रेम की पीड़ा दोनों प्रतिपक्ष हैं। "प्रणयिनी उर्वशी के लिए तप्त शोणित ही सत्य है जबकि औशीनरी के लिए पति की कल्याण-कामना—यह स्थिति का भेद है।" *(डॉ० पद्म सिंह शर्मा कमलेश : हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन, सं० यश गुलाटी, पृ० ७८५)* स्वभावतः इस प्रतिपक्ष का प्रबल घात-प्रतिघात इस कथा में होना चाहिए किन्तु तृतीय अंक इतने उत्सव के साथ आता है कि दाम्पत्य प्रेम की पीड़ा पर तीव्र आघात करता है। तत्पश्चात् चतुर्थ अंक मे सुकन्या तथा चित्रलेखा के संवादों में स्वच्छन्द प्रेम के प्रतिपक्ष के रूप में दाम्पत्य प्रेम पुनः उभरता है किन्तु पचम अंक में दोनो रेखाएँ (स्वच्छन्द प्रेम की पीड़ा एवं दाम्पत्य प्रेम की पीड़ा) पुरुरवा के वैराग्य में घुल-मिल जाती है।

उर्वशी में तृतीय अंक का अनुपात सबसे बड़ा है। दिनकर की सबसे अधिक शक्ति यही पर व्यय हुई है। ऐसा लगता है कि दिनकर अपनी काव्य-शक्ति का उपयोग ठीक नहीं कर पाए। होना यह चाहिए था कि दाम्पत्य और स्वच्छन्द प्रेम के वीच जहाँ संघर्ष, तनाव है, उन बिन्दुओं पर दिनकर को अपनी काव्य-शक्ति का उपयोग करना चाहिए था। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उनके पास काव्य-शक्ति नहीं है किन्तु दिनकर ने गलत बिन्दुओं पर अपनी शक्ति का प्रयोग किया है। इसलिए इसका संघर्ष हमारी संवेदना को अपनी ओर नही खींचता। दिनकर ने स्वछन्द और दाम्पत्य प्रेम के तनावपूर्ण बिन्दुओं को नहीं खोजा। उन्होंने स्वच्छन्द प्रेम को दार्शनिक आलोक में और दाम्पत्य प्रेम को सामान्य नैतिक भावुकता से निरन्तर प्रभावित किया है। स्वच्छन्द और दाम्पत्य प्रेम के बिन्दुओं को पहचानने में दिनकर चूक गए हैं। किसी भी कवि के लिए आवश्यक है कि वह कथा-विधान या उद्देश्य मे उन बिन्दुओं को पहचाने जो वास्तविकता को उभारकर वाचक के सामने रख दे। वास्तविकता को उभारने के स्थान पर दिनकर एक की दार्शनिक और दूसरे की नैतिक व्याख्या करने लगते हैं इसलिए संघर्ष और तनाव

न होने के कारण उर्वशी का कथा-विधान शिथिल एवं विश्रृंखलित है।

पंचम अंक में आयु के राज्याभिषेक से कृति का अन्त होता है। इस अन्त से इस रचना की मुख्य समस्या दब जाती है। कृति के अन्त में जो स्वाभाविक परिणति होनी चाहिए थी वह न होकर प्रस्तुत परिणति आरोपित लगती है। आयु का राज्याभिषेक कथा की समस्या से अलग है। यह परिणति को सुखद रूप में चित्रित करने के लिए किया गया है। कृति का यह अंत एवं तृतीय अंक की बोझिल दार्शनिक व्याख्या स्वच्छन्द और दाम्पत्य प्रेम को धूमिल बनाने के साथ-साथ कथा-विधान को और भी शिथिल बना देती है। दिनकर यदि चाहते तो आधुनिक मानव के तनाव को खुलकर अभिव्यक्ति दे सकते थे किन्तु नहीं दे पाए। 'मोहन राकेश' के नाटक 'लहरों के राजहंस' की भाँति उर्वशी में परिस्थितियों का प्रबल-आग्रह नहीं है। जगह-जगह कवि रचना मे प्रवेश कर हस्तक्षेप करता है। वह रचना पर हावी होने लगता है तभी कथा टूट जाती है। उर्वशी ने एक व्यक्तित्व तीसरे अंक में धारण किया है बाद में कुछ देर के लिए दिनकर उसे अपना धरातल देना चाहते हैं जिस कारण उर्वशी का व्यक्तित्व दब जाता है। इसीलिए हम निःसंकोच कह सकते हैं कि वैचारिक धरातल पर अधिक हस्तक्षेप होने के कारण वे परिस्थितियों का ठीक निर्माण नहीं कर पाए। चूँकि दिनकर को आधुनिक मानव के अनुभव की पहचान नहीं है इसी कारण कृति का कथा-विधान शिथिल हो गया।

रचना का कथा-विधान शिथिल होने के साथ-साथ पुरानी मान्यताओं पर आधारित है। प्रश्न उठता है कि पुरानी मान्यताओं पर आधारित होकर भी क्या यह ठीक है? यह गैर आधुनिक नहीं, काव्यात्मक कथा का निर्माण भी नहीं। गैर आधुनिक का अंत समस्या से जुड़ा होता है। यदि दिनकर (स्वच्छन्द प्रेम एवं दाम्पत्य प्रेम) में से किसी एक की विजय दिखाते तो पुरानी मान्यता ठीक होती। यहाँ दोनों में से एक की भी विजय-पराजय न दिखाकर मानव-विकास में एक छल-युक्त मंगलदायक अंत प्रस्तुत किया है। दिनकर ने कथा के शिल्प की नयी-पुरानी मान्यता को धोखा दिया। पुरुरवा के वियोगी होने की समस्या (स्वच्छन्द प्रेम एवं दाम्पत्य प्रेम) से क्या सम्बन्ध? कृति का अंत समस्या से नहीं जुड़ा हुआ। यहाँ समस्या के चरम तनाव की स्थिति होनी चाहिए थी— आधुनिक मान्यताओं के अनुसार दोनों पक्षों का सामञ्जस्य अथवा एक की विजय दिखायी देनी चाहिए थी किन्तु यहाँ ऐसा कोई भी रूप विद्यमान नहीं है। रचना का अंत अनायास (At-Random) है। जो अंत रचना का होना चाहिए था वह अंत नहीं है। दिनकर अपने मंतव्यानुसार कृति का अंत करते हैं। कृति का मंगलदायी अंत कथा-समस्या को प्रवंचित करने के साथ-साथ दिनकर के कवि व्यक्तित्व को भी प्रवंचित करता है।

कथा-प्रवाह की दृष्टि से भी उर्वशी का कथानक अधिक सफल नहीं है, कारण, कृतिकार का ध्यान कथावस्तु पर केन्द्रित न होकर अपने विचारों पर केन्द्रित है। परिणामतः कथा का अंत उलझ गया है और कोई स्पष्ट समाधान नहीं प्राप्त होता। कवि स्वयं नये-पुराने समर्थों के बिन्दु खोजने में उलझा रहता है समस्या के प्रबल रूप धारण

कर लेने पर मूल कथा-बिन्दु का उपेक्षित हो जाना स्वाभाविक है। समस्या पर ध्यान केन्द्रित होने से कथानक का सामञ्जस्य शिथिल एवं विशृंखलित हो गया है।

कथा में विचार-शबलता जहाँ वस्तु-संयोजन के सहज संचालन में बाधक होती है वहाँ यह तथ्य भी असंदिग्ध है कि रचना का वस्तु-आधार यदि पौराणिक-ऐतिहासिक ताने-बाने से जुड़ा है तो लेखक की विचार-अतिशयता उस पर कुछ इस तरह हावी हो जाती है कि इतिहास धूमिल होने लगता है—लेकिन 'उर्वशी' में इतिहास-पुराण का अपना एक महत्त्व तो है ही, जिसका विश्लेषण आवश्यक है—

काव्य में वर्णित कथा पात्र अथवा स्थानों के ऐतिहासिक समीक्षण से पूर्व मानस मे यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कवि दिनकर ने इस 'नाट्य-काव्य'[1] के लिए कथा के इसी आधार को क्यों अपनाया ? विचारात्मक तर्क एवं अनुभूतियों के पश्चात् निम्न तथ्य एवं सत्य प्रकाश में आए—

(क) कवि का मूल उद्देश्य नर-नारी के मानस में उद्दाम वेग से आलोड़न करने वाले वेदादि में वर्णित काम-भाव[2] की विस्तृत व्याख्या करना था जिसके लिए तदनुकूल किसी ठोस एवं आदर्श ऐतिहासिक कथानक का आधार लेना आवश्यक था।

दिनकर ने काम के इस मूल तत्त्व का अपनी 'भूमिका'[3] में भी विस्तृत स्पष्टीकरण किया है।

---

१. *हमारी दृष्टि से यहाँ उर्वशी को मताकाव्य की परिधि में न रखकर 'नाट्य-काव्य' की श्रेणी में रखना अधिक समीचीन है।*

२ *कामः तदग्रे समवर्त्तताधि······।* —**ऋग्वेद**

× × ×

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । —**मनु स्मृति**

× × ×

कामः सर्वमयः पुंसां स्व-संकल्प-समुद्भवः
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते, लीयन्ते वृद्धिमागताः। —**शिव पुराण**

× × ×

धर्मादर्थः अर्थतः कामः, कामाद् धर्म फलोदयः। —**पद्म पुराण**

× × ×

यथा पुण्यं-फलम् कष्टात् कामः धर्मार्थयोः वरः। —**महाभारत**

३. *"देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी के प्रेम के भीतर से भी निकलती है।"—"इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।"······"जीवन मे सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं।" "पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता*

(ख) जिस प्रकार प्रसाद ने कामायनी के आधार पर मनु तथा श्रद्धा की विस्मृत कथा को बहुर्चाचित बना दिया था उसी प्रकार सम्भवतः दिनकर के मानस में भी इस भाव की ठोस सत्ता विद्यमान थी कि मैं पुरुरवा तथा उर्वशी के विस्मृत आख्यान का पुनराख्यान करूँ।

(ग) कथा को ऐतिहासिकता की कूँची द्वारा बहुरंगी चित्र उपस्थित करने से पाठक को कवि का लक्ष्य जानने में सरलता हो जाती है। उसे बुद्धि का आयाम-व्यायाम नहीं करना पड़ता।

(घ) 'उत्पाद्य-कथा'[1] की अपेक्षा वेदादि में आई हुई कथाओं को काव्य का माध्यम देकर हिन्दी वाङ्मय की अभिवृद्धि करना।

मूल जिज्ञासा का शमन करने के पश्चात् अब उर्वशी-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को भी देख लेना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में 'उर्वशी' की भूमिका दर्शनीय है—

"पुरुरवा और उर्वशी की कथा कई रूपों में मिलती है और उसकी व्याख्या भी कई प्रकार से की गई है।"

"राजा पुरुरवा सोमवंश के आदि पुरुष हैं। उनकी राजधानी प्रयाग के पास प्रतिष्ठान पुर में थी। पुराणों में कहा गया है कि जब मनु और श्रद्धा को सन्तान की इच्छा हुई, उन्होंने वशिष्ठ ऋषि से यज्ञ करवाया। श्रद्धा की मनोकामना थी कि वे कन्या की माता बनें, मनु चाहते थे कि उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हो। किन्तु, उस यज्ञ से कन्या ही उत्पन्न हुई। पीछे, मनु की निराशा से द्रवित होकर वशिष्ठ ने उसे पुत्र बना दिया। मनु के इस पुत्र का नाम 'सुद्युम्न' पड़ा।"

"युवा होने पर सुद्युम्न, एक बार, आखेट करते हुए किसी अभिशप्त वन में जा निकले और शापवश, वे युवा नर से युवती नारी बन गए और उनका नाम 'इला' हो गया। इसी इला का प्रेम चन्द्रमा के नवयुवक पुत्र बुध से हुआ, जिसके फलस्वरूप, पुरुरवा की उत्पत्ति हुई। इसी कारण, पुरुरवा को ऐल भी कहते हैं और इनसे चलने वाले वंश का नाम चन्द्रवंश है।"

"उर्वशी की उत्पत्ति के विषय में भी दो अनुमान हैं। एक तो यह कि जब अमृत मंथन के समय समुद्र से अप्सराओं का जन्म हुआ तब उर्वशी भी उनके साथ जनमी थी।

वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन और गुह्य लोकों में प्रवेश करता है, रस के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है।" आदि।

1. *दशरूपक में कथावस्तु के आधार के सम्बन्ध से तीन भेद किए गए हैं—*

प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कवि कल्पितं॥
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्याम्, दिव्यमर्त्यादिभेदतः

दशरूपक १ १५ १६

दूसरा यह कि नारायण ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने के निमित्त जब इन्द्र ने उनके पास अनेक अप्सराएँ भेजीं, तब ऋषि ने अपने उरू को ठोककर उसमें से एक ऐसी नारी उत्पन्न कर दी जो उन सभी अप्सराओं से अधिक रूपमती थी। यही नारी उर्वशी हुई और उर्वशी नाम उसका इसीलिए पड़ा कि वह उरू से जनमी थी।"

"भगीरथ की जाँघ पर बैठने के कारण गंगा का भी एक नाम उर्वशी है। देवी भागवत के अनुसार बदरीधाम में जो देवी-पीठ है, उसे उर्वशी-तीर्थ कहते हैं। नर-नारायण की तपस्या-भूमि बदरीधाम में ही थी। सम्भव है उर्वशी-तीर्थ उसी का स्मारक हो।"

"इस कथा का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद[1] में मिलता है, किन्तु उस सूक्त से इतना ही विदित होता है कि उर्वशी पुरुरवा को छोड़कर चली गई थी और विरहोन्मत्त पुरुरवा उसके सन्धान में थे। एक दिन उर्वशी जब उन्हें मिली, उसने यह बताया कि वह गर्भवती है, किन्तु, लौटकर फिर उनके साथ रहना उसने अस्वीकार कर दिया। पीछे चलकर शतपथ ब्राह्मण में और उनके आधार पर, पुराणों में इस कथा का जो पल्लवन हुआ उसमें कहा गया है कि उर्वशी के गर्भ से पुरुरवा के छः पुत्र हुए थे, जिनमें सबसे बड़े का नाम आयु था।"[2]

पुरुरवा एवं उर्वशी-सम्बन्धी उपरोक्त कथा के आधार को प्राण-चेतना में अवस्थित करके अब यह परीक्षण करना है कि 'उर्वशी' में वर्णित पात्र, स्थान एवं घटनाएँ किस सीमा तक इतिहास-सम्मत हैं और किस सीमा तक कल्पना जन्य।

पुरुरवा-उर्वशी :

'उर्वशी' के अनुसार पुरुरवा ऐतिहासिक पुरुष है क्योंकि वेदों से लेकर पुराणों तक उसका अभिलेख है। ये ऐल[3] एवं सोमवंश के आदि पुरुष[4] थे। उनकी राजधानी प्रयाग

---

१. *पुरुरवः ! पुनरस्तं परेहि,*
दुरापना वात इवाहमस्मि। —**ऋग्वेद**

२ उर्वशी : भूमिका : क।

३ (क) *"इलापुत्र मैं पुरू पदों में नमस्कार करता हूँ।"*
—**उर्वशी : पंचम अंक : पृ० १४०**

(ख) *"देवि ! दिव्य यह ऐलवंश क्या आगे नहीं चलेगा।"*
—**उर्वशी : द्वितीय अंक : पृ० ४०**

४. *"जैसे तूने प्रणय-तूलिका और लौह-विशिखों से*
ओजस्वी आख्यान आत्म जीवन का आज लिखा है,
वैसे ही कल चन्द्रवंश वालों के विपुल हृदय में
लौह और वासना समन्वित होकर नय करेंगे।

के पास प्रतिष्ठान पुर[1] में थी। आपकी पटरानी का नाम औशीनरी था। पुरुरवा का देवलोक की अप्सरा उर्वशी से प्रेम हो गया था। प्रेम किस पृष्ठ-भूमि में हुआ, इसमें परस्पर भेद है। दिनकर का विचार है कि एक बार उर्वशी अपनी सखियों के साथ कुबेर के घर से निकलकर सुरलोक जा रही थी कि एक दैत्य बाज के समान आया और उर्वशी को अपनी बाँहों में भरकर उड़ चला वहाँ पुरुरवा ने अपने भुजबल से उर्वशी को उस दैत्य से मुक्त किया।[2] यहीं परस्पर-दर्शन से दोनों में प्रेम-भाव का उदय हो जाता है। इस विषय में 'हिन्दी कथा-कोष' में भी उल्लेख मिलता है[3] किन्तु, इतना तो सत्य स्वीकार्य है कि पुरुरवा-उर्वशी प्रेमी थे लेकिन इनका प्रेम किस घटना क्रम में हुआ था, यह कल्पना-जन्य है जिसे हर कवि ने अपने-अपने दृष्टिकोण से व्यक्त कर दिया है। दिनकर जी ने दैत्य द्वारा उर्वशी के अपहरण की इस घटना को महाकवि कालिदास कृत नाटक 'विक्रमोर्वशीय' से लिया है।

उर्वशी के अभाव में पुरुरवा बड़े व्याकुल रहने लगे। एक दिन शाप-वश[4] उर्वशी

अतुल पराक्रम के प्रकाश में भी यह नहीं छिपेगा
ताराहर विधु के विलास से ये मनुष्य जनमे हैं।"

—**उर्वशी : पंचम अंक : पृ० १४८-४९**

१. *"राजा पुरुरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के समीप एकान्त पुष्प-कानन।"*
—**उर्वशी : प्रथम अंक : पृ० ५**

२. *"लौट रही थी जब, इतने में एक दैत्य ऊपर से*
टूटा लुब्ध श्येन-सा हमको त्रास अपरिमित देकर
और तुरत उड़ गया उर्वशी को बाँहों में लेकर।"

—**उर्वशी : प्रथम अंक : पृ० १२**

३. *"एक बार इन्द्र की सभा में नृत्य करते हुए उर्वशी पुरुरवा पर मुग्ध हो गई।"*
—**हिन्दी कथा कोष : पृ० १८**

४. च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या पुरुरवा से कहती है—
"महाराज! उर्वशी मानवी नहीं, देव बाला थी;
चक्षुराग जब हुआ आपसे, उस विलोम हृदया ने
किसी भाँति कर दिया एक दिन कुपित महर्षि भरत को
और भरत ने ही उसको यह दारुण शाप दिया था।
भूल गई निज कर्म लीन जिसके स्वरूप चिन्तन में,
जा, तू बन प्रेयसी भूमि पर उसी मर्त्य मानव की
किन्तु न होंगे तुझे सुलभ सब सुख गृहस्थ नारी के
पुत्र और पति नहीं पुत्र या केवल पति पाओगी

पुरुरवा के पास चली आती है। उर्वशी के शाप के सम्बन्ध में भी यद्यपि विभिन्न जनश्रुतियाँ[1] हैं किन्तु विद्वानों की मति में[2] यह कवि की मधुर कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दोनो दीर्घकाल तक साथ रहे। परस्पर सहरमण से उर्वशी के 'आयु' नामक एक पुत्र[3] जन्म लेता है। यद्यपि पुराणों के आधार पर कहा गया है 'कि उर्वशी के गर्भ से पुरुरवा के छह पुत्र हुए',[4] अतः यहाँ दिनकर ने उर्वशी की कोख से एक पुत्र का जन्म दिखाकर इतिहास से थोड़ा परे हट कर काव्य का प्रणयन करने की चेष्टा की है। जब पुरुरवा अपने पुत्र का साक्षात्कार कर लेता है तो भरत-शाप के कारण उर्वशी इन्द्रलोक चली जाती है और पुरुरवा आयु को अपना राज्य सौंपकर तपस्वी (प्रव्रज्या) बनकर वनों में चला जाता है। जब कि विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के चले जाने पर भी इन्द्र की आज्ञा से राज्य करते हुए दिखाया गया है। इसमें सत्य कौन है इसका निर्णय अभी विद्वत् जन नहीं कर सके हैं।

सो भी तब तक ही जिस क्षण तक नही देख जाएगा
अहंकारिणी! तेरा पुत्र तुझ से उत्पन्न तनय को।"

—उर्वशी : पंचम अंक : पृ० १४४

१. *"एक बार इन्द्र की सभा में नृत्य करते हुए वह राजा पुरुरवा पर मुग्ध हो गई जिससे उसका ताल भंग हो गया। इस पर इन्द्र ने उसे मर्त्य-लोक मे जन्म ग्रहण करने का शाप दिया। उर्वशी ने पुरुरवा का पत्नीत्व इस शर्त्त पर स्वीकार किया कि यदि वह राजा को नग्न देख ले अथवा वे यदि उसकी इच्छा के विरुद्ध समागम करें, अथवा उसके दो मेष यदि स्थानान्तरित कर दिए जाएँ तो वह उन्हें छोड़कर पुनः स्वर्गलोक चली जाएगी। दोनों दीर्घकाल तक साथ रहे......पर उर्वशी की अनुपस्थिति उधर गन्धर्वों को बहुत खलती थी और उन्होंने विश्ववसु नामक एक गंधर्व को उर्वशी के मेषों को चुराने के लिए भेजा। उस समय पुरुरवा नग्न थे और मेषों को चुराने की आहट पाकर वे उसी दशा में उनके पीछे दौड़े। इस अवसर पर गंधर्वों ने सर्वत्र प्रकाश कर दिया जिससे उर्वशी ने महाराज को नग्न रूप में देख लिया। सारे बन्धन टूट जाने पर उर्वशी पुन. शाप मुक्त होकर स्वर्गलोक चली गई।"*

—हिन्दी-कथा-कोष : पृ० १८

२. *डॉ० नानू राम व्यास : संस्कृत साहित्य की रूप रेखा : कालि० : विक्रमोर्वशीय।*

३. *"च्यवनाश्रम की तपोभूमि मे तभी 'आयु' जनमा था*
मुझ में स्थापित महाराज के तेज पुंज पावक से।"

—उर्वशी : पंचम अंक : पृ० १४२

४. *उर्वशी : भूमिका : पृ० : क।*

ऋषिच्यवन-सुकन्या :

यद्यपि ऋषिच्यवन और सुकन्या ऐतिहासिक पात्र हैं किन्तु उर्वशी-जात 'आयु' का उनके आश्रम में सुकन्या द्वारा लालन-पालन कवि-कल्पित प्रतीत होता है। "ऋग्वेद में च्यवन और अश्विनी कुमारों का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार इनकी माता फलोमा और पिता भृगु थे। 'च्यवन' का शब्दार्थ है 'गिरा हुआ'। कहा जाता है, जब इनकी माँ गर्भवती थी तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। द्रवीभूत हो राक्षस ने उनको सद्य-जात पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम च्यवन हुआ। च्यवन बहुत बड़े ऋषि हो गए। एक बार नर्मदा-तट पर घोर तप करते हुए ये बहुत दिनों तक समाधिस्त रहे। इनके सारे शरीर को दीमकों ने ढक लिया केवल आँखें ही चमकती रही। उनके इस आश्रम में एक बार शर्याति की कन्या सुकन्या पहुँची और इनकी आँखों को जुगनू समझकर खोद दिया जिससे आँखों से रक्त बहने लगा। राजा शर्याति क्षमा माँगने आए, पर स्त्री-रूप में सुकन्या को देने पर ही च्यवन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए।"[1]

उपरोक्त संदर्भ से एक बात स्पष्ट होती है कि कवि ने यद्यपि कथा का आधार यही लिया है किन्तु कवि-कल्पना के आधार पर कुछ मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। यथा सुकन्या ने च्यवन-ऋषि की आँखों को खोदा नहीं था अपितु केवल उसकी पलकें खींची थी—

> **"डरी नहीं मैं? हाय, चित्रलेखे! कौतुहल से ही**
> **मैंने-तनिक पलक खींची थी ध्यान मग्न मुनिवर की।"** *(पृ० १११)*

दूसरे, च्यवन ने सुकन्या को स्त्री-रूप में शर्याति से न माँगकर स्वयं सुकन्या से प्रार्थना की थी—

> **"वरण करोगी मुझे? तुम्हारे लिए जरा को तजकर**
> **शुभे! तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा**
> **प्रौढ़ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुंजर सा।"** *(पृ० ११८)*

च्यवन-ऋषि का पुनः यौवन-सम्पन्न हो जाना ऐतिहासिक है। "च्यवन अतिवृद्ध और जीर्ण काय थे। सब लोग सुकन्या पर हँसते थे। एक बार च्यवन के बुढ़ापे की हँसी उड़ाकर अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को विचलित करना चाहा। कुमारों ने उसके सतीत्व की परीक्षा ली। एक बार च्यवन को अश्विनी कुमारों द्वारा एक सरोवर में स्नान कराया गया। दिव्य देह धारण किए हुए ये सब एक ही रूप धारण किए हुए निकले। सुकन्या को उनमें से एक को चुनने के लिए कहा गया। उसने इन्हीं को चुना। इससे कुमार सुकन्या से अत्यन्त प्रसन्न हुए और दिव्य औषधी से च्यवन को स्थायी यौवन प्रदान किया।"[2]

---

१. *हिन्दी-कथा-कोष : च्यवन : पृ० ७०*

२ वही पृ० ७०

यद्यपि उपरोक्त प्रसंग में भी कथा के उपस्थापन में अन्तर है किन्तु च्यवन-ऋषि के यौवन-सम्पन्न होने की बात पूर्ण ऐतिहासिक है। सुकन्या के आश्रम में चित्रलेखा, उर्वशी का आना, आयु का जन्म, लालन-पालन तथा सुकन्या द्वारा आयु को पुरुरवा के राजदरबार में ले जाना उत्पाद्य है क्योंकि इतिहास में इसके प्रमाण नहीं मिलते।

अन्य-पात्र :

उपरोक्त चार पात्रों के अतिरिक्त 'उर्वशी' में कुछ अन्य-पात्र भी आए हैं जैसे— चित्रलेखा, रंभा, मेनका, सहजन्या आदि उर्वशी की सखियाँ तथा ज्योतिषी विश्वमना।

चित्रलेखा, रंभा, मेनका तथा सहजन्या इन्द्रपुरी की अप्सराएँ हैं, ये ऐतिहासिक सत्य हैं किन्तु काव्य में उनके संवाद कवि-कल्पना-प्रसूत है। 'ज्योतिषी विश्वमना' कल्पित पात्र है। इस पात्र का प्रणयन केवल कथा में औत्सुक्य उत्पन्न करने के लिए किया गया है।

इस प्रकार उर्वशी का कथा-वृक्ष तो ऐतिहासिक है किन्तु उसमें लगे हुए पत्र-पुष्प कवि द्वारा स्वनिर्मित हैं। यह आवश्यक भी था क्योंकि कवि यदि केवल ऐतिहासिक आधार को ही प्रस्तुत करता तो वह मधुर काव्य न बनकर इतिहास-ग्रन्थ बनकर रह जाता। फिर, इतिहास का आधार तो कवि ने काम-भाव की नर-नारी में शाश्वत ऊर्जस्विता को सिद्ध करने के लिए लिया है और इस दृष्टि से कवि पूर्ण सफल रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। इतिहास रूपी रेगिस्तान में रिसता हुआ पुरुरवा-उर्वशी के प्रेमाख्यान का जो सोता अन्दर-अन्दर बह रहा था वह कवि के सराहनीय प्रयत्न से निश्चय ही जन-मानस में उद्दाम वेग धारण करेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

□

प्रतिपाद्य

मानव-जीवन की प्रकृति-प्रदत्त प्रबलतम वृत्ति नर-नारी का सहज आकर्षण से मजा हुआ प्रेम है। नर-नारी के प्रेम की यही प्रबलतम वृत्ति दर्शन की शब्दावली में काम तथा काव्य-शास्त्र की शब्दावली में रति का रूप धारण कर लेती है और उर्वशी का आधार-स्थल इन्हीं तारों से सम्पुष्ट है। दिनकर ने उर्वशी में मुक्त गति से बहती जीवन-सरिता के दर्शन और मनोविज्ञान के तटों मध्य काम-पक्ष के अलौकिक प्रकाश स्तम्भ को स्थिर किया है। उन्होंने काम-पक्ष के महात्म्य को काव्यात्मक पद्धति में सुरक्षित रखा। काम की स्वर्गिक अनुभूतियों के उत्तेजक मोहक क्षणों की प्रस्तुति दिनकर ने अनेक रूपो मे की। कामानुभूति के प्रत्येक क्षण के चित्रण में मन की तन्त्रियों को हौले से झंकृत करने की अपूर्व क्षमता है चाहे वह कामानुभूति का सूक्ष्म-स्थूल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर-सुखकर, दाहक और शमित, मृण्मय और चिन्मय कोई भी रूप हो। आकर्षण के मोहजाल में उलझे प्रणय की चिर-अतृप्ति के चित्रण में इतनी जीवन्तता है कि भोग-त्याग, रूप-अरूप का मार्ग मानों शब्दों और अनुभूतियों के लिए सीढ़ियों का निर्माण कर रहे हो क्योंकि प्रणय की चिर अतृप्ति भोग से त्याग, त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप, अरूप से रूप के चक्र बिन्दु पर घूमती हुई संयोग और वियोग की रेखाओं में एक समान रूप से गुँथी हुई है।

उर्वशी के मूल प्रतिपाद्य का प्रश्न सामने आते ही दिनकर की प्रश्नाकूल जटिल गुत्थी भी सामने आ जाती है। उनके सामने काम अथवा प्रेम का प्रश्न है जिसको सुलझाने के लिए उर्वशीकार ने दर्शन तथा मनोविज्ञान के मार्ग का चयन किया। काम अथवा प्रेम के इस समस्यामूलक प्रश्न को प्रस्तुत करना ही उर्वशीकार का उद्देश्य रहा है।

प्रथम अंक में अप्सराओ के द्वारा उर्वशी की मूल समस्या की प्रतिस्थापना होती है। अप्सराओं के कथोपकथनों में शृंगार के ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय पक्षों का विश्लेषण हुआ। अपार्थिव जगत के अरूप और पार्थिव जगत के ऐन्द्रिय प्रेम के विश्लेषणोपरान्त प्रेम के दैहिक और मानसिक दोनों पक्षों की एकांगिता प्रकट होती है। समस्या का अंकुर यहीं से फूटता है जिसको रंभा, मेनका और सहजन्या पल्लवित करती है। उन्हीं के संवादों से नारी-जीवन और उसके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का द्वार खुलता है। पार्थिव जगत में रहने वाले एक मानव के लिए अनिंद्य सुन्दरी स्वर्गपरी उर्वशी का

मानवी और दैवी प्रम की को फलने-फूलने के लिए प्रममय मामना

का जल देता है। इसी बिन्दु से 'उर्वशी' की शृंगार-भावना विभाजित हो दो भागो में बँट जाती है। एक बिन्दु से अप्सरा-प्रेम फलता है दूसरे बिन्दु से मानवी-प्रेम प्रसरित होता है।

अप्सरा-दृष्टि का प्रतिनिधित्व रंभा करती है। मातृत्व के प्रति रंभा अस्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। माँ बनना नारी जीवन की पूर्णता है। इसी व्यक्तित्व की पूर्णता को भारतीय आधुनिका ने बोझ समझकर स्वच्छन्द और अनियन्त्रित जीवन-व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय पत्नीत्व की मर्यादाओं और ममता के अनिर्वचनीय सुख को भारतीय आधुनिक नारी शृंखलाएँ समझती हैं। रंभा के वक्तव्यो मे मातृत्व और पत्नीत्व के प्रति घृणा का यही स्वर स्थान पा सका है। दिनकर ने रभा के माध्यम से इंगित करते हुए जीवन के उपर्युक्त अस्वस्थ मूल्य को संकेतित किया जहाँ रंभा मातृत्व की पावनता और यौवन के स्वप्निल मधुर स्वप्नों को एक तुला पर तोलकर फूलों के इन्द्रधनुषी देश में उन्मुक्त विचरण करने को प्रश्रय देती है। ममता के स्निग्ध भाव-सुमन उसके लिए तुच्छ हैं, मातृत्व एक विकृति है। रंभा के लिए आश्चर्य का विषय है कि मात्र एक प्रेम के कारण उर्वशी गर्भ का असहनीय भार ढो कर अपने देह की गठन और प्रकान्ति का बलिदान कर देगी।[1]

दूसरी ओर मेनका की उक्तियाँ मातृत्व के शाश्वत गौरव को प्रतिस्थापित करती है। नारी मातृत्व की चिरन्तन गरिमा से जीवन की उदात्त पोषक धरती पर चरण रख समष्टि में प्रविष्ट हो ससीम से असीम की ओर अग्रसर हो जाती है। अप्रत्यक्ष रूप से उर्वशी में इन्हीं भावनाओं की आवृत्ति की गई है जहाँ युवती माँ ममता की स्वर्गिक शान्ति में अपने पुत्र का पालना झुलाती है।[2]

इस प्रकार प्रथम अंक से प्रतिपाद्य-विषय के दो सूत्र प्रतिस्थापित होते हैं एक तो अपार्थिव जगत की जड़ता से उत्पन्न-चेतना पार्थिव शृंगार की अग्नि में झुलसने को

---

१ *"किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण*
वह भी और नहीं, केवल एक प्रेम के कारण।
× × ×
गर्भ-भार उर्वशी मानवी के समान ढोएगी
यह शोभा यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोएगी।" (पृ० १९)

२ *गलती है हिमशिला, सत्य है, गठन देह की खोकर*
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है
रूपवती भी सखि, मुझे तो वही प्रिया लगती है
जो गोदी में लिए क्षीर मुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी हो प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो।" (पृ० ९)

प्रस्तुत है दूसरी ओर मानवी के मातृत्व में नारी के व्यक्तित्व की चरम-सार्थकता की उद्घोषणा का नाद अपने स्वर बिखेरता है जिसके स्वर आगे चलकर उर्वशी की प्रणय-भावना से सिक्त हो मातृत्व की गरिमामय मधुरता बिखेरते हैं।

द्वितीय अंक अबला जीवन की कहानी कहता है जहाँ औशीनरी का आँचल दूध और आँखें नीर से भरी हैं। औशीनरी के नयनों से अश्रुकण धरा को सींच-सींच कर सहकर्मी के जीवन में यौवन के वसन्त का उल्लास बनाए रखते हैं। औशीनरी उर्वशी के प्रति अपने सहकर्मी की उन्मादक आसक्ति को जानकर भी संयमित और नियन्त्रित रहकर अपनी गरिमा प्रकट करती है। अन्ततः औशीनरी का यह गौरव उसके नारीत्व को और भी करुण बना देता है। इस अंक में भी चेतन और अचेतन स्तर पर प्रेम के अनेक रूपों का विश्लेषण किया गया।

दिनकर की वैवाहिक जीवन सम्बन्धी मान्यताओं पर डॉ० एच० लॉरेन्स और बर्ट्रेण्ड रसेल की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत किया जा सकता है जिनकी चिन्तनधारा का मुख्य उद्देश्य किसी न किसी प्रकार विशृंखल होते हुए पति-पत्नी के सम्बन्धों में एक स्थिरता लाने का प्रयास है। दिनकर की भाँति ये दोनों मनीषी भी स्त्री-पुरुष (प्रेमी-प्रेमिका) के सहवास को ऐन्द्रिय-तर्पण स्वीकार न कर उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति का आयाम सिद्ध करते हैं जहाँ प्रेम का मूल क्षिति में होने पर भी उसकी प्रशाखाएँ स्वर्ग में पल्लवित, विकसित हैं। उर्वशीकार के अनुसार मानव-मन की भ्रमर-वृत्ति चरणों पर चढ़ी चाँदनी को महत्व नहीं देती तथा ग्रीवा में झूलते कुसुम से उसे प्रीति की सुरभि नहीं आती क्योंकि उसे पत्नीतर नारी-पुष्पों का रस लेने में अधिक सुख मिलता है। रसेल भी यही कहते हैं—"आधुनिक विवाह-सम्बन्धों के मार्ग में यह बड़ी विषम-बाधा है कि प्रेम के महत्त्व के विषय में प्रबुद्ध चिन्तन करने वाले लोग विवाह ही नहीं करना चाहते। उनकी धारणा है कि प्रेम तभी तक स्थिर और प्रवर्द्धमान रहता है जब तक उसका उद्रेक सहज-स्वच्छन्द भावनाओं से होता है किन्तु उसमें जैसे ही कर्त्तव्य-भावना की गंध आने लगती है, वह तुरन्त ही मृत्योन्मुख हो जाता है।"[1] लॉरेन्स ने भी आजकल के युवक-युवतियों की इस प्रवृत्ति को लक्षित करके, कि हाड-मांस के नर-नारियों के समान विवाह-सूत्र में बँधने के स्थान पर एक-दूसरे के व्यक्तित्वों (Personalties) से आकृष्ट होकर विवाह करते हैं तथा शीघ्र ही एक-दूसरे से ऊब कर घृणा करने लगते हैं, यह मत व्यक्त किया है कि आधुनिक काल के ऐसे नर-नारियों के लिए यही

---

1. "There is another difficulty in the way of modern marriage, which is felt especially by those who are most conscious of the value of love. Love can only flourish as long as it is free and spontaneous, it tends to be killed by thought that it is duty."

B Russel Marriage and Morals p 113

मार्ग उत्तम है कि वे विवाह-बन्धन में ग्रस्त ही न हों और मात्र मैत्री सम्बन्ध ही रखें ?[1]

समाज के सामाजिक और नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में ये प्रश्न शाश्वत महत्त्व के है। दिनकर ने रसेल और लॉरेन्स के द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के उत्तरों को उर्वशी में प्रतिपाद्य के रूप में विवाहोपरान्त स्त्री-पुरुष के प्रेम एवं यौन-सम्बन्धों की स्वच्छन्दता को स्वीकार कर 'पुरानी और नई नैतिकता' नामक निबन्ध में लिखा है—"विवाह-सम्बन्धों की नैतिकता को लेकर जितने भी समाधान प्रस्तावित हुए हैं उनमें रसेल साहब का समाधान मुझे सबसे कम दुःखदायी लगता है। अन्ततः निबन्ध के सार रूप में दिनकर ने कहा है—"श्रेष्ठ तो वही गिने जाएँगे जो एक से तृप्त हैं जो सैक्स को शरीर तक ही सीमित रख उसे दिमाग पर नहीं चढ़ने देते अथवा जो सैक्स की धारा को पचाकर, ऊर्ध्वरेता होकर, ऊपर उठ रहे हैं किन्तु उनमें से यदि कोई फिसल जाए तो इस फिसलन पर भयानक काड उपस्थित कर देना बुद्धि-संगत नहीं दीखता। इसे भी आपद्धर्म मानकर परस्पर ही बर्दाश्त कर लेना चाहिए और यह भी उचित नहीं है कि ईर्ष्या और शंका से प्रेरित पति पत्नी को और पत्नी पति को अन्य नर-नारियों से मिलने न दें। ईर्ष्या, शंका, भय, मनाही और एक-दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप, इन दुर्वृत्तियों के आधार पर अच्छे दाम्पत्य का महल खड़ा नहीं किया जा सकता। किन्तु आत्म-दमन अब हमें इसलिए चाहिए कि हमे दूसरों की (पति द्वारा पत्नी और पत्नी द्वारा पति की) आजादी में दखल नहीं देना है इसलिए नहीं कि हमें अपनी आज़ादी को कम करना है। "युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहनकर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नहीं बढ़ता होगा, फिर भी हर आदमी नकाब लगाता है क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की समाज की ओर से मनाही है" *(उर्वशी : भूमिका)*। दिनकर का उपर्युक्त मन्तव्य यह प्रतिपादित करता है कि यौन-सम्बन्धों की उन्मुक्तता का उपभोग निर्लिप्त और निष्काम भाव से किया जाए। इसी परिप्रेक्ष्य में वे समाज की नकाब पहन कर बात करने की प्रवृत्ति की बात कहते हैं। इन्हीं द्विधाग्रस्त उक्तियों और भ्रामक धारणा के कारण उर्वशी के अनेक समालोचकों ने उर्वशी के प्रतिपाद्य के विषय मे अलग-अलग स्वतन्त्र मन्तव्य स्थापित किए।

मूर्धन्य आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उर्वशी के प्रतिपाद्य को गम्भीर दार्शनिक शब्दावली में व्यक्त किया। उर्वशी नाद का प्रतिनिधित्व करती है, पुरुरवा क्रिया का और औशीनरी प्रतिक्रिया का। यद्यपि यह प्रतिक्रिया कवि के समाहित चित्त की कल्पना नहीं है, इसलिए मुख्य भी नहीं है तथापि इसके बिना काव्य असामाजिक बन

---

1. "The modern cult of personality is excellent for friendship between the sexes and fatal for marriage on the whole, it would be better if modern people didn't marry.

—*Lawrance : A propos of Lady Chatterley's lover and other essays. p 113*

जाता। कवि का अभिप्रेत विषय उर्वशी है—उद्दाम मानसवेग ! पुरुरवा सीमाबद्ध जीव है जो इस मानस-वेग का शिकार है। उसमें कहीं-न-कहीं एक स्थिर शाश्वत असीम तत्त्व छिपा हुआ है जो उसे व्याकुल तो बना देता है पर हार नहीं मानने देता। डॉ० सावित्री सिन्हा के मतानुसार उर्वशी में कवि का उद्देश्य दर्शन और मनोविज्ञान की सहायता से काम या प्रेम की समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है। पुरुरवा का द्वन्द्व एकनिष्ठ राम का द्वन्द्व नहीं हो सकता। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित बहुपत्नी-प्रथा, रक्षिताओं की स्वीकृति तथा स्त्री के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र इकाई में केवल भावनात्मक मूल्यों की स्थापना भोग के लिए खुला क्षेत्र छोड़कर, सांसारिक व्यक्तियों के लिए भी द्वन्द्व के लिए कोई अवकाश नहीं प्रस्तुत करती। सामाजिक निषेध अथवा आदर्श-च्युति दोनों में से एक भी अवरोध वहाँ उपस्थित नहीं है। ऐसी स्थिति में पुरुरवा के हृदय में उठे हुए प्रश्न प्राचीन इतिहास के व्यक्तियों के भी प्रश्न नहीं हो सकते। नारी को लेकर धर्माधर्म के प्रश्न का आध्यात्मिक पहलू भी यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि पुरुरवा का द्वन्द्व एक सांसारिक व्यक्ति का द्वन्द्व है जो आदर्शों की मर्यादा का उल्लघन करके सहज प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उद्वेलन द्वारा आलोड़ित होता है। काम के त्याग, ग्रहण अथवा सतुलन का प्रश्न शाश्वत है ठीक उसी अर्थ में जैसे युद्ध की समस्या मनुष्य की सनातन समस्या है परन्तु उर्वशी की रचना आधुनिक जीवन में छाई हुई काममूलक समस्याओं की प्रेरणा से हुई है। 'श्री कुमार विमल के अभिमत में उर्वशी का प्रतिपाद्य अपार्थिव सौन्दर्य का पार्थिव संस्करण है, तो दूसरी ओर पार्थिव सौन्दर्य (नारी) का अपार्थिव उन्नयन भी—उन्नयन और सूक्ष्मीकरण भी। फलस्वरूप उर्वशी में प्रेम के प्रति वैष्णव भाव है जिसे हम प्रेम का आधुनिक 'सहजियाकरण' कह सकते हैं। लगता है, दिनकर ने 'पहले प्रेम स्पर्श होता है तदनंतर चिन्तन भी' कहकर पुरुरवा को सहजिया मत का विल्वमंगल बनाना चाहा है, जो चिन्तामणि को प्यार करते-करते ही कृष्ण तक पहुँच गए थे। अतः दिनकर के पुरुरवा की 'उर्वशी' एक तरफ से सहजिया मत के विल्वमंगल की ऊर्ध्वमुख प्रेयसी 'चिन्तामणि' है और स्वयं पुरुरवा 'विराग लोक का रसिक' तथा 'मधुबन का संन्यासी' है। इस प्रकार दिनकर जी उर्वशी में उस सहजिया मत के पास पहुँचते दीख पड़ते हैं जिसको मानने वाले लोग स्त्री-प्रेम के द्वारा विश्व-प्रेम और भागवत वैष्णव रस तक पहुँचने की चेष्टा करते थे। यह सहजिया प्रवृत्ति ही युगानुकूल परिवर्तित होकर उर्वशी में कामाध्यात्म बन गई है। भारतभूषण अग्रवाल के विचारानुसार उर्वशी का प्रतिपाद्य—अपने विवाह से पुरुरवा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व चरितार्थ नहीं हो सका है, क्योंकि औशीनरी उसकी धर्मपत्नी तो है, सहधर्मिणी नहीं है, पति उसका साथी नहीं आधार है। बाहर तो प्रतिपल उसके जीवन के नये आयाम खुलते जाते हैं। स्वर्गलोक तक उसका स्पन्दन पहुँचता है पर घर में वही एकरस कामनाहीन समर्पण। परम्परा से बँधी अविकसित व्यक्तित्व वाली नारी वह दाम्पत्य सुख कैसे ले या दे सकती है जो मुक्त और विकसित व्यक्तित्व की पूर्ण नारी द्वारा ही सम्भव है उर्वशी के प्रति पुरुरवा का

प्रेम इसी उच्चतर भावभूमि पर अंगीकृत हो सकता है, दैहिक विलासिता की परम्परागत भावभूमि पर नहीं। इसीलिए दिनकर की उर्वशी में पुरुरवा का आकर्षण रूपवती देह की चाह का फल नहीं है, वह व्यक्तित्व द्वारा व्यक्तित्व की खोज है, बल्कि व्यक्तित्व के एक अंश द्वारा अपने दूसरे पूरक अंश की खोज है" (कल्पना, जनवरी १९६४, पृ० ५५)।

उर्वशी के प्रतिपाद्य के विषय में विद्वान आलोचकों के विचारों के पश्चात् हम उर्वशी की भूमिका की ओर लौटते हैं। उर्वशी की भूमिका विचारणीय है जहाँ काम के विषय में दिनकर ने अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं—"पशुओं में जो प्रेरणा ऋतुधर्म से एकाकार है मनुष्यों में वह ऋतु-धर्म का बन्धन नहीं मानती, न वह प्रजासृष्टि की सीमा पर समाप्त होती है। काम-शक्ति पशु-जगत में आवश्यकता और उपयोग की सीमा में है। मनुष्य में आकर वह ऐसे आनन्द का कारण बन गई है जो निष्प्रयोजन, निस्सीम और निरुद्देश्य है""""यह सच है कि काम के क्षेत्र में पशुओं को जो स्वाधीनता प्राप्त है वह मनुष्यों को नहीं है किन्तु कामजन्य स्फुरणों, प्रेरणाओं और सुखों का जो अनन्त-व्यापी प्रसार मनुष्यों में है वह कल्पनाहीन जन्तुओं में नहीं हो सकता और मनुष्यों में भी जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं वे काम के सूक्ष्म सुखों का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं। काम-जन्य प्रेरणाओं की व्याप्तियाँ सभ्यता और संस्कृति के भीतर बहुत दूर तक पहुँची हुई हैं।" आगे कड़ियों को जोडते हुए वे लिखते है "काम की जो निराकार आकृतियाँ हैं वही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएँ, स्पर्श के द्वारा सुन्दरता का जो परिचय प्राप्त करती हैं वह अधूरा और अपूर्ण होता है। पूर्णता पर वह तब पहुँचता है जब हम सौन्दर्य के निदिध्यावसन अथवा समाधि में होते हैं।"

अपने स्थूल से स्थूल रूप में भी, प्रेम एक मानव का दूसरे मानव के साथ एकाकार होने का सबसे सहज, सबसे स्वाभाविक मार्ग है किन्तु विकसित और उदात्त हो जाने पर तो वह मनुष्य को बहुत कुछ वही शीतलता प्रदान करता है जो धर्म का अवदान है।

"जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते है वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं जिसका काम कुण्ठित, उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है, वह आनन्द के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है। हीन केवल वही नहीं जिसने धर्म और काम को छोड़कर केवल अर्थ को पकड़ा है, न्यायत: उकठा-काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए जो धर्म सिद्धि के प्रयास में अर्थ और काम दोनों से युद्ध कर रहा है—

"धर्मार्थ कामं सममेव सेव्यं,
य: एकसेवी स नरो जघन्य:।"

पुरुरवा और उर्वशी का पौराणिक आख्यान पुरुषार्थ के कामपक्ष के महात्म्य का अमर गायक है। इन्हीं मान्यताओं को दिनकर ने पुरुरवा और उर्वशी को माध्यम बनाकर अपने काव्य-नाटक में प्रस्तुत किया।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ऐसे मूलभूत सुख हैं जो मनुष्य के हृदय-सिन्धु मे

उद्वेलन मचा देते हैं और पुरुरवा इन्हीं सुखों से उद्वेलित मानव है। उसके सोचने का क्रम इसी प्रकार का है—

"रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ?" (पृ० ४८)

किन्तु क्षण के रीतते ही पुरुरवा के सोचने की क्रिया दिशा बदल देती है—

"दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।" (पृ० ४८)

पुरुरवा का कौतूहल जिज्ञासा में परिवर्तित होता है। उसके समक्ष रक्त की उत्तप्त लहरों के सत्य का रहस्य जानने का प्रश्न है। 'रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार कोई सत्य हो तो' वह उस रहस्यमय परिधि के आवरण को भेदने का इच्छुक है। स्वभावतः द्वन्द्व मानव की मूल वृत्ति है, मर्त्य-लोक का वासी होने के कारण पुरुरवा भी निरन्तर द्वन्द्व से जूझता हुआ सुख प्राप्त करना चाहता है। वह समय के असीम विस्तार और त्रिकाल की सुरभि को एक घने क्षण और पुष्प में भर कर समेट लेना चाहता है।[1]

पुरुरवा उन स्वर्गिक सुखानुभूतियों की सीमाओं को भी लाँघना चाहता है किन्तु तृषा और कामना उसके व्यक्तित्व से अधिक बलवती है और वे उसे आगे बढ़ने से पूर्व ही मार्ग में अवरोध बन उसकी बाँह थाम लेती है।[2]

तृषणाओं और कामनाओं की मन्दता और प्रचण्डता निरन्तर पुरुरवा के मनःसिन्धु में ज्वार-भाटा उठाती रहती हैं। कामना-वायु पुरुरवा के प्राणों को निरन्तर अपनी पुलक से उसके रोम-कूपों में सिहरन का वसन्त बनाए रखती है। उसके प्राणों का स्पन्दन कामना-वायु से उद्वेलित होकर कभी मन्द-मन्द उसकी तृषा को झकझोरता है तो कभी यही कामना-वायु प्रचण्ड रूप धारण कर झंझा की भाँति पुरुरवा के प्राणों में गूँजती है।[3]

कामना का प्रचण्ड तूफान हृदयाकाश को तिमिराच्छन्न कर मन-दीपक की लौ को शान्त कर देता है किन्तु पुरुष तमस् के शासन पर अस्वीकार की मुद्रा लगाता है और

---

१. *"रुको पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की*
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूँघ लेने दो।" (पृ० ६७)

२. *"कामनाओं के झकोरे रोकते हैं राह मेरी*
खींच लेती है तृषा पीछे पकड़ कर बाँह मेरी।" (पृ० ५२)

३ *"मैं मनुष्य, कामना-वायु मेरे भीतर बहती है*
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन पुलक जगाकर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से (पृ० ४५)

यहीं से संघर्ष का एक दौर प्रारम्भ हो जाता है—

> **"मन का दीपक बुझा, बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को**
> **किन्तु पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को**
> **फिर होता संघर्ष, तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।"** *(पृ० ४५)*

हाड़-मांस के मर्त्य-जगत में रहने वाला मानव सदैव देवत्व पर विजय का इच्छुक रहा है। देवत्व की तृषा मिट्टी की सौंधी सुरभि पर तुषारापात कर देती है और मानव निरन्तर देवत्व की मृगतृष्णा में भटकता अपने सहज जीवानामुखों को उलझा देता है। यही बेचैनी, देवत्व प्राप्त करने की अकुलाहट पुरुरवा को मर्त्यलोक के विविध सुखो मे भी शान्त नहीं रहने देती। देवत्व की तृषा से उद्‌भूत यही विषण्णता पुरुरवा के मानस-जगत में तन और मन, देह और आत्मा के बीच विभाजक रेखा खींच देती है—

> **"तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में**
> **मन से किन्तु, विषण्ण, दूर कहाँ तुम चले जाते हो।"** *(पृ० ४६)*

फिर भी वह भोग और त्याग दोनों को अपनाता हुआ जल में कमल के पत्ते की तरह सूखा रहना चाहता है—

> **"पुण्डरीक के सदृश मृत्तिजल हो जिसका जीवन है**
> **पर तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।"** *(पृ० ४५)*

उत्कट काम-भावना से बिंधा पुरुरवा का मन इस हाड़-मांस के मर्त्य-जगत से ऊपर उठ देवत्व के महाकाव्य का अमर गायक बनने को अकुलाता है। यही देवत्व की आकाक्षा काम-सुख के स्वर्गिक क्षणों में भी उसे अन्यमनस्क बनाए रखती है। उसके चिन्तन की क्रिया ठहरी नहीं है। प्रणय अनासक्ति के गंगाजल में अवगाहन कर पावन हो जाता है। अनासक्ति इतर इच्छाओं[1] तक ही सीमित नहीं है उसका क्षणिक स्पर्श भी प्रणय को निर्मल जलधार में परिवर्तित कर देता है।

पुरुरवा सीमाबद्ध जीव है जो इस उद्दाम मानस वेग (उर्वशी) का शिकार है (आचार्य द्विवेदी)। दिनकर ने भूमिका में लिखा भी है "पुरुरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।" पुरुरवा का चित्रण उर्वशीकार ने इसी प्रकार द्वन्द्वग्रस्त मानव के रूप में किया है। जन्म-जन्मान्तर से चिरन्तन नारी की व्यग्रता से तलाश में संलग्न सनातन पुरुष का प्रतीक पुरुरवा मृत्ति और शून्य, तृषा और तृप्ति भोग और त्याग, आसक्ति और अनासक्ति इन्हीं तटों से टकराने वाला द्वन्द्वग्रस्त मानव है जो सुख की कामना करता हुआ उससे भी आगे देवत्व को प्राप्त करने के लिए प्रयास में लगा रहता है—"पुरुरवा का द्वन्द्व किसी आदर्शवादी गृहस्थ, निर्बन्ध भोगवादी अथवा अध्यात्म की ओर झुकते हुए

---

१ *"नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है*
उसका किंचित स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है। *(पृ० ४५)*

व्यक्ति का द्वन्द्व नहीं है, वह तो उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके सामने मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के प्रलोभन में समान रूप से संघर्ष चलता रहता है। पुरुरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भाँति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। आज के व्यक्ति की भौतिक दृष्टि और कामासक्ति चाहे उसे प्रगाढ़ सुख दे सकती हो पर शान्ति नहीं दे सकती। वर्तमान युग के इसी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण और निरूपण उर्वशी में हुआ है" (डॉ० सावित्री सिन्हा : युग चारण दिनकर)। "क्या है जो मनुष्य के सोचने-समझने की प्रक्रिया को एकदम रोक देता है और वह अपनी विद्यमान परिस्थितियों से ऊबकर दूसरी दिशा में धावमान होता है ? पुरुरवा के माध्यम से मनुष्य की इस विवश व्याकुलता को कवि बार-बार प्रत्यक्ष कराता है" (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)।

"उर्वशी चक्षु,रसना, घ्राण, त्वच् तथा श्रोत्र कामनाओं का प्रतीक है। उर्वशी मानवी न होकर देवलोक की अप्सरा है। उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता, वे त्रिकाल की अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती हैं। उसे स्वर्ग की धरा निर्जीव और जड़ लगी। उस भूमि का परित्याग कर वह धरती की ज्वालाओं का आलिंगन करने की कामना मन में संजोए है। वह निश्चिन्त होकर पृथ्वी को अपनी सुखाशाओं का केन्द्र बनाना चाहती है इसीलिए उसे यौवन-अगरु की ताप-तप्त मधुमयी गन्ध पान करने की तीव्र लालसा है। वह कामाग्नि की उत्कट लपटों में समा जाना चाहती है। भोग के चरम क्षणों को निश्चिन्त हो जी लेना ही उसका लक्ष्य है।[1]

उर्वशी जन-जन के मन में उजियाली कर बसने वाली मधुर अग्नि है। वह पुरुष की समाधि की पूर्णता तथा तेजोद्दीप्त यौवन की अपूर्व गरिमा है। सनातन नारी की प्रतीक उर्वशी की झंकृति प्रत्येक मानव मन के पटल पर अपरिमित सुखाशाओं के स्वरों को बिखेरती है। उर्वशी का अनुभव है कि कामाग्नि की ज्वाला में धधकती वस्तु कुंदन चेतना में परिवर्तित हो जाती है। जलते हुए उत्तप्त उष्ण रक्त का स्पर्श नभ की अप्सरी देवताओं के राजा इन्द्र के आलिंगन में भी प्राप्त नहीं कर सकती जो सहज ही इस मर्त्य-लोक के मानव के उबलते रक्त से काम की चिंगारियाँ छोड़ने लगता है—

"सुर क्या, सुरेश के आलिंगन में भी न कभी वह मिलती है

× × × ×

प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरी कहाँ पाये ?" (पृ० ५५)

मानवीय प्रेम का धरातल दैवीय प्रेम की तरह शीतल और जड़ नहीं, उसमें धधकती

---

१. "मैं इसी तरह अगरु की ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आयी
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी। (पृ० ५५

हुई ज्वाला है क्योंकि नर के उष्ण रक्त में ज्वालामुखी की हुंकारें गर्जना करती हैं।[1]

कौन ऐसा पुरुष है जिसकी समाधि में उर्वशी की झलक नहीं है। वह अपरिमित कामना की साक्षात् जीवन्त प्रतिमा है जो सनातन नारी का प्रतिनिधित्व करती है—

"कामनावन्हि की शिखा मुक्त मैं अनवरुद्ध
मैं अप्रतिहत, मैं दुर्निवार।" (पृ० ९३)

उच्छल, हिल्लोल—निरत जीवन में आकण्ठ डूबी उर्वशी को प्रखर-कामना कलित संतप्त व्यग्र चुम्बन चाहिए। काम की प्रखर अग्नि उसके रोम-रोम में वास करने लगे जिससे वह काम रसोदधि में निश्चिन्त निमग्न हो जीवन को बूंद-बूंद पी ले। इसीलिए वह स्वर्ग की शीतल धरती का परित्याग कर चपलावेग मानवी के समान भू पर जीने आई है। वह पुरुरवा के कठोर आलिंगन में कसी हुई उत्तप्त रक्त की उष्णता में समा जाना चाहती है। उर्वशी की महती इच्छा है कि पुरुरवा उसके अधरों पर चुम्बनों से अग्नि की तहें जमा दे—

"कसे रहो। बस इसी भाँति उर पीड़क आलिंगन से
और जलाते रहो अधर पुट को कठोर चुम्बन से।" (पृ० ६३)

'नारायण की मानसिक तनया' तथा 'सागर की आत्मजा' मानने वाला पुरुरवा उर्वशी को देह समझता है दूसरी ओर अपने आपको अदेह कल्पना कहकर उर्वशी पुरुरवा के कथन का प्रतिवाद करते हुए अपने आपको विश्वनर के अतृप्त इच्छासागर से उत्पन्न अप्सरा बताती है। उर्वशी की मान्यता है कि जो नारी नर की अन्तरंगता जान चुकी है उसके लिए परम सत्ता को प्राप्त करने का मार्ग कठिन नहीं है और जो पुरुष रमणी को अपने आलिंगन में कस चुका है उसके अन्दर देशकाल के वक्ष को भेदकर गगन में उठने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। यहाँ उर्वशी कामना-शक्ति का प्रतिरूप है। प्रकृति का पर्याय उर्वशी प्रकृति की प्राण कथा का आधार फलक है जो निस्सीम और असीमित है मानो उर्वशी ही प्रकृति के प्राणों का स्पन्दन है।[2]

उर्वशी देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नारी नहीं, उसका नारीत्व सनातन है, उर्वशी का यह शाश्वत रूप देशकालातीत 'भूत, भविष्यत्—वर्त्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त है। काम की उष्ण दाहकता से कुंज दग्ध हो जाते हैं। कामाग्नि की अप्रतिहत धधकती ज्वाला कुंज-कुंज में कोकिल (पुरुष) को क्रन्दन करने के लिए विवश कर देती

---

१. *देवता शीतल, मनुज अंगार है*
देवताओं की नदी में ताप की लहरें न उठती
किन्तु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुँकारता है। (पृ० ५३)

२. *"मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कथा है,*
उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है (पृ० ९०)

व्यक्ति का द्वन्द्व नहीं है, वह तो उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके सामने मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के प्रलोभन में सतत रूप से संघर्ष चलता रहता है। पुरुरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भाँति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है। आज के व्यक्ति की भौतिक दृष्टि और कामासक्ति चाहे उसे प्रगाढ़ सुख दे सकती हो पर शान्ति नहीं दे सकती। वर्तमान युग के इसी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण और निरूपण उर्वशी में हुआ है" *(डॉ० सावित्री सिन्हा : युग चारण दिनकर)*। "क्या है जो मनुष्य के सोचने-समझने की प्रक्रिया को एकदम ढक देता है और वह अपनी विद्यमान परिस्थितियों से ऊबकर दूसरी दिशा में धावमान होता है? पुरुरवा के माध्यम से मनुष्य की इस विवश व्याकुलता को कवि बार-बार प्रत्यक्ष कराता है" *(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)*।

"उर्वशी चक्षु रसना, घ्राण, त्वच् तथा श्रोत्र कामनाओं का प्रतीक है। उर्वशी मानवी न होकर देवलोक की अप्सरा है। उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता, वे त्रिकाल की अनुद्विग्न निर्मल और निष्प्राण होती हैं। उसे स्वर्ग की धरा निर्जीव और जड़ लगी। उस भूमि का परित्याग कर वह धरती की ज्वालाओं का आलिंगन करने की कामना मन में संजोए है। वह निश्चिन्त होकर पृथ्वी को अपनी सुखाशाओं का केन्द्र बनाना चाहती है इसीलिए उसे यौवन-अगरु की ताप-तप्त मधुमयी गन्ध पान करने की तीव्र लालसा है। वह कामाग्नि की उत्कट लपटों में समा जाना चाहती है। भोग के चरम क्षणों को निश्चिन्त हो जी लेना ही उसका लक्ष्य है।[1]

उर्वशी जन-जन के मन में उजियाली कर बसने वाली मधुर अग्नि है। वह पुरुष की समाधि की पूर्णता तथा तेजोद्दीप्त यौवन की अपूर्व गरिमा है। सनातन नारी की प्रतीक उर्वशी की झंकृति प्रत्येक मानव मन के पटल पर अपरिमित सुखाशाओं के स्वरों को बिखेरती है। उर्वशी का अनुभव है कि कामाग्नि की ज्वाला में धधकती वस्तु कुंदन चेतना में परिवर्तित हो जाती है। जलते हुए उत्तप्त उष्ण रक्त का स्पर्श नभ की अप्सरी देवताओं के राजा इन्द्र के आलिंगन में भी प्राप्त नहीं कर सकती जो सहज ही इस मर्त्य-लोक के मानव के उबलते रक्त से काम की चिंगारियाँ छोड़ने लगता है—

"सुर क्या, सुरेश के आलिंगन में भी न कभी वह मिलती है

× × × ×

प्रज्वलित रक्त का मधुर स्पर्श नभ की अप्सरी कहाँ पाये ?" (पृ० ५५)

मानवीय प्रेम का धरातल दैवीय प्रेम की तरह शीतल और जड़ नहीं, उसमें धधकती

---

1. *"मैं इसी तरह अगरु की ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आयी*
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आयी (पृ० ५५)

है ।[1] इसी कामाग्नि की दुर्निवार प्रलयंकारी लपटों के संकेतों से ही उठ खड़े तूफानो मे समस्त संसार डूब जाता है—

"दुर्निवार यह वह्नि, मुग्ध इसकी लौ इंगित से,
उठते हैं तूफान और संसार मरा करता है।" (पृ० ५७)

पंचशर के पुष्पशर की अदम्य शक्ति इन्द्र और सिंह की सामर्थ्य को निष्प्रभ कर पराजित कर देती है—

"इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है
सिंह से बाहें मिलाकर खेल सकता है
फूल के आगे वही असहाय हो जाता है
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता।" (पृ० ५२, ५३)

वह उद्‌भट पुरुष बंकिम तीखे नयन बाणों के प्रहारों से सहज ही बिंध जाता है। रूपसी नारी की क्षणिक उन्मुक्त मुस्कान उसके व्यक्तित्व को सरलता से प्रभावित कर लेती है।

पुरुरवा उर्वशी का यह आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है। प्रणय की अपरिहार्य जैव वास्तविकता को दिनकर ने स्वीकृति दी है। परिणामस्वरूप उर्वशी भी प्रणय की अपरिहार्य जैव वास्तविकता पर स्वीकृति की मुद्रा लगाते हुए रक्त को बुद्धि से अधिक बली बताती है क्योंकि बुद्धि चिन्तन का विषय है और शोणित सीधा सपाट अनुभव करता है—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली और अधिक ज्ञानी भी
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।" (पृ० ५७)

दिनकर की ऐसी मान्यता है कि वासनारहित स्वस्थ और उदात्त काम धर्म की पोषक धरती पर वहने वाला निर्मल जल है तथा उत्कट-वासनायुक्त काम पाप की कर्दम है। स्वस्थ काम मानव जीवन की वह मूल चेतना है जो मानव को लौकिक से लोकोत्तर, भौतिक से भौतिकोत्तर अध्यात्म के प्रकाश पथ पर ला खड़ा करती है जहाँ का किरणोज्ज्वल प्रदेश अत्युच्च शिखर की ओर जाने का संकेत करता है यही उदात्त काम धर्म का रूप है दूसरी ओर यही संकीर्ण काम मनुष्य को उच्चलोक से पथभ्रष्ट कर पशु से भी हीनतर बना वासना की कर्दम में धकेल देता है।[2] स्वस्थ काम दो आत्माओं का सन्धि-स्थल है। काम की यही उदात्तता दो मनों के तारों का सम्मिलन कर एक कर

---

१. *"अप्रतिहत यह अनल! दग्ध हो इसकी दाहकता से*
कुंज-कुंज में जगे हुए कोकिल क्रन्दन करते हैं।" (पृ० ५७)

२. *"काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को*
उच्च लोक से गिरा हीन पशु जन्तु बना देता है
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर (पृ० ८२)

देती है। जहाँ दो आत्माओं का सम्मिलन नहीं होता मात्र दो देह आपस में टकराया करती हैं वे सभी काम-कृत्य वासना-ग्रसित, पतित तथा दानवीय है। वासनायुक्त काम-क्षुधा को हाड़-मांस के तन से शान्त करना प्रकृति के विपरीत है। दिनकर ऐसे काम-कृत्यों के तीव्र-विरोधी हैं जहाँ प्रकृति के विरुद्ध मात्र मन की लिप्सा का परिभ्रमण क्षणिक सुख के लिए किया जाता है—

"काम-कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन में
मन-आत्माएँ नहीं, मात्र दो वपुस मिला करते हैं
या तन जहाँ विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है
सुख पाने को क्षुधा नहीं, केवल मन की लिप्सा से।" (पृ० ८२)

किन्तु दिनकर तन को प्रकृति का सुकुमार यन्त्र कहकर अपराध मुक्त कर देते हैं क्योंकि तन की शक्ति और सामर्थ्य अत्यन्त सीमित आवश्यकता के साँचे में बन्द है। मन ही समस्त पापों और विपत्तियों का मूल उद्गम है। उसकी काल्पनिक क्षुधा पवित्र तन को कलुषित कर देती है—

"तन का क्या अपराध ? यन्त्र वह तो सुकुमार प्रकृति का
सीमित उसकी शक्ति और सीमित उसकी आवश्यकता है
यह तो मन ही है, निवास जिसमें समस्त विपदों का
वही व्यग्र व्याकुल असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से
हाँक-हाँक तन को उस जल को मलिन बना देता है।" (पृ० ८३)

ऐसा काम-कृत्य दूषित और मलिन है जो स्वतः स्फुरित न होकर जिसका अन्तिम ध्येय मानसिक क्षुधा को शान्त करने का प्रयास है क्योंकि कवि की मान्यता है कि 'तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है'।

निष्काम-काम वह स्वर्गिक अनुभूति है जो अनुपमेय है। सौन्दर्य-सुषमा से मण्डित अनुभूतिपूर्ण ऐसे क्षणों पर स्वप्न मे भी किसी का अधिकार नहीं। काम सुख देह की सायास चेष्टाओं अथवा सकोचन से प्राप्त नहीं होता वह तो अकस्मात् प्राप्त होने वाला अनिवर्चनीय सुख है जो गूंगे के गुड़ के समान है जैसे स्वाति-नक्षत्र की बूँदें अनायास सीपी के खुले हृदय का हार बन जाती हैं।[1]

पुत्र-रत्न की प्राप्ति सुखकर है किन्तु पुत्र-कामना भी वस्तुतः निष्काम-काम का

---

1. *"इसीलिए, निष्काम कामसुख वह स्वर्गीय पुलक है*
सपने में भी नहीं स्वल्प जिस पर अधिकार किसीका
नहीं साध्य वह तन के आस्फालन या संकोचन से
वह तो आता अनायास, जैसे बूँदें स्वाति की
आ गिरती हैं अकस्मात् सीपी के खुले हृदय में" (पृ० ८४)

ध्येय नहीं। संतानें तो अपरिचित अज्ञात लोक से आकर निरुद्देश्य, निष्काम काम सुख की अचेत धारा में खिल उठती हैं—

"और पुत्र-कामना कहो तो, यद्यपि वह सुखकर है
पर, निष्काम का, सचमुच वह भी ध्येय नहीं है
निरुद्देश्य, निष्काम काम-सुख की अचेत धारा में
संतानें अज्ञात लोक से आकर खिल जाती हैं।" (पृ० ८४)

प्रेम में भी भूत से ऊपर उठकर भूतोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है। स्वस्थ भावभूमि पर प्राप्त काम-सुख गर्हित और पाप नहीं। स्वस्थ काम-भावना मानव-मन के माया-मोह के बँधे तटों को तोड़कर सहज प्रक्रिया से मुक्ति-दिशा की ओर अग्रसरित करता है।

"वह भी ले जाता है मनुष्य को ऊपर मुक्ति-दिशा में
मन के माया-मोह-बन्धन को छुड़ा सहज पद्धति से।" (पृ० ८४)

अशरीरी प्रेम की जन्मभूमि शरीर ही है। इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है। यहाँ से पुरुरवा प्रेम के स्थूल रूप से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है प्रेम के स्थूल रूप से सूक्ष्म की ओर बढ़ने में ही कवि का ध्येय निहित है। पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन गुह्य लोकों में विचरण करता है। रूप के भौतिक आधार से उठकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है। प्रेम प्रथम नयनों से परिभाषित होता है। यही नयनों की परिभाषा मन तक सेतु बनकर तरंगायित हो जाती है। शारीरिक स्पर्श मानसिक चिन्तन में परिवर्तित होता है और प्रणय की यही कठोर मिट्टी वायव्य गगन बन जाती है। प्रेम तरंगों का विचरण मात्र रुधिर और त्वचा तक सीमित नहीं। इनका विस्तार तो मन के गहन लोकों में व्यवस्थित है जहाँ रूप की लिपी अरूप की छवि संजोती है—

"देह प्रेम की जन्मभूमि है पर उसके विचरण की
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुह्य लोकों में
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है

× × × ×

पहले प्रेम स्पर्श होता है तदनन्तर चिन्तन भी
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर, तब वायव्य गगन भी।" (पृ० ६०)

पुरुरवा का विश्वास है कि काम की उदात्ततम भावना से तन का अतिक्रमण कर मनुष्य ऊपर झलकते हुए द्युतिमान जीवन की झाँकी प्राप्त कर सकता है। पुरुरवा का विश्वास निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट है—

"ऊपर जो द्युतिमान, मनोमय जीवन झलक रहा है
उसे प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिक्रमण से।" (पृ० ६१)

देशकाल की सीमा को तोड़कर बाहर निकलने का एक मार्ग योग-साधना है किन्तु देश-काल के बन्धन को तोड़ने का दूसरा मार्ग नर-नारी प्रेम के भीतर से भी निकलता है जो देह-धर्म से मनुष्य को अन्तरात्मा तक ऊपर उठा देता है। दिनकर ने निर्भ्रान्त शब्दो का आश्रय लिया—

"यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, आलिंगन नर-नारी का
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।" (पृ० ६२)

परिरम्भ-पाश में बँधे हुए प्रेमी, परस्पर एक-दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक मे पहुँचना चाहते हैं जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है (*भूमिका*)। उस तन का अति-क्रमण कर मनुष्य लौकिक धरातल से ऐसे धरातल पर पहुँच जाता है जहाँ कैलास-प्रान्त मे प्रत्येक पुरुष शिव का रूप धारण कर लेता है और प्रत्येक प्रणयिनी नारी शक्तिदायिनी शिवा बन जाती है।[1] यह स्थिति यदि शुद्ध अलौकिक नहीं है तो इतना भी निश्चित है कि यह अवस्था लौकिक भी नहीं है। कम-से-कम तन की अतिक्रान्ति से ऐसी स्थिति मे तो मानव अवश्य व्यवस्थित होता है जो अलौकिक नहीं तो लौकिक भी नहीं। किन्तु कवि ने स्वस्थ धरातल पर पनपे उदात्त काम के माध्यम से नर-नारी को उस शिखर पर पहुँचा दिया है जहाँ पंच कंचुकों से रहित प्रत्येक प्राणी-युगल के पाश में शिव-शिवा की शाश्वत समापनहीन लीला का चक्र गतिशील रहता है। प्रेम के उपलब्ध चरम क्षणों को स्वर्गिक अनुभूति से भी असज्जित काम के रसमय क्षणों को कवि रस-समाधि की संज्ञा देता है जहाँ स्वर्ग ही सेज बनकर रस-समाधि की पावनता को अगोचर सुख की झलक में परिणत कर देता है।[2]

नर-नारी, देह परिधि पार कर रस-समाधि में डूबे मन के उच्च निलय में जब निश्चित शिखर पर व्यवस्थित होते हैं तब प्रकृति में पुलक भर जाती है और फूलों मे मुक्त-हास छिटक जाता है।[3]

प्रेम दाह मात्र नहीं अमृत शिखा भी है। प्रेम की सहज नौका ही हमें लौकिक सागर

---

१ *"वह जहाँ कैलास-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है*
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।" (पृ० ६२)

२. *कितनी पावन वह रस-समाधि जब सेज स्वर्ग बन जाती है,*
गोचर शरीर में विभा अगोचर सुख की झलक दिखाती है। (पृ० ९५)

३ *"जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में*
नर-नारी मिलते समाधि-सुख निश्चेत शिखर पर
तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।" (पृ० ७१)

से पार उतार दिव्यलोक में पहुँचाती है—

"जिस मधुर भूमिका में जन को तरंग दर्शन पहुँचाती है
उस दिव्यलोक तक हमें प्रेम की नाव सहज ले जाती है।" (पृ० ९५)

दिनकर काम के इसी महात्म्य को उदात्त और स्वस्थ बताते हैं जहाँ दिव्यलोक की मधुर भूमिका दर्शन के माध्यम से नहीं सहज प्रेम से प्राप्त होती है।

चतुर्थ अंक में दिनकर ने महर्षि च्यवन के माध्यम से संन्यास और प्रेम के मध्य संतुलन स्थापित किया। महर्षि च्यवन को प्रकृति और परमेश्वर के बीच सेतु के रूप में प्रस्तुत कर उर्वशीकार ने काम की निर्मल और सुस्थिर धारा प्रवाहित की। काम की वह सुस्थिर धारा महर्षि च्यवन के स्वस्थ व्यक्तित्व की उद्घोषणा कर जीवन के प्रति नये स्पन्दनों का मधुर-संगीत-निर्माण करती है। पुनः भूमिका की ओर लौटें—"...मनुष्य को सिखलाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति, दोनों को प्राप्त नहीं कर सकता।"......प्रकृति और परमेश्वर की एकता की अनुभूति, संन्यास और प्रेम के बीच एक सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टिकोण यही उर्वशीकार भी कहना चाहता है। उर्वशीकार स्पष्ट शब्दों में उर्वशी से उद्घोषणा करवाता है कि मनुष्य अपने आपको स्वयं नहीं पहचानता वस्तुतः वह स्वयं ही प्रकृति का रूप है।[1]

इस अंक मे उर्वशी के उन्मादक रूपाकर्षण के स्थान पर सुकन्या के गृहिणी रूप की कर्त्तव्यमयी ज्योति उद्भासित है। पत्नीत्व की गौरवमयी गरिमा के भार से झुकी सुकन्या के लिए उसका पति ही आराध्य और आनन्दधाम है। वह अप्सराओं की भाँति अपनी सृष्टि को संकुचित कामन की संज्ञा नहीं देती और न ही अनेकों के लिए अपने तन में सुरभि संजोती है। त्रिविध भोगों के स्वादों से दूर वह एकचारिणी है।[2] महर्षि च्यवन भी सुकन्या को 'भूमा' का पर्याय मान नारी रूप में जन्म लेने को परम सौभाग्य मानते हैं। उनका कथन 'शुभे ! त्रिया का जन्म ग्रहण करने में बड़ा सुयश है' क्योंकि नारी ही वह महासेतु है जहाँ अदृश्य से चलकर नए मनुज नव प्राणों को संजोकर परम रूप को प्राप्त करता है—

"नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नए मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं

---

१ *"मूढ़ मनुज ! यह भी न जानता*
तू ही स्वयं प्रकृति है।" (पृ० ७९)

२. *"एकचारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का*
मेरे तो आनन्दधाम केवल महर्षि भर्त्ता हैं
योग-भोग का भेद अप्सरा की अबन्ध क्रीड़ा है
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं।" (पृ० १०४)

नारी ही वह कोष्ठ, देव, दानव, मनुष्य से छिपकर
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।" (पृ० ११३)

सुकन्या नारी के सौन्दर्य को विश्वविजयिनी अमोघ शक्ति मानती हैं फिर भी गार्हस्थिक जीवन के प्रति उसकी गम्भीरता नारी-जीवन के सार्थकता की द्योतक है—

"शिखर-शिखर उड़ने में जाने कौन प्रमोद लहर है
किन्तु एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नए-नए फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को।" (पृ० १०४)

नारी के गार्हस्थिक-जीवन की सार्थकता के साथ-साथ उर्वशी के मातृत्व और नारीत्व के संघर्ष के मर्मस्पर्शी चित्र भी दिनकर ने प्रस्तुत किए हैं।

पंचम अंक भारतीय नारी का दर्शन है। पुरुरवा के संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् औशीनरी का त्यागपूर्ण सम्पूर्ण समर्पण तथा मातृत्व के दायित्व निर्वाह की भावना ने उसको कुल वधु की उदात्त गरिमापूर्ण करुण कहानी का जीता-जागता प्रमाण सिद्ध कर दिया है। औशीनरी का आदर्शवादी धर्म पत्नी का यह रूप आज के जीवन की वास्तविकता से दूर तथा कृत्रिम है। इसके बाद भी सब कुछ खोकर वह पूर्ण है और पुरुरवा सब कुछ भोगकर भी विषण्ण और रिक्त। औशीनरी का जीवन मात्र भार का पर्याय है फिर भी विमाता में मातृत्व की ऐसी गरिमा भारतीय परिवेश में ही सम्भव हो सकती है।

लेकिन, कुल मिलाकर, उर्वशी का प्रतिपाद्य अथवा केन्द्रीय स्वर क्या औशीनरी के माध्यम से आदर्श नारी का स्थापन है? शायद नहीं! उर्वशीकार को औशीनरी की तरह सब कुछ खोकर भी 'पूर्णता' काम्य नहीं है, वह सब कुछ भोगकर भी पुरुरवा की तरह 'विषण्ण और रिक्त' रहना चाहता है क्योंकि यही वह स्थिति है जो द्वन्द्व की स्थिति कायम करके मानव-मन को आधिभौतिक और आध्यात्मिक जिज्ञासाओं में संलग्न रखती है, काम पक्ष को उसकी पशुता से संशोधित कर अवाग्यवीय एवं अतीन्द्रिय लोक तक पहुँचने को लालायित करती है; अकेले योग की अवज्ञा कर भोग में योग का संधान करती है और काम अथवा प्रेम के देवता को शरीरद्वार से आमंत्रित कर आत्मलोक तक पहुँचाने की अकुलाहट उत्पन्न करती है। ये स्थितियाँ अथवा प्रश्न चार्वाक के दामन को छूकर भी कुछ इस तरह देहान्तरण से पीड़ित हैं कि एक अध्यात्म-प्राण भारतीय पुरुष अपनी आदिम विरासत के साथ साकार हो उठता है जिसने भोग से समाधि की ओर पहुँचने में आज तक कितने प्रयोग नहीं किए और कितने आगे नहीं करेगा—किसी को क्या मालूम! वीरेन्द्र कुमार जैन की इन पँक्तियों से मेरा मंतव्य शायद और अधिक स्पष्ट हो जाएगा—

"कहीं भी अन्तिम हस्ताक्षर करने से
उसने कर दिया है इनकार,

उस पराजय के भृंग को
बह कर गया है पार;
''''''एक अति-क्रान्ति-पुरुष ने
'अभी और यहाँ' भगवान होकर चलना
तक कर दिया है अस्वीकार।
ताकि आने वाले कल,
पृथ्वी पर नर-नारी के प्रेम को
अन्ततः सीमित और निस्सार न कहा जाए।''

(शून्य पुरुष और वस्तुएँ)

□

काव्यानुभूति

महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने उर्वशी पर विपरीत ढंग से विचार किया है। वासुदेव शरण अग्रवाल इसे बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज ने शास्त्रीय दृष्टि से उर्वशी को महत्त्व दिया है। अधुनातन आलोचक डॉ० नगेन्द्र की उर्वशी विषयक आलोचना पर्याप्त प्रशंसात्मक है उन पर प्रभाववाद की छाया परिलक्षित होती है। निश्चय ही दिनकर का लय-विधान, काव्यात्मक शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सक्षम है। रोमानी बिम्ब-विधान इतना रमणीय है कि कृति बहा ले जाती है।

सृष्टि-विकास की जिस भावना के माध्यम से जीवन एवं सृष्टि के रहस्य को समझने का प्रयास उर्वशी की काव्यानुभूति को रचता है उस विषय में दिनकर का कथन है "किन्तु, इस कथा को लेने में बौद्धिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्त्तन मेरा ध्येय नहीं रहा। मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी की" (*उर्वशी : भूमिका*)। उर्वशी के काव्यानुभव में सनातनता की भूमिका है। इन पंक्तियों में सनातनता का तत्व उर्वशी की काव्यानुभूति को रचता है—

"मैं अदेह कल्पना, मुझे तुम देह मान बैठे हो
मैं अदृश्य, तुम दृश्य देखकर मुझको समझ रहे हो।

× × ×

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?
कब आएगा वह भविष्य, जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?

× × ×

मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,
उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है।" *(पृ० १०)*

उर्वशी अदेह नहीं है। वह देह की सार्थकता को प्रमाणित करने आई है। तृतीय अंक के प्रारम्भ और बीच में भी यह अनुभव है कि उर्वशी अदेह नही है। इस प्रकार अस्तित्व की अदेहता को वह निरन्तर सिद्ध करती रहती है किन्तु एकाएक उसे दैवी होने का गौरव जागता है। तृतीय अंक के प्रारम्भ की उर्वशी के अनुभव पर चोट पड़ती है। उसके ठोस ऐन्द्रिय मांसल अनुभव के ताप को उसी का अनुभव भुलाने लगता है। जिस भोग-परक दैहिक प्रेम को वह देवलोक से मानवलोक में सतप्त करने आयी थी उसे छोड़कर

वह स्वयं प्रेम, मानसिक सौन्दर्य की एक कल्पना बनती जाती है। इस प्रकार जो प्रभाव तृतीय अंक का पड़ना चाहिए था वह खण्डित होने लगता है। जिस सार्थकता को उर्वशी द्वारा उभरना था वह टूटने लगती है। पुरुरवा अमूर्त्त सत्ता व मूर्त्त प्रणय-व्यापार के भीतर विक्षुब्ध है और उर्वशी इस द्वैत को मिटाना चाहती है किन्तु स्वयं उसकी विचारधारा में द्वैत उभर पड़ता है—उसकी अनुभूति विभाजित होती जाती है और उर्वशी एक प्रतीक में पर्यवसित हो जाती है। यह कविता का उत्कर्ष न होकर ह्रासोन्मुखता है। उर्वशी शाश्वत सत्ता का प्रतीक बन सूक्ष्म ज्ञान का धरातल प्राप्त कर लेती है जहाँ पर उर्वशी देह धर्म से परे किसी को स्वीकार नहीं करती वहाँ वह सार्थक है। संपूर्ण जितने भी ऐन्द्रिय-संवेदन है वे एक सुन्दर कविता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं चूँकि वहाँ अनुभव का ताप सघन है लेकिन वह यहाँ नही है। यहाँ वह निस्सीम-असीम बन जाती है। छायावादी कविता की परिसमाप्ति भी इसलिए हुई थी कि वह भी असीम हो गई थी। ऐसी अवस्था में कविता का कोई अर्थ नहीं। दिनकर इसी असीमता द्वारा अपने कवि को जीवित रखना चाहते हैं।

"नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, नर-नारी के आलिंगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिल जाते हैं, तब भी, उनके भीतर ऐसी तृपा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है" (*उर्वशी : भूमिका*)। अर्थात् जैव शक्ति एवं धर्म संस्कार इसमें है कोई जैव शक्ति-प्राणिज तत्व है जिसके कारण नर-नारी का आकर्षण बना रहता है, मिलने पर केवल शरीर से तृप्त नहीं होने—यह धर्म का संस्कार है। मनुष्य मूल्य के धरातल पर जीना चाहता है। दिनकर जिस दृष्टि से शरीर के प्रति अनासक्ति का अनुभव करते हैं—वह धर्म संस्कार है। जैव शक्ति एवं धर्म-संस्कार का तनाव उर्वशी की काव्यानुभूति को निर्मित करता है।

एक रहस्यमयता भी काव्यानुभूति को रचती है। मनुष्य के भीतर कुछ रहस्यमयता है। दिनकर की काव्यानुभूति में रहस्यमयता भी जान पड़ती है—"मनुष्य के उस द्वन्द्व का, साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस आकुलता अथवा ऐन्द्रियता से निकल कर अतीन्द्रिय जगत में आँख खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरुरवा है। "पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम मात्र शरीर के धरातल पर नहीं रुकता, वह शरीर से जन्म लेकर मन और प्राण के गहन, गुह्य लोकों में प्रवेश करता है, इसके भौतिक आधार से हटकर रहस्य और आत्मा के अन्तरिक्ष में विचरण करता है" (भूमिका)। इन पंक्तियों से रहस्यमयता है। कुछ शब्द यहाँ ऐसे हैं जो जैव शक्ति धर्म संस्कार रहस्यमयता का सद्भाव उनकी काव्यानुभूति में सिद्ध करते हैं—

> **"कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ**
> **पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है**
> **उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ**

रूप का रसमय निमन्त्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती।
× × ×
चाहिए देवत्व,
पर, इस आग को धर दूँ कहाँ पर ?
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर ?
× × ×
इन प्रफुल्लित प्राण-पुष्पों में मुझे शाश्वत शरण दो
गन्ध के इस लोक से बाहर न जाना चाहता हूँ
मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।" (पृ० ४७)

काव्यानुभूति में जैव शक्ति, धर्म-संस्कार एवं रहस्यमयता के संघात का अन्वेषण करने के लिए यदि पृष्ठ ४७ से ५४ पृष्ठ तक लम्बे पुरुरवा के इस पूर्ण संवाद का क्रमिक चिंतन कर लिया जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

कौन है अंकुश······ > दो विपरीत परिस्थितियों का तनाव यहाँ उभरता है, यह तनाव कविता का रचना-विधान है जिस तनाव को लगातार पुरुरवा झेल रहा है। उर्वशी और पुरुरवा दोनों अपने अपरिचय को व्यक्त करते हैं। सरोवर मे जल है किन्तु उसके निकट रहते हुए भी वह जल ग्रहण न कर पाये, तृषित रहे, यह विचित्र स्थिति है। पुरुरवा उर्वशी के सौन्दर्य के निकट है किन्तु वह उर्वशी के सौन्दर्य का उपभोग करने में असमर्थ रहता है। असौन्दर्य के प्रति पिपासु होने पर भी वह पूर्णतः उसे पी नहीं पाता। इस अंकुश को वह नहीं समझ पाता किन्तु उस वेदना को अनुभव करता है। इस बिन्दु से वह सौन्दर्य की ओर अपनी पिपासा को प्रसारित करना चाहता है।

आग है कोई नहीं जो शांत······ > उर्वशी का रूप पुरुरवा को आकर्षित करता है या उसके भीतर रक्त में ऐसी शक्ति है जो उसे रूप से अनासक्त बनाती है। दो प्रकार की विरोधी परिस्थितियाँ हैं। इन दोनों में से कौन है जो उसे शांति से नहीं जीने देती। यहाँ चन्द्रमा का बिम्ब उर्वशी का सौन्दर्य है जिसे वह पूर्णतः निचोड़कर रस का पान करना चाहता है क्योंकि बड़ी सरलता से चन्द्रमा को हाथ में धरकर निचोड़ने वाला बिम्ब मानवीय भावना व आचरण को व्यक्त कर रहा है। यह मानवीय व्यापार का बिम्ब आसक्ति को व्यक्त करता है अतः अनुभूति रूप ग्रहण कर लेती है।

किन्तु रस के पात्र······ > रूप देखने की वस्तु है ज्यों ही रूप को देखकर हम उसे पान करने की सोचते हैं, वह नष्ट हो जाता है। भाव और रूप दो अलग सत्ताएँ हैं। उनके बीच जो अनुभव उत्पन्न होता है वह तटस्थता से उत्पन्न होता है। रूप का स्पष्ट स्वभाव है कि वह हमें भाव की ओर उन्मुख करता है

टूट गिरती उमंगें······>यहाँ से विपरीत विचारधाराओं का क्रमिक सवाद आरम्भ हो जाता है। इन पंक्तियों में लय का आवेग है जो अनुभव की शक्ति को निर्मित करता है।

रक्त की उत्तप्त लहरों की······>यह कविता अपने आप में दो भावों का सवाद है। यह शब्द किस प्रकार की कविता के हैं? छायावादी कविता में सत्य, सौन्दर्य, आराधना, व्योम, शून्य आदि शब्द पाये जाते हैं। यहाँ अभिव्यक्ति रोमांटिक है। अनुभव का रूप भी रोमांटिक है, यह आज का द्वन्द्व नहीं है। पुरुरवा उपभोग परक आसक्ति और उदात्तोन्मुख आसक्ति को धारण करता है जो अनुभव इसमें चल रहा है वह एक भाव को जन्म देकर अनुभव के प्रति समझ उत्पन्न करना चाहता है। सम्पूर्ण छायावादी कविता में बौद्धिकता है। भावना और सत्य को आदर्शवादी अलग-अलग मानते है। सत्य भौतिक सीमाओं से अलग होता है। भौतिक सीमाओं से पार के सत्य के प्रति मोह का रूप छायावादी काव्य में मिलता है; वही मोह यहाँ दिनकर में परिलक्षित किया जा सकता है।

मिट्टी और आकाश के घनिष्ठ सम्बन्ध को ये पंक्तियाँ उद्घाटित करती हैं। जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ और किरणोज्ज्वल प्रदेश ये दोनों अलग-अलग हैं किन्तु उनका सम्बन्ध अवश्य है, उसके रूप को कवि अन्वेषित करने में व्यस्त है। दो परिस्थितियो के बीच जो द्वन्द्व उभरता है—वह सम्बन्ध का है। मिट्टी और आकाश का यह सम्बन्ध असमंजस उत्पन्न करता है। इस असमंजस की उलझन के कारण कवि के प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता जो उसे भीतर ही भीतर उद्वेलित करते हैं।

और इतने में······>इस तरह की पीड़ा के बीच पुरुरवा दौड़ रहा है। रूप के सम्मोहन के मायावी इन्द्रजाल के बीच उसे उपरोक्त गान सुनाई देता है। पृथ्वी से रूप एवं सौन्दर्य का गान फूटकर पुरुरवा को अथ से इति तक निमग्नावस्था में पहुंचा कर, सौन्दर्य का प्रबल आकर्षण उसे अपने में रूपायित कर लेता है। इसके लिए कवि अनेक आकारों की संयोजना करता है। उर्वशीकार ने इस प्रक्रिया में उसी शिल्प को अपनाया है जो छायावादी कवि ग्रहण करते थे जिसकी तन्मयता में पाठक को बहा ले जाने की क्षमता थी। यथार्थवादी कविता पाठक के मनोवेगों को संगठित कर समस्या का सामना करने की शक्ति देती है जब कि रोमांटिक (Romantic) कविता पाठक के मनोवेगों को फैलाकर उसे तन्मय बना देती है। प्रतिक्रियास्वरूप पाठक भी अपनी चेतना खोकर उसी में डूब जाता है। दोनों कविताओं का उद्देश्य भिन्न है। आसक्ति की अधीर उत्सुकता को ये पंक्तियाँ व्यक्त करती हैं। नींद >शब्द के अर्थ है>तन्मय की नींद, दूसरी अद्भुत नींद। नींद कितनी तरल सुखद और सुन्दर है। यह बड़ी मनोरम कल्पना है। दिनकर ने नींद की जो नियोजना की है वह नई है। यहाँ कामनाओं की ज्योति में नींद दिखाई गई है जिस ओर ये पंक्तियाँ संकेत करती हैं।

और तब सहसा न जाने······>यहाँ लालिमा 'दृश्य' है और झंकार 'श्रव्य' है

किसी विशेष अनुभव के क्षणों में हम संगीत का राग सुन सकते हैं। इस प्रकार का विरोध अनुभव के द्वितीय रूप को व्यक्त करता है। इसमें अरुणता है जो हमें प्रभावित करती है। यहाँ पुरुरवा की सक्रिय भूमिका है। उष्णता का अनुभव तन्मयता की ओर ले जाता है। यह कविता की रूप-रचना में व्याघात लगना है, कविता अब तक दो पक्षों के घात-प्रतिघात को झेल रही थी किन्तु अब वह एकपक्षीय हो रही है।

फिर क्षुधित कोई अतिथि······>प्रारम्भ में आकर्षण और आसक्ति के बीच तनावपूर्ण अनुभव को उपलब्ध किया गया है किन्तु बाद में आसक्ति के अनुभव को ही सघन बनाने का प्रयास किया गया। इस तनाव और अनुभव को यह आसक्ति उभार कर पाठक की चेतना को प्रखर बनाती है।

इन पंक्तियों में एक तरह का आन्दोलन महत्त्वपूर्ण है जो अनुभव को रूप देता है। शात तन्मयता की ओर ये पंक्तियाँ ले जाती हैं। इन पंक्तियों के कवित्व में से अशात आन्दोलन और शांत तन्मयता का रूप उभरता है। यह अनुभव हमारे समीप पहुँच कर हमें उष्णता अनुभव कराता है। यह Romantic कविता का स्वरूप है।

और तब सहसा······>कविता, कुसुम, कामिनी इन तीनों शब्दों का प्रयोग यहाँ कवि ने किया है किन्तु तीनों का भेद समाप्त हो जाता है। केवल सौन्दर्य के रूप में पुरुरवा उर्वशी को देखता है अर्थात् भेद-दृष्टि लुप्त हो गयी है और उर्वशी सौन्दर्य के प्रत्यय के रूप में पर्यवसित हो जाती है।

और फिर यह सोचने······>सुखद तन्मयता की स्थिति में सारी दुनिया व परिवेश आश्चर्यमय लगता है। यह पंक्तियाँ आश्चर्यमय प्रीतिकरता और अपरिचित उल्लास की जिज्ञासा को व्यक्त करती हैं। यह अपरिचय पुरुरवा के भीतर छा गया है। पुरुरवा सब कुछ जानता है पर सब कुछ जानते हुए भी एक तरह का भोलापन उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है तब वह ऐसी जिज्ञासाएँ प्रकट करता है। तन्मयता की स्थिति ने एक तरह के अजनबी वातावरण को उसके भीतर उपस्थित कर दिया है।

कौन यह जग, समेटे अंक में······>इस सुन्दर बिम्ब में वह सौन्दर्य की कल्पना एक जग में कर लेता है। ज्वालामुखी को अपने में समेटने के साथ वह तन्मयता आसक्ति की प्रबल आग को अपने में लिए हुए है। प्रेम व आसक्ति के अनुभव की अद्वितीयता को दिनकर यहाँ ज्वालामुखी और चाँदनी शब्द में व्यक्त करते हैं, पुरुरवा स्वयं तन्मयता के जगत् में पर्यवसित हो जाता है और उसका प्रेम भाव ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होता है। चाँदनी और ज्वालामुखी अपने प्रकृत धर्म को छोड़ देते हैं अर्थात् चाँदनी ज्वालामुखी को बहलाती है।

आसक्ति की चरमस्थिति—चारों ओर प्रेम का इन्द्रजाल फैल गया है, पुरुरवा उससे उड़ने के लिए प्रयत्नशील है किन्तु वह जाल उसके सारे अस्तित्व को जकड़े हुए है। आसक्ति की चरमस्थिति है। वायु व्याकुल होकर रस व उपभोग का उत्सव मना रही है। वह चाहते हुए भी उस परिस्थिति का परित्याग नहीं कर सकता। पुरुरवा उर्वशी

की (अर्थात् कुसुम की) गोद में गिर रहा है।

किसलयों की माला कोमल आकांक्षाओं में बंधी है जिसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता—तन्मयता का द्योतक है। भयानक से भयानक परूपता व कठोरता कोमलता के आगे झुक जाती है। यहाँ स्त्री और पुरुष को जिस रूप में देखा गया है वह स्त्री-पुरुष का यथार्थ सौन्दर्य नहीं। स्त्री के आकर्षण के सम्मुख जहाँ पुरुष विवश हो जाता है, भावना का सौन्दर्य है। भावनात्मक सौन्दर्य से बनी फूलों की लड़ी को न तोड़कर दिनकर भावना के आधार पर प्रेम का दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं।

सिंधु-सा उद्दाम...... > इन पंक्तियों में पुरुरवा के अहंकार का उदय होता है जिसे कवि ने ऐसे बिम्ब व भावस्थितियों के प्रसंगों द्वारा नियोजित किया है जिससे पुरुरवा का पौरुष सामने आता है। शब्दों के भीतर जो ध्वनि शक्ति है वह पुरुरवा के पौरुष को अनुभव का रूप देती है। पुरुरवा अपने को विजय रूप मानता है। यह पंक्तियाँ अनुभव को भावात्मक धरातल पर उपस्थित कर भावात्मक स्थिति के धरातल पर ही अर्थ को स्फीति देती है। शक्ति के रहते हुए भी वह निरुपाय हो जाता है।

बिद्ध हो जाता सहज...... > यहाँ पुरुरवा पूर्ण निमग्न हो अपना स्थूल अस्तित्व छोड़कर भाव रूप ग्रहण कर चुका है। यहाँ आसक्ति की सघनता की बात कही गई है। मनुष्य को सार्थकता देवत्व द्वारा मिलती है क्योंकि प्रेम के जिस कंपन को वह अनुभव कर रहा है वह कहाँ है ? अन्त तक आते-आते पुरुरवा पराजित हो जाता है। उसका सारा अहंकार उर्वशी के सौन्दर्य में लुप्त हो जाता है। वह अंधलोक से बाहर न जाकर उर्वशी के सौन्दर्य एवं रक्त के भीतर समाकर प्रार्थना के गीत गाना चाहता है, दिनकर की सबसे बड़ी आकांक्षा यही रही है कि रक्त के भीतर ही प्रेम रहे, जिस कारण वे प्रेम को ठोस और उदात्त दोनों ही रूपों में प्रस्तुत कर आसक्ति को लौकिक धरातल पर रख पाए है। पंक्तियों के अंत में पूरी रचना की संवेदना होती है किन्तु यह अंश उस संवेदना से बहुत कुछ भिन्न है।

पुरुरवा के इस आठ पृष्ठ लम्बे संवाद में कुछ पंक्तियाँ जैविक एवं कुछ आध्यात्मिक आकर्षण को व्यक्त करती हैं। जटिल-गुम्फन इन तीनों तत्त्वों का है। "परिरम्भ-पाश मे बंधे हुए प्रेमी, परस्पर एक-दूसरे का अतिक्रमण करके, किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय हो" (*भूमिका*)। किरणोज्ज्वल वायवीय प्रदेश का आकर्षण भी काव्यनुभूति को बनाता है। सूक्ष्म आध्यात्मिकता का प्रकाश भी काव्यानुभव में अपनी कड़ियाँ जोड़ता है। द्वन्द्व भी उर्वशी की काव्यानुभूति को निर्मित करता है। पुरुरवा निरन्तर द्वन्द्व ग्रस्त मानव है—

"द्वन्द्व शूलते जिसे, सत्य ही, वह जन अभी मनुज है,
देवो वह, जिसके मन में कोई संघर्ष नहीं है
तब भी मनुज जन्म से है लोकोत्तर दिव्य तुम्हीं-सा,

मटमैली, खर, चटुल धार निर्मल, प्रशान्त उद्गम की।"

× × ×

"पर, कैसा दुःसाध्य पंथ ! कितना उड्डयन कठिन है !
पहले तो मधु-सिक्त भ्रमर के पंख नहीं खुलते हैं;
और खुले भी तो उड़ान आधी ही रह जाती है;
नीचे उसे खींच लेता है आकर्षण मधुवन का।"

—(*पृ० ५१ से ६३ तक पुरुरवा का पूर्ण संवाद*)

यहाँ द्वन्द्व के द्वारा मनुष्य को परिभाषित करने के साथ उसका गौरव एवं उद्गम दिखाया गया है। मनुष्य का संघर्ष व उसकी विवशता व्यंजित है। रक्त> भौतिक प्रवृत्ति। बुद्धि >आध्यात्मिक प्रवृत्ति। भौतिक प्रवृत्ति अधिक बली है वह मनुष्य को अपनी ओर खींचती है इसीलिए मनुष्य अपनी पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता। मनुष्य निरन्तर एक संघर्ष और विवशता में जीवित रहता है। मानव के इसी संघर्ष और विवशता को यहाँ रूपायित किया गया जो आधुनिक युग व जीवन के भी लक्षण हैं किन्तु यहाँ जो स्तवित किया गया वह आधुनिक युग के लक्षण होने पर भी मनुष्य का सनातन संघर्ष है इस कारण यह आधुनिक संघर्ष नहीं है।

ये किरणें ये फूल······ >अर्थात् प्रीतिकर मनोहर जागृत > ये व्यापार अपनी ओर आकृष्ट तो करते हैं किन्तु ये मनुष्य जीवन के अन्तिम सोपान नहीं हैं। मनुष्य को इनसे ऊपर उठना होगा तभी ऊँचाई पर जाकर हम अर्थ उपार्जित करते हैं। जीवन के भौतिक व आध्यात्मिक पक्ष में से कौन-सा सत्य है—यह पुरुरवा का संघर्ष नहीं है अपितु उसकी समस्या है—भौतिकता को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिकता को किस प्रकार पाया जा सकता है। इस कठिनाई को सुलझाने का निरन्तर प्रयास करता है।

स्पष्टत. दोनों पक्षों की वास्तविकता को—मिट्टी व किरणोज्ज्वल प्रदेश को पुरुरवा जाना चाहता है। मिट्टी से अम्बर को पहुँचना चरम सत्य को पहुँचना है। रक्त की परिस्थिति से दिनकर सत्य का निदर्शन कराना चाहते हैं जो सम्भव नहीं जबकि परिस्थितियों के बीच से ही सापेक्ष सत्य उत्पन्न हो सकता है—जो गत्यात्मक होगा। दिनकर सामाजिक व वैज्ञानिक प्रकृति के अनुरूप नहीं है।

दाह मात्र ही नहीं······ >प्रेम में जलन के साथ सुखानुभूति भी होती है। प्रेम की सम्पूर्णता एवं समग्रता को कवि ने रूपायित कर उसे (प्रेम को) सृजनात्मक शक्ति स्वीकार किया है। मनुष्य में नारी एक विशिष्ट सर्जनशील शक्ति के स्रोत का उद्घाटन करती है अर्थात् नारी जब किसी पुरुष को इच्छामयी दृष्टि से देखती है तो सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

नर समेट रखता······ >इन पंक्तियों में पुरुरवा के भीतर नर और कवि की प्रवृत्ति को रूपायित किया गया है। नर-प्रवत्ति सहज और जैविक (Biological) होती है—कवि प्रवत्ति > अर्जित व होती है नर-प्रवत्ति जागृत हाने पर

मनुष्य नारी को बाँहों मे आबद्ध करता है। कवि-प्रवृत्ति प्रेम के स्थूल स्वरूप का अतिक्रमण करके सूक्ष्म स्वरूप को हृदयंगम करती है। कवि-प्रवृत्ति रूप की उज्ज्वल झंकारो में लीन रहती है अर्थात् स्थूलता से निरन्तर सूक्ष्मता की ओर जाती है। कभी पुरुरवा मे नर-प्रवृत्ति जागृत होती है तो कभी कवि-प्रवृत्ति। वह इन दोनों प्रवृत्तियों के द्वन्द्व मे फँसा है। जो कुछ दृश्यमान है उसे अदृश्य सत्ता से जोड़ने का कार्य कवि व प्रेमी करता है। अनन्त और अमूर्त्त को दिनकर सत्य मानते हैं अर्थात् दिनकर का विश्वास उस कृति में है जो अमूर्त्त व अनन्त है। दिनकर जैसे-जैसे अनन्त की उपासना करते जाते हैं वह वैसे ही वैसे समझते हैं कि उनकी कविता प्रौढ़ हो रही है। इसमें विचार की प्रौढ़ता सनातन हो गई है। इसलिए यह अपने समय से असम्बद्ध हो गई है। प्रेम को दिनकर अनन्त और अमूर्त्त रूप में परिवर्तित कर उसे सारवान मानते हैं। अनुभव को मूर्त्त होना चाहिए और समय को स्वीकार करना चाहिए।

दिनकर के अनुसार प्रेम की जन्म-भूमि देह है।[1] उसका विचरण लोक मन के गहन गुह्य-लोक में फैला हुआ है। रूप का अभिव्यक्त रूप प्रेम है। अरूप रूप को मूल्यवान कर प्रेम की मूल्यवानता को उजागर करता है। लौकिक प्रेम यदि अलौकिक प्रेम के साथ सम्पर्क स्थापित नहीं करता तो वह प्रेम नही। यहां प्रेम को दो रूपों में प्रस्तुत किया गया—पहले पदार्थ स्थूल रूप में दिखाया गया फिर व्यक्तिगत रूप में। यहाँ कवि बताना चाहता है कि उर्वशी का प्रेम दैहिक है[2] जो उर्वशी के मानस को चिन्तन की ओर प्रेरित करता है, जहाँ स्वर्गीय आकार की ऊर्मियाँ उसका स्वागत करती हैं। प्रेम मनुष्य को चिंतनशील बनाता है जिससे मनुष्य अपने अर्थ को ग्रहण कर उसकी अद्वितीयता को चरितार्थ करता है। कवि प्रेम के भाव को निरपेक्ष सत्य के रूप में रूपायित कर देते हैं।[3] तदुपरान्त प्रेम

---

१. *"देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की*
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुह्य-लोकों में
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी मुख-मंडल में
किसी दिव्य, अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।" (पृ० ६०)

२. *मुझमे जिस रहस्य-चिन्तक को तुमने जगा दिया है,*
उड़ा चाहता है वह भावुक इस निरभ्र अम्बर में,
घेर रहा जो तुम्हें चतुर्दिक अपनी स्निग्ध विभा से,
समा रहीं जिसमें अलक्ष्य आभा-उर्मियाँ तुम्हारी!" (पृ० ६०)

३. *वह नभ, जहाँ गूढ़ छवि पर से अम्बर खिसक गया है*
परम कान्ति की आभा में सब विस्मित चकित खड़े हैं
अधर भूलकर तृषा और शोणित निज तीव्र क्षुधा को

का स्थूल व भावात्मक स्वरूप अध्यात्म और निरपेक्ष सत्ता में रूपान्तरित हो जाता है।[1] यहाँ उर्वशी के स्थूल प्रेम ने चिन्तन को जन्म दिया और भाव पुन: चरम सत्य मे रूपान्तरित हो गए। निर्विकल्प समाधि से लौटना कठिन है। स्त्री और पुरुष एक ही सत्ता की प्रतिमा हैं। देह और देह का सम्वन्ध केवल तृप्ति दे सकता है और कुछ नही। मनुष्य ने जो प्रत्यक्ष उपलब्धियाँ प्राप्त की है उन्हें दिनकर अटकल कहकर अप्रमाणित करते है।[2] कवि की दृष्टि ऐतिहासिक सापेक्ष सत्य को स्वीकार करने की नहीं है। औदात्य का स्वरूप दिनकर यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं जो सम्पूर्ण उच्छृंखलताओं को छोड देता है। कवि प्रेम का नया अतिक्रमण[3] देना चाहता है। लौकिक प्रेम का रूपान्तर अलौकिक प्रेम में होना कठिन है क्योंकि वह बार-बार नीचे की ओर खींचता है इसी कठिनाई को निरन्तर वह द्वन्द्वग्रस्त होकर झेलता है। द्वन्द्वमय भाव जगत् से आकर्षित उर्वशी धरती पर आ इस द्वन्द्वमय संघर्ष को गौरव देती है जिसका प्रसार रोमांटिक धरातल पर हुआ है।

काव्यानुभव की निर्मिति में मूल प्रवृत्ति एवं सहज ज्ञान की भी भूमिका है—"किन्तु मनुष्य ने जिस परिमाण में बुद्धि अर्जित की, उसी परिमाण में उसने सहज प्रवृत्ति (Instinct) की शक्ति को खो दिया। तब भी, बुद्धि थोड़ी पशुओं में भी है और सहज प्रवृत्ति कभी-कभी मनुष्य में भी झलक मारती है। भेद यह है कि पशु का सारा जीवन सहज प्रवृत्ति से चलता है, केवल उसके किनारे-किनारे बुद्धि की हल्की झालर विद्यमान है और मनुष्य के सारे जीवन का आधार बुद्धि है, सहज प्रवृत्ति, कभी-कभी ही, बिजली की तरह उसमें कौंध जाती है।

तब भी, मनुष्य का सर्वोत्तम काव्य, सर्वोच्च दर्शन और विज्ञान के आशातीत

---

१ *वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में*
न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो;
दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है। (पृ० ६१)

२. *जो कुछ भी हम जान सके हैं यहाँ देह या मन से,*
वह स्थिर नहीं, सभी अटकल, अनुमान-सदृश लगता है।
अत:, किसी भी भाँति आप अपनी सीमा लंघित कर,
अन्तरस्थ उस दूर देश में हम सबको जाना है,
जहाँ न उठते प्रश्न, न कोई शंका ही जगती है।" (पृ० ६१)

३. *तन का अतिक्रमण, यानी मांसल आवरण हटाकर,*
आँखों से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को।
और श्रवण करना कानों से आहट उन भावों की,
जो खुलकर बोलते नहीं गोपन इंगित करते हैं।" (पृ० ६१)

आविष्कार, ये सब के सब, संबुद्धि (इनटुइशन) से संकेतित होते हैं, जो बहुत कुछ सहज प्रकृति के ही समान हैं" (*भूमिका*)।

मूल प्रवृत्ति को दिनकर महत्त्वपूर्ण मानते हैं—रक्त बुद्धि से अधिक बली है। संबुद्धि सहज ज्ञान और मूल प्रवृत्ति दोनों के बारे में दिनकर को भ्रम है। सहज ज्ञान को मानने वाले दार्शनिक हैं।

पुरुरवा उस अग्नि को स्वीकार करता है जिसकी उर्वशी प्रबल पक्षधर है। अग्रिम संवादों में उर्वशी उसकी महत्ता को और अधिक प्रमाणित करने की सोचती है। वह प्रमाण के रूप में जिन उपकरणों का प्रयोग करती है वे उपकरण प्रत्यक्ष एवं आवेगात्मक हैं। इस पूरे संवाद में दूसरी बात है रक्त और बुद्धि की। दोनों की सत्ताएँ मौलिक रूप से पृथक् होने के कारण दोनों का कार्य-फलन भी अलग है।

> **"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,**
> **क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।**
> **निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं,**
> **चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है,**
> **वह सूत्रों से नहीं, पत्र-पाषाणों में आया है,**
> **कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।"** (*पृ० ५७*)

उर्वशी इस छंद में उन्माद के माध्यम से रक्त और बुद्धि के कार्य-फलनों की व्याख्या कर रही है। दिनकर द्वैत के पदार्थ को प्राचीन दर्शन के स्तर पर मानते रहे हैं किन्तु उसकी व्याख्या आवेग के स्तर पर बौद्धिक धरातल पर की है। उर्वशी के माध्यम से दिनकर का एक दृष्टिकोण प्रत्यक्ष होता है जहाँ अनुभव और चिन्तन को व्याख्यायित किया गया। अनुभव, रक्त द्वारा सम्भव है, चिन्तन बुद्धि द्वारा। बुद्धि की निर्मितियाँ प्राणहीन होती हैं अतः स्वतः ही चिन्तन प्राणहीन होगा। रक्त से ही बुद्धि निर्मित होती है इसे दिनकर व उर्वशी स्वीकार नहीं करते। इसीलिए रक्त और बुद्धि को दो भिन्न-भिन्न सत्ताएँ मानकर चिन्तन और अनुभव की अलग-अलग व्याख्या की गई जिसे मनुष्य का अनिवार्य धर्म मानकर स्वीकार किया गया। 'चित्र' और 'प्रतिमा' पंक्ति में लेखक की रचना-प्रक्रिया की व्याख्या है। कलाकृतियों में जीवन सूत्र के कारण उत्पन्न नहीं होता। सर्जना एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं। कलाकार के हृदय के भीतर जो उन्मथित रक्त है उससे रचना उत्पन्न होती है एवं रचना की सम्भावना भावों के आवेग से निष्पन्न होती है। यहाँ भावों का आवेग रचना-विधान बन गया है। भावनाओं से बने नए रूप को नया कवि स्वीकार नहीं करता। वह भावना को विषम मानकर बुद्धि की भूमिका को महत्त्व-पूर्ण मानता है। स्वच्छन्दतावादी (Romantic) कवियों के अनुसार भावात्मक संवेद्य अनुभूति को रूप भी देते हैं। भावना या संवेद्य विषय भी है और उसे रूप देने का उपकरण भी। उर्वशी अपने जीवन में सृजनात्मक मूल्यों को उत्पन्न करना चाहती है। देवों के लोक में बौद्धिक शिथिलता व्याप्त थी वहाँ उष्ण सहनशीलता सम्भव न थी

इसीलिए वह भूमि पर आकर पुरुरवा के रूप में सृजनशील अनुभवों को प्राप्त करना चाहती है। उर्वशी का दृष्टिकोण सृजनात्मक है। वह रुधिर के द्वारा जीवन की सार्थकता को उत्पन्न होना मानती है और उसी को प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। चिन्तन, अनुभव और सर्जना को यहाँ व्याख्यायित किया गया। Romantic दृष्टिकोण द्वारा उर्वशी रक्त के आधार पर जीवन की सार्थकता सिद्ध करना चाहती है। यह पुराना छायावादी द्वन्द्व है जिसमें हृदय की प्रधानता मानी जाती है। रक्त की भाषा को इसमें बहुत अधिक भावुकतापरक ढंग से स्थापित किया गया। जीवन में रक्त के महत्त्व को भावुकतापूर्ण गौरव दिया और बुद्धि को निषेधात्मक रूप में स्वीकार किया गया।

इस छन्द के पूरे अर्थ में गद्यात्मकता है। अर्थ के विधान में किसी कल्पना व बिम्ब का प्रयोग नहीं किया गया। कवि शब्दों के भीतर निहित स्वर के काव्यात्मक रूप को जानता है। शब्द की गति से गद्यात्मक अर्थ को काव्य में मिलाने की शक्ति कवि में है। अर्थ के ऊपर सौन्दर्य का धरातल विद्यमान है भीतर नहीं। पुरुरवा के द्वन्द्व का शब्द-चित्र मुखर है—

"पर, शोणित दौड़ता जिधर को, उस अभिप्रेत दिशा में,
निश्चय ही, कोई प्रसून यौवनोत्फुल सौरभ से
विकल-व्यग्र मधुकर को रस-आमन्त्रण भेज रहा है।" (पृ० ५८)

इन पंक्तियों में बहुत सरस और भावात्मक स्थिति उत्पन्न की है। उर्वशी की दृष्टि स्पष्ट है इसीलिए उसके सामने द्वैत का जो द्वन्द्व पुरुरवा झेल रहा है उसके विषय में उसे कोई शंका नहीं। सुन्दरता के भीतर वह पाप का दर्शन करता है उर्वशी पुण्य का। उर्वशी पुण्य का दर्शन किरणोज्ज्वल प्रदेश में करती है वह उसे पाप लगता है। सौन्दर्य में पाप का दर्शन नहीं किया जा सकता। पुरुरवा उस द्वैत से उद्विग्न है वह बुद्धि को भ्रम मानकर किरणोज्ज्वल वायवीय-प्रदेश अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा करता है। उर्वशी के लिए यह बहुत बड़ा द्वैत है। पिछले संवादों में पुरुरवा का यह द्वैत शान्त हो चुका था किन्तु अब यह द्वन्द्व पुनः उत्पन्न हो गया। यह वाद-विवाद कितनी दूर जाना चाहिए—यह ज्ञान दिनकर को नहीं है।

पुरुरवा मानवीय संदर्भ के गौरव और महत्त्व का गान करता है। रक्त हमें अपने उद्गम की ओर नहीं जाने देता अर्थात् मानवीय जीवन के तात्विक स्वरूप को नहीं समझने देता। मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को रक्त ही परिभाषित करता है इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि रक्त के साथ बुद्धि का द्वन्द्व हो अर्थात् दिनकर द्वारा रचित पुरुरवा मनुष्य के तात्विक स्वरूप की निश्चित धारणा रखता है जहाँ तक बुद्धि द्वारा पहुँचा जा सकता है। लेखक मनुष्य के इन दो द्वन्द्वों को प्रस्तुत करता है। बुद्धि हमें एक अव्यय सरिता तक ले जाती है दूसरी ओर एक चरम सत्य में पुरुरवा का विश्वास है जिसे उपलब्ध करना ही उसके लिए जीवन के तात्त्विक स्वरूप को पाना है। भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से पुरुरवा अपने को परिभाषित करने का आकांक्षी है

आज का लेखक भी यही करना चाहता है किंतु उसके पास तत्व का निश्चित स्वरूप नही है। दिनकर की कठिनाई है कि कैसे एक साथ दोनों दृष्टियों से मनुष्य को परिभाषित किया जा सकता है। निष्कर्ष इस प्रक्रिया के असम्भव होने में जाता है। दो विरोधी स्थितियाँ काव्यानुभूति को जन्म देती हैं—

"जब से हम-तुम मिले, न जानें, क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्‌गति से अतीत-गह्वर में।
× × ×
कामद्रुम-तल पड़ी तड़पती रही तप्त फूलों पर,
पर, तुम आये नहीं कभी छिपकर भी सुधि लेने को।
निष्ठुर बन निश्चित भोगते बैठे रहे महल में,
सुख प्रताप का, यश का, जय का, कलियों का, फूलों का।
× × ×
मिले, अन्त में तब, जब ललना की मर्यादा गवाँ कर
स्वर्ग-लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली मैं आयी।" *(पृ० ४२,४३)*

प्रेम का आत्मगत आधार—यहाँ समय की विपरीत गतियों को अनुभव किया गया है। उर्वशी उन दोनों की तुलना करती है। तीसरी पंक्ति में स्थिति का यथार्थ है और चौथी पंक्ति में आकांक्षा है। निष्ठुर बन··· > इन पंक्तियों में उर्वशी की आकांक्षा के विमुक्त होने पर वह उपालम्भ दे रही है जहाँ पुरुरवा के पक्ष में उर्वशी कठोरता का अनुभव करती है। दोनों का विरोध यहाँ अर्थ-रचना कर रहा है। मर्यादा और भावना का विरोध यहाँ परिलक्षित किया जा सकता है। उर्वशी ने मर्यादा पुरुरवा के प्रति प्रगाढ़तम प्रेम होने के कारण गँवायी और पुरुरवा ने इसलिए गँवायी कि वह उसे अपने जीवन की सार्थकता स्वीकार कर चुका था। कवि जिस प्रेम की बात कर रहा है वह भावात्मक है। प्रेम का उद्वेग उर्वशी के लिए आत्यांतिक महत्त्व का है। वह प्रेम को नितान्त आत्मगत आधार पर ग्रहण कर रही है। जब व्यक्ति अपने भीतर के अनुभव को चरम सत्य स्वीकार कर लेता है तब वह बन्धनों, मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करता। जब अनुभव अपने आत्मगत अनुभव को जीवन का सत्य स्वीकार कर लेता है तब समय को वस्तुगत स्वरूप में धारण करने की क्षमता समाप्त हो जाती है यहाँ यही वर्णित है।

समय की गति : एक मानसिक अवस्था—समय का जल निरन्तर तीव्र गति से प्रवहमान है। व्यक्ति-व्यक्ति का मिलन यहाँ एक घटना है जो समय की अवहेलना करता है। प्रणयोवेग में इतनी शक्ति है कि वह समय को विस्मृत कर देता है। पुरुरवा यदि उर्वशी के प्रति प्रेम अनुभव करता है तो उसे तनिक भी अवकाश नहीं कि वह किसी अन्य वस्तु को देखे। उनके व्यक्तित्व का पिघलाव एक-दूसरे के कारण हो जाता है। समय का जल अपनी गति से निरन्तर प्रवहमान है किन्तु वे समय-बोध से अनभिज्ञ है। समय उन लोगों पर निर्भर करता है जो उसे अनुभव करते हैं' समय की गति एक मानसिक

अवस्था है। जब चेतना की सभी शक्तियाँ उपभोग उपलब्ध करने में लग जाती हैं तब आत्मगत समय उभर आता है। चूँकि वे मिले हैं अतः उन्हें घंटे भी दो मिनट प्रतीत होते है। समय संतुलित हो जाता है एवं महीने दिन, दिन घंटों में परिवर्तित हो जाते हैं।

समय का आत्मगत स्वरूप—दिन व रात की समय की भारी शिला कण-कण काटने से भी नहीं कटती। दिनकर ने मिलन और वियोग दोनों अवस्थाओं में समय के आत्मगत स्वरूप को स्वीकार किया है। वस्तुगत अनुभव की सम्भावना हम दिनकर से कर भी नही सकते वैसे भी यहाँ वस्तुगत स्वरूप धारण करने का कोई अवसर ही नहीं है। वस्तुगत न होने के कारण उसमें वास्तविकता नहीं। समय को यहाँ केवल व्यक्तिगत व आत्मगत रूप में स्वीकार किया गया। अतः इसमें तीव्रता क्षणभंगुरता हो सकती है। वियोगावस्था में भी व्यक्तिगत सत्ता विस्तृत होती है किन्तु वह व्यक्ति उपस्थित नही जिसके लिए विस्तृत हो रही है अतः इसका सम्बन्ध किसी ओर से जोड़ना पड़ता है। जो दिन-मास उर्वशी ने बिताए होंगे वह उसे अजगर[1] की भाँति प्राणों को खाने दौड़ते होंगे। यहाँ मधुरता एवं कटुता की सम्मिलित अनुभूति को कवि ने दिखाया है क्योंकि कवि जिस संयोग और वियोग का चित्रण कर रहा है वह नितान्त सामान्य है उसमें कोई नया विधान नहीं। वियोग में समय बिताए नहीं बीतता, ये सब परम्परागत उपमान हे। काव्यानुभूति सदैव नवीन होती है परम्परागत नहीं। कवि को शब्दों के भीतर वर्त्तमान ध्वनियों की पहचान है। समय और काल शब्दों के प्रयोग से अनुभव हो जाता है कि ध्वनियाँ किस अर्थ को अभिव्यक्त करती हैं। समय > कोमलता का प्रतीक है और काल > कठोरता का।

भावना एवं अनुभव—भावना का आवेग मनुष्य से छल करता है किन्तु उर्वशीकार भावना के आवेग को ही सत्य के रूप में स्वीकार करता है। जिस समय इस कृति की रचना की गई उस समय जीवन भावना के उद्वेग में अपनी शक्ति खोजता था। अतः उर्वशीकार अपनी कविता द्वारा हमारी चेतना को उद्‌बुद्ध नहीं करता बल्कि भावनाओं को उद्वेलित करता है जबकि भावनाएँ जीवन की सत्यता को पहचानने में असमर्थ हैं। यदि कवि के पास इतिहास-बोध होता तो उर्वशी मे सन्देह की भावना आ जाती। उर्वशी के मन में विश्वास है कि वह जो कर रही है वही ठीक है, जो सोच रही है वह उचित है, जिसके पास जा रही है वह उसे स्वीकार कर लेगा। समस्त व्यवहार, अनुभव में कही भी सन्देह का अवकाश नहीं है जबकि आधुनिक युग बिना सन्देह के चरितार्थ नहीं हो सकता। अतः कवि हमें मध्ययुगीनता की ओर ले जाता है जिससे कवि मनुष्य की पहचान व अनुभव की पहचान को धुँधला बनाता है।

---

१. *"यही काल अजगर-समान प्राणों पर बैठ गया था*
उदित सूर्य नभ से जाने का नाम नहीं लेता था
कल्प बिताये बिना न हटती थी वे काल निशाएँ।" — (पृ० ४२)

पुरुरवा के लिए उर्वशी द्वारा मर्यादा गँवाने के पश्चात् वह उर्वशी के प्रति अपनी चिरकृतज्ञता प्रकट करता हुआ कहता है —

"चिर कृतज्ञ हूँ इस कृपालुता के हित, किन्तु मिलन का
इसे छोड़ कर और दूसरा कौन पंथ सम्भव था ?

× × ×

छूट गए हैं प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेघों के वन में,
जहाँ मिली थीं तुम क्षीरोदधि में लालिमा-लहर-सी।

× × ×

और कभी यह भी सोचा है, जिस सुगन्ध से छक कर
विकल वायु बह रही मत्त हो कर त्रिकाल-त्रिभुवन की।"

(पृ० ४२-४३)

कवि छन्द की लय, गत्यात्मकता को बनाने का प्रयत्न करता है। पंक्तियों का काव्यार्थ शब्दों के अर्थ से आगे नहीं जाता। अत: यह तथ्य कथन है काव्यात्मकता के गुण-धर्मों को एक में मिलाने का प्रयत्न किया गया है। भाषा की प्रचलित पद्धति का उल्लंघन है। गहन, निर्जन, स्वतन्त्र वातावरण का विस्तार हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया जिसमे पुरुरवा का मन खो गया है। वातावरण का दूसरा रूप, क्षीर सागर मे विष्णु का निवास था। पौराणिक 'क्षीरोदधि' शब्द पुराने वातावरण को स्पष्ट करता है।

'लालिमा-लहर-सी' बिम्ब प्रचलित भाषा विज्ञान का उल्लंघन करता है। उर्वशी 'रंग' और 'गति' दोनों के गुण-धर्मों को धारण करने वाली एक सत्ता में परिवर्तित हो जाती है।

'उज्ज्वल मेघों के वन', 'लालिमा-लहर' इन शब्दों का प्रयोग कई कवियों ने किया है अत: इसमें ताजगी नहीं। यह भाषा का स्वभाव परम्परागत है। नवीनता नहीं है जिससे आसक्ति का तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर प्रकट हो सके।

अगली पंक्तियों की भाषा में अन्तर है। भाषा जटिल है। 'सुगन्ध' शब्द शक्ति-सम्पन्न है। प्रेम के लिए सुगन्धि शब्द का प्रयोग किया गया। यह सुगन्धि त्रिभुवन और त्रिकाल में व्याप्त है। ये पंक्तियाँ एक-दूसरे से गुँथी हुई हैं। पंक्तियाँ बाध्य करती हैं कि उनका अर्थ एक वाक्य में करे जिससे चित्रात्मक शक्ति की सम्भावना उत्पन्न होती है अर्थात् अर्थ और अनुभव एक आकार और रूप धारण कर लेता है। कविता का अर्थ अनुभव से ही होता है। कवि की सफलता इसी बात पर है कि वह अर्थ को रूप दे। कवि ने सुगन्धि को प्रेम के रूप में प्रकट किया। प्रेम की भावना को एक प्रत्यक्ष सुगन्धि सत्ता मे कवि ने प्रकट किया है और उस सुगन्धि को त्रिकाल और त्रिभुवन में बहने वाली कहकर विस्तार भी देता है। इसी सुगन्धि के विस्तार में प्रेम का विस्तार निहित है। प्रेमानुभव को वह स्थान और काल के आयामों में चित्रित कर विकल वायु शब्दो के प्रयोग द्वारा कवि उस सुगन्धि को जीवित सत्ता का रूप देता है प्रेम और सुगन्धि का

यह व्यापार सबको व्याकुल बनाने वाला है जिस प्रेम को दिनकर ने ब्रह्माण्डीय स्तर पर प्रस्तुत किया है। यह ब्रह्माण्डीय विशाल प्रेम उर्वशी के रूप मे चरितार्थ हो रहा है। मर्त्य-प्राण[1] के किसी भावनात्मक पक्ष में पुरुरवा क्या उर्वशी के प्रेम को बाँध सकेगा। क्या इतनी योग्यता उसमें है, उसे सन्देह होता है, उस सन्देह को नीचे की पंक्तियाँ तोडती हैं—

> **"इसीलिए, असहाय तड़पता बैठा रहा महल में**
> **लेकर यह विश्वास, प्रीति मेरी यदि मृषा नहीं है,**
> **मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा,**
> **जलद-पुंज को भेद, पहुँच कर पारिजात के वन में**
> **वह अवश्य ही कर देगा संतप्त तुम्हारे मन को**
> **और प्रीति जगने पर तुम बैकुंठ-लोक को तज कर**
> **किसी रात, निश्चय, भूतल पर स्वयं चली आओगी।"** (पृ० ४४)

पुरुरवा का प्रेम प्रचण्ड है—पारिजात के वन में''' > यह उर्वशी को कोमल भावना का प्रतीकार्थ दे सकता है। यह पंक्तियाँ पर्याप्त संवेदन-क्षम्य हैं। इनमें गति का हिंसक व भयानक रूप हमारे सामने आता है जो कहीं भी प्रचण्डता फैला सकता है। पुरुरवा उर्वशी के प्रेम में निरन्तर तड़पता व व्याकुल होता हुआ अपने दुःख को स्वीकार नहीं करता। उर्वशी की प्राप्ति पर वह मूल्यवान हो सकेगा। परिणाम की ओर कवि अधिक सचेत है जिस कारण यह परिणाम-बोध उसे पीछे ढकेलता है।

उर्वशी पुरुरवा को एक उपालम्भ देती है।[2] पुरुरवा का मर्यादा और तटस्थता के कारण अपनी प्रियतमा के पास इन्द्रलोक तक न जाना उस प्रेम और सौन्दर्य की उपेक्षा थी। उर्वशी पुरुरवा के इस तर्क को स्वीकार न कर कहती है कि तुम्हारे तटस्थ विश्वास के आकर्षण की रेखाओं से बँधकर ही यहाँ तक आयी हूँ किन्तु मेरे यहाँ तक आने पर भी कोई सुखानुभूति नहीं। उपरोक्त स्थल पर मध्ययुगीन सामन्ती वह शौर्य प्रधान मनोवृत्ति है जिसमें अपहरण द्वारा नारी को सौन्दर्य प्रदान किया जाता था। उर्वशी अपने सौन्दर्य

---

१ *"उस दिगन्त-व्यापिनी गन्ध की अव्यय, अमर शिखा को*
मर्त्य-प्राण की किस निकुंज-वीथी में बाँध धरेगा ?" (पृ० ४४)

२. *"सो तो मैं आ गयी, किन्तु, यह वैसा ही आना है,*
अयस्कान्त ले खींच अयस को जैसे निज बाँहों मे
पर इस आने में किंचित् भी स्वाद कहाँ उस सुख का
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वामलोचनाओं को,
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल-सहित हरण करते हैं " (पृ० ४४)

एवं प्रेम का मध्ययुगीन शौर्य प्रधान मनोवृत्ति द्वारा सम्मान चाहती है, जो उसे पुरुरवा द्वारा प्राप्त नही होता।

उर्वशी का अगला संवाद चित्र व बिम्ब से युक्त काव्यात्मक है।[1] नदियाँ स्वयं आती है और प्रवाहित होती रहती हैं। नैसर्गिक स्वभाव के कारण नदियाँ सदैव प्रवाहित होती हे किन्तु सागर उसकी ओर ध्यान नहीं देता। यह सहज सामान्य घटना है। नदी की भाँति उर्वशी भी आती है पुरुरवा के उसके प्रति तनिक उपेक्षाशील होने पर उसका सौन्दर्य विनष्ट होता है। उर्वशी अपने को भावोद्वेलित रूप में तथा असामान्य सौन्दर्य से भरपूर मानती है। किनारों का सौभाग्य है कि उनके स्पर्श के लिए समुद्र सदैव विकल और उद्विग्न रहता है। समुद्र का तट उसमें उठने वाली लहरों तथा उसकी बैचेनी का चित्र हमारे सामने आया है। यह प्रकृति का चित्र मानवीय भाव की अतृप्ति का द्योतक है। आन्तरिक भावात्मक उत्पात का भावोद्वेलित चित्र इन पंक्तियों में उभरता है। उर्वशी पौरुष के साथ प्रेम के औचित्य को स्वीकार कर आवेग को प्रामाणिक मानती है और पुरुरवा के समक्ष उसका औचित्य सिद्ध करना चाहती है।

मनुष्य का जीवन दो विरोधी पक्षों से संवलित दुविधापूर्ण है। कामना के कारण ही कभी हम सुख और कभी दुख का अनुभव करते हैं। यहाँ आधुनिकता की सब शर्तें मिलती है जैसे मनुष्य का कामनाशील व संघर्षशील होना।[2] मनुष्य के भीतर कामना ही उसके सुख-दुःख का कारण है। सुख-दुःख की द्वन्द्वमयता को यहाँ दिनकर अंगीकार करते हैं। अध्यात्म, गीता आदि में भी जीवन को द्वन्द्वमय कहा गया, अतः द्वन्द्व का स्वीकार करना यहाँ आधुनिक नहीं। संघर्ष की निरन्तरता को दिनकर सामाजिक धरातल पर प्रक्रिया करते हुए देखते हैं क्योंकि जीवन द्विधा की स्थिति है जिसमें हम निरन्तर डूबते-उतराते रहते हैं—

> **"रंगों की आकुल तरंग जब हम को कस लेती है,**
> **हम केवल डूबते नहीं, ऊपर भी उतराते हैं**
> **पुण्डरीक के सदृश मृत्ति-जल ही जिसका जीवन है,**

---

१. *नदियाँ आती स्वयं, ध्यान सागर, पर, कब देता है ?*
वेला का सौभाग्य जिसे आलिंगन में भरने को
चिर अतृप्त, उद्‌भ्रान्त महोदधि लहराता रहता है। (पृ० ६४)

२. *"मैं मनुष्य कामना वायु मेरे भीतर बहती है*
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन-पुलक जगा कर;
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन का दीपक बुझा, बनाकर तिमिराच्छन्न हृदय को।
किन्तु, पुरुष क्या कभी मानता है तम के शासन को ?
फिर होता संघर्ष तिमिर में दीपक फिर जलते हैं" (पृ० ६५)

पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।" (पृ० ४५)

जीवन के उपालम्भ द्वारा पुरुरवा उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते है और तटस्थता के दर्शन को कवि उद्भासित करना चाहता है। दिनकर मानते हैं मनुष्य में ऐसी शक्ति है कि वह परिस्थितियों से ऊपर उठ जाता है। यह प्राचीन दर्शन एवं धर्म ने पहले ही प्रदर्शित कर दिया था। मनुष्य का तात्विक धर्म तटस्थता नहीं, परिस्थितियों की विवशता के कारण उसे यह स्वीकारकरना पड़ता है। दिनकर का कहना है कि तटस्थता के कारण प्रेम पवित्र होता है। प्रेम को पवित्र बनाने के लिए पुरुरवा उसे स्वीकार करता है। भिक्षा माँगना या पुकारना अपयश की वस्तु है और पुरुरवा राजा होने के कारण उर्वशी की भिक्षा नही माँगता। इन पंक्तियों में तटस्थता एवं अनासक्ति की साधना को व्यक्त करने का प्रयत्न कवि ने किया है। यहाँ पंक्तियाँ आसक्ति के दर्शन को काव्यात्मक पंक्तियों में निर्मित करती हैं। कवि कुछ भाव-चित्र हमारे समक्ष रखता है। कमल जिसका जीवन मिट्टी और जल है अर्थात् कमल मिट्टी व जल से निर्मित होता है फिर भी वह उससे भिन्न रहता है, तटस्थ रहता है। अनासक्ति के प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए कमल को प्राचीन काल से चुन लिया। पुण्डरीक का प्रतीक बहुत प्राचीन है। यहाँ कवि आसक्ति और अनासक्ति के विरोधाभास को दिखाना चाहता है। कवि शब्दों का सघन प्रयोग कर थोड़े में अत्यधिक कहता है। पुरुरवा यह बताना चाहता है कि उसने उर्वशी का हरण नही किया और न ही उसे भिक्षा-स्वरूप माँगा—

"अपयशमूलक दोनों विकर्म हैं, हरण हो कि भिक्षाटन
और हरण करता मैं किसका ? उस सौन्दर्य-सुधा का
जो देवों की शान्ति, इन्द्र के दृग की शीतलता थी ? (पृ० ४५)

इससे उसका अनासक्ति का दृष्टिकोण नैतिक लगता है क्योंकि गहराई से प्रेम आसक्ति-पूर्ण है।

पुरुरवा का यह सवाद सुनकर उर्वशी चौक[1] जाती है क्योंकि वह ऐसे प्रदेश में निवास करती थी जो अनासक्ति से पूर्ण था इसीलिए वह अनासक्ति से ऊबकर धरा पर आसक्ति प्राप्त करने आयी थी। किंतु पुरुरवा के अनासक्ति का दर्शन स्पष्ट करने पर वह विचलित हो उठती है। अत: वह प्रश्न पर प्रश्न करती है। यहाँ उद्वेग को कवि अनुभव में परिवर्तित कर देना चाहता है। आकस्मिक ढंग से उर्वशी को आघात पहुँचता है। उसे लगता है

---

१. *"यह मैं क्या सुन रही ? देवताओं के जग से चलकर*
फिर क्या मैं फँस गयी किसी सुर के ही बाहु-वलय में
अन्धकार की मैं प्रतिमा हूँ ? जब तक हृदय तुम्हारा
तिमिर-ग्रस्त है, तब तक ही मैं उस पर राज करूँगी ?
और जलाओगे जिस दिन तुम बुझे हुए दीपक को
मुझ त्याग दोगे प्रभात मे रजनी की माला सी ?" (पृ० ४६)

कि जिस अभावपूर्ति के लिए उसने पुरुरवा से प्रेम किया था वह अभाव परिभाषित नही होगा उसे अनुभव होता है कि वह पुनः किसी देवता के बाहु-वलय में आ गयी है।

पुरुरवा और उर्वशी का प्रणय अन्धकारपूर्ण एवं कुछ दिनों में सीमित है। उर्वशी आवेग और भावना के ठोस व मूर्त्त रूप को जीवित करना चाहती है किन्तु अपने प्रेमी द्वारा अन्धकाररूप में व्याख्या करते हुए देखकर उसे आघात लगता है कि क्या जब तक पुरुरवा के भीतर अन्धकार होगा तब तक ही मैं उसके हृदय पर शासन करूँगी। उर्वशी अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती-सी प्रतीत होती है। तीसरी पंक्ति में उसका चिन्तन उससे प्रश्न करता है कि क्या वह अन्धकार की प्रतिमा है? पुरुरवा द्वारा दिया गया व्याख्यान उर्वशी के हृदय पर लगा एक प्रश्न-चिह्न है। पुनः उर्वशी को अपने अस्तित्व के निरर्थक हो जाने का आभास मिलता है। चिन्तन का अगला प्रश्न उर्वशी की मनःस्थिति को डाँवा-डोल करता है कि क्या ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर पुरुरवा उसे त्याग देगा? उर्वशी के लिए यह एक असहनीय वेदना है जिसे वह स्वीकार नहीं करना चाहती क्योंकि उर्वशी की समस्त अर्थवत्ता पुरुरवा द्वारा त्यागने पर समाप्त हो जाएगी।

पुरुरवा उर्वशी का शारीरिक स्पर्श विद्युत् के समान बड़ा तीव्र घातक व शीघ्र प्रभावी है जिसके स्पर्श से त्वचा की नींद टूट जाती है—त्वचा में जीवन आ जाता है एवं रोम-रोम में दीपक जल जाते हैं।[1] यहाँ भाषा में विरोधाभास अधिक महत्त्वपूर्ण है। विद्युत् अन्धकारमय नहीं होती। प्रणय की उत्पत्ति में ही प्रकाश निहित है किन्तु प्रश्न है कि पुरुरवा उसे अन्धकार क्यों कहता है?

उर्वशी के मन का यह उद्वेग पुरुरवा की अपेक्षा अधिक यथार्थ व प्रामाणिक है। इसमे एक संगीत व तर्क विद्यमान है। वह दो तरह के विभिन्न तर्कानुसार अपने आचरण का सचय नहीं करती। उर्वशी में प्रत्यक्ष परिस्थितियों के अनुसार जो अनुभव उत्पन्न होता है वह उसके अनुसार अपना आचरण संचित करती है। पुरुरवा का उद्वेग व दुविधा आरोपित है अत. अपेक्षाकृत कम है किन्तु उसके विपरीत उर्वशी की दुविधा प्रामाणिक है।

उर्वशी का यह संवाद पर्याप्त आधुनिक लगता है एवं इसमें निहित काव्यात्मकता अधिक संगत है। उर्वशी के मन में अनेक प्रश्न उभरने लगते हैं जो उसके ऊपर पर्त-पर-पर्त चढ़ाते जाते है। पुरुरवा अपने प्रेमानुभव को कुण्ठाहीन परिस्थिति में ढाल सकेगा

---

१. *"यह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है, पाकर जिसे त्वचा की*
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक जल उठते हैं?
वह आलिंगन अन्धकार है जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते है?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे,
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं। (पृ० ४६)

इसकी आशा कम है। अपने प्रेमानुभव में उर्वशी पाती है कि पुरुरवा उदासीन व अनासक्त हो रहा है जो उसके तर्कों से ध्वनित है। उर्वशी की व्यथा प्रश्न बनती है, जो अनुभव मे यथार्थ लगता है उसे तुम तिमिर व अन्धकार क्यों कहते हो? कुण्ठाहीन निर्दोष अनुभव को व्यक्त करने की स्थिति को यहाँ परिलक्षित किया जा सकता है जो स्थिति[1] उर्वशी के समक्ष उपस्थित है उसका अनुभव उससे प्रभावित व अपमानित होता है। पुरुरवा के अनासक्ति व्यक्त करने पर उर्वशी उसे समझ नही पाती क्योंकि वह गंधहीन प्रदेश में जाने का आकांक्षी है और उर्वशी देवलोक की होकर भी मानवीय आसक्ति का अनुभव करती है। दोनों का चरित्र विरोधी स्थितियों में जा रहा है। उर्वशी का चरित्र देवलोक का लौकीकरण है और पुरुरवा का चरित्र मनुष्य का दैवीकरण है। दोनो ही दिशाएँ विपरीत है। अतः उर्वशी का उद्वेग आधुनिक मनुष्य के अधिक निकट है। उर्वशी को ऐसा आभास होता है कि उसे यहाँ भी संतृप्ति नहीं मिलेगी अतः संतृप्ति का प्रभाव विरोधी परिस्थितियों से निकलता है और उर्वशी यहाँ विरोधी परिस्थितियों में जीने को बाध्य हो जाती है।

आध्यात्मिकता आज भय की वस्तु हो गयी है क्योंकि मनुष्य आध्यात्मिकता में अपनी उन्नति को व्यक्त कर अपनी निर्दोषता को पावन करना चाहता है। उर्वशी अपनी प्रत्यक्ष स्थितियों में प्रत्यक्ष अनुभव को प्रभाव मानती है। यह दुविधा व्यक्तिगत अनुभव और पारिभाषिक अर्थवत्ता है। भौतिक और आध्यात्मिक विरोधी आकांक्षाओं को पुरुरवा एक साथ पूर्ण करना चाहता है। इस आरोपन द्वारा उर्वशी के इस वाक्य द्वारा पुरुरवा का अयथार्थ चित्रण स्पष्ट होता है—

> **"अनासक्ति तुम कहो, किन्तु इस द्विधाग्रस्त मानव की**
> **झाँकी तुम में देख मुझे, जाने क्यों, भय लगता है।"** (पृ० ४६)

पुरुरवा के तन-मन के धर्म का पार्थक्य प्रस्तुत करने पर उर्वशी पुरुरवा के मन की अयथार्थ दुविधा को इन पंक्तियों में व्यक्त करती है जिस कारण पुरुरवा के मन में तनाव की जटिल स्थिति उत्पन्न हो जाती है—

> **"तन से मुझको कसे हुए अपने दृढ़ आलिंगन में,**
> **मन से, किन्तु विषण्ण दूर तुम कहाँ चले जाते हो?**
> **बरसाकर पीयूष प्रेम का, आँखों से आँखों में,**
> **मुझे देखते हुए कहाँ तुम जाकर खो जाते हो?**

---

१. *"यह भी कैसी द्विधा? देवता गन्धों के घेरे से*
निकल नहीं मधुपूर्ण पुष्प का चुम्बन ले सकते हैं
और देह धर्मी नर फूलों के शरीर को तजकर
है दूर गंध के नभ में उड़ जाने को (पृ० ४६,

कभी-कभी लगता है, तुम से जो कुछ भी कहती हूँ
आशय उसका नहीं, शब्द केवल मेरे सुनते हो।'' (पृ० ४६)

उर्वशी शरीर और मन को एक मानती है। दोनों में गुणात्मक भेद हैं। अतः वह शरीर और मन दोनों की सम्पृक्ति पुरुरवा से माँगती है जबकि पुरुरवा उर्वशी को शरीर से भले ही अपने में समेटे हुए है किन्तु मन उसका कहीं और खो गया है। पुरुरवा पदार्थात्मिक और चेतनात्मक दोनों के स्रोत को अलग-अलग मान दोनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करना चाहता है जबकि उर्वशी उसके विरुद्ध है। वह शारीरिक उत्तेजना से प्रेम की भावना को पाना चाहती है और दोनों में कोई पार्थक्य न कर केवल स्थिति भेद स्वीकार करती है, जबकि पुरुरवा उसे स्वीकार नहीं करता। पुरुरवा उर्वशी को अपने आलिंगन में लिए अध्यात्म की स्थापना करना चाहता है किन्तु उर्वशी के लिए यह बड़ा ही निर्दोष प्रश्न है।

यहाँ आलंकारिक भाषा न होने पर भी बहुत सशक्त है। काव्य-भाषा में विद्यमान ध्वन्यात्मक शक्ति काव्य के अनुभव का ताप देकर आसक्ति और अनासक्ति के चित्र को प्रस्तुत करती है।

उर्वशी एक प्रकार की तन्मयता को सत्य मानती है। यहाँ समूची कविता में तन्मयता[1] की स्थिति है। उर्वशी और पुरुरवा दोनों की तन्मयता की स्थिति का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। पुरुरवा के लिए दो भिन्न स्थितियाँ हैं और इन दोनों में ही पुरुरवा तन्मय हो जाना चाहता है। उर्वशी की तन्मयता रक्त की है और वह उसे ही अर्थवान मानती है किन्तु उसकी विडम्बना है कि वह जिसके साथ मग्न होना चाहती है वह स्वयं दो प्रकार की तन्मय स्थितियों में विभाजित है। अतः अपने सहभागी की पूर्णता न मिलने के कारण वह उद्विग्न हो उठती है। पुरुरवा दो परिस्थितियों में जी रहा है इसीलिए उसके लिए समन्वय अनिवार्य है किन्तु उर्वशी के लिए समन्वय अनिवार्य नहीं। उर्वशी जहाँ से उद्विग्न होती है उसे वहाँ से सार तत्व प्राप्त हो जाता है किन्तु पुरुरवा को सार तत्व नहीं मिलता। यहाँ हम कह सकते हैं कि पुरुरवा की अपेक्षा उर्वशी का चरित्र आधुनिक है। पुरुरवा का चरित्र पावनतावादी है। उर्वशी जो उसके सम्मुख है उसे जीना चाहती है।

आसक्ति की सघनता का प्रच्छन्न मायाजाल—सम्पूर्ण पंक्तियों में पुरुरवा के जीवन में व्याप्त विरोधों को व्याख्यायित किया गया। उर्वशी से अनेक युगों का परिचय जैसे पुरुरवा कर रहा है अतः उसके साहचर्य की आसक्ति पुरुरवा में उत्पन्न हो चुकी है।

---

१. *''क्षण में प्रेम अगाध, सिन्धु हो जैसे आलोड़न में;*
और पुनः वह शान्ति, नहीं जब पत्ते भी हिलते हैं।
अभी दृष्टि युग-युग के परिचय से उत्फुल्ल, हरी-सी;
और अभी यह भाव, गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नहीं प्रार्थना की कोई कविता हूँ (पृ० ४७)

आसक्ति की सघनता का प्रच्छन्न मायाजाल उर्वशी अनुभव करती है। उर्वशी को लगता है कि पुरुरवा की गोद में पड़ी हुई उर्वशी स्वयं जीवन का अर्थ नहीं है अपितु जीवन के किसी और अर्थ को पाने के लिए उर्वशी माध्यम है। उर्वशी की उद्विग्नता यह है कि वह प्रार्थना की कविता नहीं बनना चाहती। यह पंक्ति विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हो जाती है। यह कविता एक ओर सौम्यता पावनता की अनुभूति को व्यक्त करती है दूसरी ओर व्याकुलता एवं उद्विग्नता को। यहाँ विपरीत तथ्यों को एक किया है। आधुनिक कविता मे जिस जटिलता को स्वीकार किया गया वह इस पंक्ति में मिलती है। काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इन पंक्तियों में आलोडित-विलोडित होने वाले सिन्धु की भाँति पुरुरवा भीतर से उद्विग्न दिखाई देता है। उर्वशी के प्रेम की पिपासा बढ़ जाने पर उसका अनुभव अधूरा रह जाता है।

पुरुरवा का प्रेम रात्रि के अन्धकार में और भी उद्दाम हो जाता है। मनुष्य रात्रि के अन्धकार में अपने आन्तरिक भावों के बिखराव को संगठित करता है। इस तिमिर के दर्शन को ही पुरुरवा व्यक्त करता है जिसे आगे के छन्दों में भी बढ़ाया गया—

' तिमिर शान्ति का व्यूह, तिमिर अन्तर्मन की आभा है,
दिन में अन्तरस्थ भावों के बीज बिखर जाते हैं;
पर, हम चुनकर उन्हें समंजस करते पुनः निशा में
जब आता है अन्धकार, धरणी अशब्द होती है।'' (पृ० ६५)

रात्रिकालीन तिमिर को इस छन्द में अत्यधिक गौरव दिया गया। यदि इसका साम्य निराला की 'राम की शक्ति पूजा' से करें तो उसमें निराला ने अन्धकार को अतिरिक्त महत्त्व दिया है। यहाँ निराला के अन्धकार से दिनकर का अन्धकार मिलता-जुलता है। इस अन्धकार को पुरुरवा एक अतिरिक्त महत्त्व देकर धारण करता है अर्थात् सामंजस्य का द्योतक है एवं अन्तर्मन का प्रकाश है। अन्धकार के समय धरणी अशब्द, मौन होकर शक्ति संचय करती है।

लक्ष्य : निरपेक्ष सत्य—पूर्ण आसक्ति[1] या सम्पृक्ति के समय मानवीय आचरण पूजा का उपकरण बन जाता है। कवि शारीरिकता को पावनता में पर्यवसित करता चला जाता है। प्रेम की मूल्यवानता आध्यात्मिक सूक्ष्मता का सार प्राप्त करने में है अथवा नैतिकता का स्तर प्राप्त कर लेने मे है। ''कला, साहित्य और विशेषतः काव्य में भौतिक की महिमा अखण्ड है। फिर भी, श्रेष्ठ कविता बराबर भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का संकेत देती है, फिजिकल को लांघकर 'मेटा-फिजिकल' हो जाती है। प्रेम में भी भूतल

---

१. *''प्रणय-शृंग की निश्चेतनता में अधीर बाँहों के*
आलिंगन में देह नहीं श्लथ, यही विभा बँधती है
और चूमते हम अचेत हो जब असंज्ञ अधरों को,
वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ जाता है। (पृ० ६१)

से ऊपर उठकर भूतलोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का सन्धान करने की प्रेरणा होती है। *(भूमिका)* अर्थात् दिनकर के विचार से काव्यानुभूति की प्रौढ़ता में आत्मतत्व की अनिवार्यता है, उसके बिना काव्यानुभूति प्रौढ़ नहीं हो सकती। अतः यह विश्वास भी उर्वशी की काव्यानुभूति की संरचना करता है।

पुरुरवा त्रिकाल की सुरभि को एक पुष्प में भरकर समय के विस्तार को एक सघन क्षण में समेट लेना चाहता है। पुरुरवा का यह संवाद[1] समय के विस्तार को एक क्षण में घनीभूत करने का काव्यात्मक प्रयास है। समय के तत्त्व में परिवर्तित करने का प्रयास समूचे संवाद में आगे भी चलता है। उसका आदि, अंत सब कुछ पता चल जाता है। प्रेम, जीवन, जगत, सुख-दुःख जहाँ तक सृष्टि का विस्तार है, सबको यह सघन क्षण पिघला देता है और सबकी अलग-अलग पहचानने वाली रेखाओं के अस्तित्व को निर्मूल कर देता है। यह अनुभव सघन है। इसमें नारी-पुरुष के सम्बन्ध को प्रेम की आँच में पिघला दिया गया। जहाँ प्रेम के माध्यम से पुरुरवा ने एक निरपेक्ष सत्य को पा लिया था।

दैहिक प्रकाश की किरणें मिटती नहीं। अधर नष्ट होता है किन्तु चुम्बन[2] की झंकार की अनुभूति नष्ट नहीं होती। यहाँ फिर आध्यात्मिकरण होने लगा। बौद्धिक मानसिक स्तर पर अनुभव को रखकर दिनकर को सन्तोष नहीं होता। प्रेम का प्रकाश निराकार पर समर्पित हो जाता है।

प्रेम की समाधि-अवस्था—दिनकर ने प्रेम की अनुभूति को समाधिस्थ योगी की अनुभूति के समान चित्रित किया है। चरम-सम्पृक्ति जीवन का सत्य है जो एक तेज को जन्म देकर प्रकृति में आन्दोलन की स्थिति ला देता है जिसकी परिणति सृष्टि-विकास की प्रक्रिया में होती है। शरीर को पार कर जब स्त्री-पुरुष मन के क्षेत्र में प्रेम करते हैं तब वे एक समाधिस्थ अवस्था[3] में पहुँचत जाते हैं। तब पृथ्वी काँपने लगती है, फूल

---

१. *"रुको समय-सरिते ! पल ! अनुपल ! काल-शकल ! घटिकाओं !*
इस प्रकार, आतुर उड़ान भर कहाँ तुम्हें जाना है ?
कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का,
काल-पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है।
कहीं कुंडली मार बैठ जाओ नक्षत्र-निलय में
मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य-वेदी पर।" (पृ० ६७)

२. *"देह मृत्ति, दैहिक प्रकाश की किरणें मृत्ति नहीं है,*
अधर नष्ट होते, मिटती झंकार नहीं चुम्बन की;
यह अरूप आभा-तरंग अर्पित उसके चरणों पर,
निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों पर।" (पृ० ६९)

३. *"जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में*
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर

हँसने लगते हैं। यदि आन्तरिक अनुभव सघन हो तो वह बाहर को आन्दोलित कर सकता है। बाहर और भीतर की इन्हीं अनुभूतियों की कड़ियों को जोड़ने की प्रक्रिया इस छन्द मे की गई है।

अनुभूति का उदात्तीकरण बनाम अतिक्रान्ति—प्रेम की अनुभूति की निम्नोन्मुखता से पुरुरवा बेचैन है। शारीरिक अनुभव और आध्यात्मिक अनुभव में पार्थक्य नही है मात्र अवस्था भेद है। उर्वशी का पुरुरवा से प्रश्न है जो अनुभूति तुम्हें इस समय मिल रही है वह अध्यात्म से भिन्न है यह तुमसे किसने कहा?[1] पुरुरवा की तृषा का जगना आवश्यक ही था। शारीरिक अनुभव प्रगाढ़ हो तो वह अनुभव आध्यात्मिकता के निकट हो जाएगा। इस छन्द में एक वैचारिक स्तर भी विद्यमान है। द्वैत के कारण अनुभूति भ्रम लगती है। इसलिए उर्वशी द्वैत को स्वीकार न कर अनुभूति को ईश्वर तुल्य मान लेती है। यह ईश्वर की भावनात्मक व्याख्या है। दिनकर ईश्वर का प्रत्यय बना रहे हैं जिसका रूप अनुभूति से भिन्न नहीं। इसके अतिरिक्त प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध भारतीय मानस में एक संस्कार रूप में प्रतिस्थापित है। हम प्रकृति और पुरुष को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। सापेक्ष ज्ञान ही निरपेक्ष ज्ञान की ओर बढ़ता है। उसी का रूपान्तरण हो जाता है। एक जीवन्त प्रक्रिया में सांसारिक अनुभूति आध्यात्मिक अनुभूति में घुल जाती है। वैचारिक क्षमता का प्रयोग कहीं न कर यहाँ दिनकर ने सम्बन्ध की खोज आवेग और भावात्मक क्षमता के द्वारा की है। कवि विचार और भाव को आवेग की शैली मे व्यक्त करता है। वैचारिक ज्ञान को काव्यात्मक सौन्दर्य में रूपान्तरित करने का कार्य भावना, आवेग करती है। यह छन्द Romantic है। प्रेम की अनुभूति का विस्तार जन्म-जन्मान्तर तक होता है। दिनकर के अनुसार बुद्धि के द्वारा कोई अर्थ प्राप्त नही

तब प्रहर्ष की अति से यों ही प्रकृति काँप उठती है,
और फूल यों ही प्रसन्न होकर हँसने लगते हैं।" (पृ० ७१)

१ *"भ्रान्ति नहीं अनुभूति; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं,*
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है।
किसने कहा तुम्हें, परमेश्वर और प्रकृति, ये दोनों,
साथ नहीं रहते, जिसको भी ईश्वर तक जाना है,
उसे तोड़ लेने होंगे सारे सम्बन्ध प्रकृति से;
और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रमा हुआ है
उसे और जो मिले, किन्तु, परमेश्वर नहीं मिलेगा?
किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का;
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन म उठने योग्य नहीं है (पृ० ७५)

कर सकता। इसका युग से कोई सम्बन्ध नहीं। अनुभव जहाँ युग का अतिक्रमण कर दे और आध्यात्मिक हो जाए वह अनुभव दिनकर के लिए प्रौढ़ हो सकता है, हम लोगों के लिए वह अप्रामाणिक है।

दार्शनिक अनुभूति—उर्वशी में कई स्थलों पर दार्शनिक अनुभूति है। दार्शनिक कहने से अभिप्राय है कि सत्य के प्रति तार्किक चिन्तन प्रस्तुत किया गया—लेकिन ये लक्ष्य नहीं हैं क्योंकि ऐसे दार्शनिक संवाद बुद्धि के विपरीत हैं। एक विचित्र प्रकार की बोझिलता इन संवादों में है। काव्य में अधिक स्फीति होने पर काव्यानुभव क्षरित हो जाता है। यहाँ अर्द्ध दार्शनिक स्फीति वर्त्तमान है। यह स्फीति उर्वशी के रूप-बंध को शिथिल बनाती है चूँकि इन संवादों में अनुपात नहीं है। ऐसा लगता है यह कवि का मोह है। इस मोह के कारण कवि अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। अधिक मोह की छाया में कवि अपना मोह खो बैठता है। उदाहरणार्थ—

> **"राग-विराग दुष्ट दोनों, दोनों निसर्ग-द्रोही हैं।**
> **एक चेतना को अजुष्ट संकोचन सिखलाता है;**
> **और दूसरा प्रिय, अभीष्ट सुख की अभिप्रेत दिशा में,**
> **कहता है बल-सहित भावना को प्रसरित होने को।**
> **दोनों विषम, शान्ति-समता के दोनों ही बाधक हैं;**
> **दोनों से निश्चिन्त चेतना को अभंग बहने दो।**
> **करने दो सब कृत्य उसे निर्लिप्त सभी से होकर,**
> **लोभ, भीति, संघर्ष और यम, नियम, संयमों से भी।"** (पृ० ७७)

इन सभी छन्दों में बोधात्मक प्रतीति को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। बोधात्मक और सौन्दर्यात्मक प्रतीति का काव्य में बहुत महत्त्व है। एक विशेष विचार को कवि प्रस्तुत करना चाहता है। दिनकर विचार-दर्शन को प्रस्तावित तो करना चाहते हैं किन्तु बौद्धिक-प्रक्रिया को नहीं स्वीकारते। यहाँ राग-विराग के कार्य-फलन को चित्रित किया गया। दोनों विभक्त होकर जिस रूप में चरितार्थ होते हैं वे जीवन में अपनी विवेचनात्मक भूमिका प्रस्तुत करते हैं। विराग सुख की दिशा में बलपूर्वक धकेलता है तो राग संकुचित करता है। राग-विराग से भिन्न अविभक्त-चेतना है। यह अविभक्त-चेतना निर्लिप्तता से उत्पन्न होती है तथा कर्म-योग का योग का सिद्धान्त है। उर्वशी यह प्रस्तावित करती है कि अपनी अविभक्त-चेतना द्वारा निर्लिप्त होकर प्रेम करो। ऐसा करना यदि दिनकर सिखाते हैं तो कोई नई बात नहीं है।

छायावादी कवियों ने आधुनिक-युग में भौतिक जीवन के प्रति प्रीतिकरता के भाव को बौद्धिक-दार्शनिक आधार दिया है। दिनकर की उर्वशी प्रेम को कर्त्तव्य मानकर करना सिखाती है। प्रेम को कर्त्तव्य मानकर चलने का गौरव छायावादी कवियों द्वारा दिया हुआ है। इस प्रकार दिनकर छायावादी कवियों से भी पीछे रह जाते हैं।

दिनकर ने प्रेम को छायावादी दृष्टि से ग्रहण किया है प्रसाद प्रेम का स्रोत अदृश्य

मानते हैं। इसी बात को दिनकर ने भी कहा।[1] शुद्ध प्रेम को दिनकर मूल प्रत्यात्मक एव सहज-ज्ञानात्मक मानकर चलते हैं। वे जीवन को सहज ज्ञानात्मक धरातल पर समझने के आकांक्षी हैं। प्रत्यात्मक हैं तो पशुवत हैं और ज्ञानात्मक हैं तो संन्यासी। दोनों को सतुलित करने वाली है—बुद्धि—जिसका दिनकर निषेध करते हैं।

परिवर्त्तन : चिरन्तन प्रक्रिया—उर्वशी का अन्य कथन मन में भ्रमवश असमंजस उत्पन्न कर सकता है—

> **"मूढ़ मनुज ! यह भी न जानता, तू ही स्वयं प्रकृति है ?**
> **फिर अपने से आप भागकर कहाँ त्राण पायेगा ?**
> **सब है शून्य, कहीं कोई निश्चित आकार नहीं है,**
> **क्षण-क्षण सब कुछ बदल रहा है परिवर्त्तन के क्रम में।**
> **धूमयोनि ही नहीं, ठोस यह पर्वत भी छाया है,**
> **यह भी कभी शून्य अम्बर था, और अचेत अभी भी,**
> **नये-नये आकारों में क्षण-क्षण वह समा रहा है;**
> **स्यात्, कभी मिल ही जाये, क्या पता, अनन्त गगन में।"** *(पृ० ७९)*

इसमें परिवर्त्तन को महत्त्वपूर्ण धरातल पर प्रस्तावित किया गया। यह परिवर्त्तन बौद्धो के क्षणवाद से मिलता है जो आधुनिक विचारधारा के भी समीप है। परिवर्त्तन को स्वीकार करना आधुनिक होना है। इन पंक्तियों में परिवर्त्तन को स्वीकार किया गया। प्रश्न उठता है कि क्या यह चिन्तन आधुनिक है ?

जीवन और प्रकृति या मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध को इसमे रूपायित किया गया। इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिकता दिखाई देती है। पहली बात उर्वशी ने पुरुरवा को मूर्ख कहकर सम्बोधित किया अर्थात् वह सामान्य पुरुष की मूर्खता पर कहती है, प्रकृति को छोड़कर आध्यात्मिकता की ओर जाना पलायनवाद है अथवा अस्तित्वहीन होना है। अस्तित्वहीन और पलायन करना दोनों में कापुरुषता झलकती है। मनुष्य मूर्खता-वश अपने अस्तित्व और कर्ममय क्षेत्र को नहीं जान पाता इसलिए प्रकृति से भिन्न आध्यात्मिकता की खोज करता है किन्तु यहाँ किसी का कोई निश्चित आकार नहीं है। पर्वत भी एक छाया है। यह अवस्था भेद-परिवर्त्तन की निरन्तरता को सिद्ध करता है। जो मनुष्य परिवर्त्तन की इस निरन्तरता के बीच परिवर्त्तन के क्रम को समझ लेता है—

---

१. *"हम इच्छुक अकलुष प्रमोद के, पर, वह प्रमुद निरामय*
विधि-निषेध-मय संघर्षों, यत्नों से साध्य नहीं है।
आता है वह अनायास, जैसे फूटा करती हैं
डाली से टहनियाँ और पत्तियाँ स्वतः टहनी मे,
या रहस्य-चिन्तक के मन में स्वयं कौंध जाती हैं
जैसे किरण अदृश्य लोक की भेद अगम सत्ता का *(पृ० ७७)*

वह जीवन को सिद्ध करता है—यही सिद्धि मुक्ति है—

> **"यह परिवर्त्तन ही विनाश है ? तो फिर नश्वरता से**
> **भिन्न मुक्ति कुछ नहीं। किन्तु, परिवर्त्तन नाश नहीं है।**
> **परिवर्त्तन—प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राण धारा है,**
> **मुक्त वही, जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,**
> **विधि निषेध से परे, छूट कर सभी कामनाओं से**
> **किसी ध्येय के लिए नहीं, केवल बहते रहने दो,**
> **क्योंकि और कुछ भी करना सम्भव या योग्य नहीं है।"** (पृ० ७९, ८०)

परिवर्त्तन विनाश नहीं, निर्माण भी करता है किन्तु परिवर्त्तन को कवि नश्वर न मानकर मुक्ति का समानार्थी मानता है। परिवर्त्तन प्रकृति की सबसे बड़ी शक्ति है। इस प्रकार यहाँ परिवर्त्तन के क्रम पर सर्वाधिक बल दिया गया। इस परिवर्त्तन के क्रम में अनेक तरह की कामना से क्षुब्ध हो अनेक प्रयत्न करना मनुष्य को उसके जीवन की सिद्धि में बाधक बनाता है चूँकि परिवर्त्तन के क्रम को हम ठीक तरह से समझ नहीं पाते। परिवर्त्तन का समय-बोध ही जीवन की मुक्ति है जो परिवर्त्तन की सार्थकता सिद्ध करता है। आधुनिक चिन्तन भी परिवर्त्तन की धारणा को महत्त्व देता है। लेकिन दिनकर इस परिवर्त्तन के क्रम को स्वीकार करते हुए अंत में ऐसे सत्य पर पहुँचते हैं जो अव्याख्येय एवं रहस्य-वादी हैं—

> **"और, अन्त में, अनाख्येय जो आदि भित्ति आती है,**
> **परे झाँकने को भी उसमें कहीं गवाक्ष नहीं है।**
> **वर्त्तमान को कुछ मत पूछो, एक बूँद वह जल है**
> **अभी हाथ आया, तुरन्त फिर अभी बिखर जायेगा।**
> **पढ़ा जाय क्या अर्थ काल के इस उड़ते अक्षर का ?**
> **और भविष्यत् के वन में ऐसा घनघोर तिमिर है,**
> **नहीं सूझता पंथ बुद्धि के दीपों की आभा में।**
> **हार मान प्रज्ञा अपना सिर थाम बैठ जाती है।"** (पृ० ८०-८१)

परिवर्त्तन के इस क्रम में जो मूल सत्य प्राप्त होता है उससे आगे जाना निरर्थक प्रयत्न-मात्र है। दिनकर परिवर्त्तन क्रम को यहाँ बाधित करते हैं। परिवर्त्तन का सत्य किसी अन्तिम सत्य के दर्शन नहीं कराता। आधुनिक चिन्तन में परिवर्त्तन का कोई ऐसा सत्य नहीं है जो रहस्यवादी हो। हर परिस्थिति अपनी परिस्थिति की उपज है और उसकी बौद्धिक व्याख्या की जा सकती है। दिनकर परिवर्त्तन की अध्यात्मवादी व्याख्या को स्वीकार करते हैं। दो तरह के परिवर्त्तन माने गए हैं—१. परिणमन एवं २. तत्वांतर या रासायनिक (>जैसे बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है) इन दो धाराओं को प्राचीन दर्शन में स्वीकार किया गया। परिवर्त्तन से जगत का क्रम चलता है लेकिन सत्य शिखर पर [illegible] है उस कोई नही स्पर्श करता चरम सत्ता जगत से सम्बन्धित नहीं इसलिए

वह अव्याख्येय, अनाव्याख्य, रहस्यवादी होगी। दिनकर इस प्रकार रहस्यवादी कवियों की पंक्ति में आ बैठते है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि परिस्थितियों को गौरव देने के कारण दिनकर आधुनिक नहीं हो जाएँगे।

मानव-जीवन की नियतिवादी व्याख्या—सृष्टि में परिवर्त्तन के क्रम मे सहभागी और साक्षी होना—मनुष्य इतना ही कर सकता है चूँकि उससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकता; अर्थात् यह मानव-जीवन की नियतिवादी-व्याख्या है।[1] परिवर्त्तन का कारण मनुष्य नहीं हो सकता नहीं तो इतिहास-चक्र में मनुष्य की भूमिका गौण हो जाती है। परिवर्त्तन में मनुष्य की भूमिका को निष्क्रिय धरातल पर प्रस्तुत किया है। परन्तु मनुष्य परिवर्त्तन का कारण है—इसनें इतिहास की गति को तीव्र एवं गतिहीन करने की क्षमता है। आधुनिक चिन्तन भी इस बात को अंगीकार करता है कि मनुष्य परिवर्त्तन का नियन्ता है तब दिनकर मानवीय प्रयत्न को व्यर्थता की सिद्ध करते हैं जबकि वे आधुनिक परिवर्त्तन में मानवीय भूमिका को महत्त्वपूर्ण धरातल पर स्वीकार करते है।

तत्त्व और रूप की दार्शनिक व्याख्या—यह जीवन रूपमय है, तात्त्विक-दृष्टि से कुछ नहीं—मात्र शून्यता—रूप की दृष्टि से सब कुछ है अर्थात् दृष्टि-भेद है। तत्त्व और रूप की पुन: एक दार्शनिक व्याख्या दिनकर चाहते हैं—

> **"किन्तु, अर्थ को छोड़ जभी शब्दों की ओर मुड़ोगे,**
> **अकस्मात्, यह शून्य ठोस रूपों से भर जायेगा।**
> **देखोगे, सुनसान नहीं, यह तो पूरी बसती है**
> **नक्षत्रों की, नील गगन की, शैलों, सरिताओं की,**
> **लता-पत्र की, हरियाली की, ऊषा की लाली की।**
> **सभी पूर्ण, सब सुखासीन, सब के सब लीन क्रिया में,**
> **पूछे किससे, कौन, कहाँ से सृष्टि निकल आयी है?"** *(पृ० ८१)*

रूप पर ध्यान देने पर सम्पूर्ण सृष्टि प्रसन्न लीलामय दिखाई देगी। यहाँ जीवन-जगत् की रूपमय व्याख्या की गयी। किन्तु उसके प्रति जिज्ञासा भी होनी चाहिए—यह उचित नहीं। पेड़-पौधे इसी सृष्टि के उपादान हैं परन्तु वे जिज्ञासु नहीं है। प्रश्न उठता है कि क्या दिनकर पेड़-पौधों को मानव से श्रेष्ठ मानते हैं या यह चाहते हैं कि मानव जिज्ञासु न हो? दिनकर के अनुसार मनुष्य में जो जिज्ञासा है—वह व्यर्थ की वस्तु है। ऐसा लगता है दिनकर पौधों के समान मनुष्य-जीवन जीना चाहते हैं। मनुष्य में चेतन धरातल पर द्वन्द्व होता है। वास्तविक रूप में द्वन्द्व की सत्ता विद्यमान नहीं यानि हम द्वन्द्व के द्वारा

---

1. *"मुक्त वही, जो सहज भावना से इसमें बहते हैं,*
विधि निषेध से परे छूट कर सभी कामनाओं से
किसी ध्येय के लिए नहीं केवल बहते रहने को

सत्य की उपलब्धि नहीं कर सकते जबकि आधुनिक चिन्तक यह मानता है कि सत्य द्वन्द्व से ही उभरता है अतः स्वतः सिद्ध है कि दिनकर आधुनिक नहीं है। दिनकर मानते हैं कि सत्य ऐसी अवस्था है जहाँ द्वन्द्व होता ही नहीं।

प्रकृति और मानव-जीवन— उर्वशी प्रकृति के ठोस सन्दर्भों में सहभागी होने मे ही मानव-जीवन की सार्थकता मानती है।[1] यदि मुक्ति इससे भिन्न है तो उसकी आवश्यकता नही अर्थात् उर्वशी निरन्तर प्रवाहित अनुभव की स्थिति में अपने को सार्थक मानती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आधुनिक स्थिति है किन्तु जब वह—

> **"कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?**
> **कब आयेगा वह भविष्य, जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?**
> **कौन पुरुष, जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?**
> **कौन त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?**
> **कौन लोक, कौंधती नहीं मेरी ह्लादिनी जहाँ पर ?**
> **कौन मेघ, जिसको न सेज मैं अपनी बना चुकी हूँ ?**
> **कहूँ कौन-सी बात और रहने दूँ कथा कहाँ की ?**
> **मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,**
> **उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है।"** *(पृ० ९०)*

अपने अस्तित्व की शाश्वतता पर अलग से व्याख्यान देने लगती है—तब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? जब उर्वशी प्रकृति की परिवर्तनमयी धारा में स्वयं को रखकर परिभाषित कर रही थी—यहाँ गति थी, परिवर्तन था जिससे उसके अस्तित्व की बौद्धिक व्याख्या हो जाती थी—यहाँ वह अस्तित्व को शाश्वत निरपेक्ष रूप प्रदान कर रही है। उसकी सापेक्षता निरपेक्षता में गल जाती है। ऐसा लगता है कि कवि अनुभव-खण्डो मे जी रहा है उसकी दृष्टि संगत अनुभवात्मक नहीं है।

जीवन का कर्म-प्रधान दर्शन—क्षण—उर्वशी जीवन का कर्म-प्रधान-दर्शन क्षण का दर्शन प्रस्तावित करती है। इस सारी प्रतिक्रिया को सुनकर पुरुरवा पर मनोरंजक प्रतिक्रिया होती है। पुरुरवा फूल और नारी दोनों को सुन्दर बताता है और उनमें नारी इसलिए श्रेष्ठ है—चूँकि वह बोलती है। यदि फूल भी बोलने लगे तो कितना सुन्दर हो ? उसे सुमन समान उर्वशी सुन्दर लगती है इसलिए उर्वशी के प्रति उसकी सम्पृक्ति बढ जाती है। ऐसी अवस्था में उसका महत्त्वपूर्ण कथन—

> **"हम निसर्ग के स्वयं कर्म हैं, कर्म स्वभाव है सारा,**
> **कर्म स्वयं आनन्द, कर्म ही फल समस्त कर्मों का।"** *(पृ० ७८)*

---

१. *"पर, खोजें क्यों मुक्ति ? प्रकृति के हम प्रसन्न अवयव हैं;*
जब तक शेष प्रकृति, तब तक हम भी बहते जायेंगे
लीलामय की सहज शान्त धारा में। *(पृ० ८४)*

"स्यात् योग सायास उपेक्षा भर है इस स्वीकृति को,
हम निसर्ग के बन्द कपाटों को न खोल सकते हैं;
स्यात्, साधनाएँ प्रयास हैं थकी हुई प्रज्ञा को
अन्वेषण में, किसी भाँति भी, निरत किए रहने का।" (पृ० ८५)

आध्यात्मिक साधना को पुरुरवा थकी हुई मेधा का व्यापार बताता है। आध्यात्मिक साधना को थकी प्रज्ञा की बात कहना आध्यात्मिक साधना की निषेधात्मक व्याख्या है। इस प्रकार परम्परित अनुभव पर यह एक आघात है।

आध्यात्मिक साधना : जीवन साधना की व्याख्या—आध्यात्मिक साधना जीवन-साधना की व्याख्या है। परम्परित अनुभव की सार्थकता को आघात लगने पर भी मन इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होगा चूँकि आध्यात्मिक प्रज्ञाओं ने जीवन को आगे बढाया है। समय बिताने पर यह व्यापार कैसा है ? यदि इसका चिन्तन किया भी जाए तो इसमें शक्ति नही किन्तु किसी श्रेष्ठ कवि की कविता में इस प्रकार के लक्षण हो तो यह कहना पड़ेगा कि कवि अपने उत्तरदायित्व के प्रति गम्भीर नहीं है। इसके पश्चात् पुरुरवा के मानसाकाश को उर्वशी बुरी तरह आच्छादित कर लेती है और वह उसकी प्रशसा के गीत गाने लगता है—

"देखा तुम्हें बहुत, पर, अब भी तो यह ज्ञात नहीं है
प्रथम-प्रथम तुम खिलीं चीर टहनी किस कल्पलता की ?
लिया कहाँ आकार निकलकर निराकार के गृह से ?
ऊषा-सदृशी प्रकटी थीं किन जलदों का पटल हटाकर ?" (पृ० ८६)

× × ×

"कैसा दीप रहा होगा पावकमय रूप तुम्हारा
नील तरंगों में, झलमल फेनों के शुभ्र वसन में !
और चतुर्दिक तुम्हें घेर उद्ग्रीव भुंजगिनियों-सी
देख रही होंगी काली लहरें किस उत्सुकता से।" (पृ० ८७)

× × ×

"तुम अनन्त सौन्दर्य, एक तन में बस जाने पर भी,
निखिल सृष्टि में फैल चतुर्दिक कैसे व्याप रही हो ?
तुम अनन्त कल्पना, अंक चाहे जिस भाँति भरूँ मैं,
एक किरण तब भी बाँहों से बाहर रह जाती है।" (पृ० ८७)

उर्वशी को अनन्त सौन्दर्य, शाश्वत सौन्दर्य का प्रतीक कवि बना रहा है। उसका प्रयत्न भी रहा है कि उर्वशी को शाश्वत प्रतीक रूप में प्रस्तुत कर सके। इसलिए आवश्यक था कि सौदर्न्य में अद्वितीयता का सन्धान करें। उर्वशी की अद्वितीयता इसी में है, पुरुरवा को चिर पुरुष, उर्वशी को चिर नारी रूप में चित्रित कर जन्म-मरण से अलग उनके अस्तित्व को स्थापित करना चाहत ये

उर्वशी अपने आप को दैवी घोषित करती है। दैवी होने के कारण उर्वशी में रहस्यमयता विद्यमान है। मनुष्य उस रहस्यमयता के साथ अपने सम्बन्ध सूत्र पिरोता है तभी धीरे-धीरे जीवन की वास्तविकता पर पड़ा आवरण हटता है। अस्पष्टता एवं वास्तविकता का संघर्ष निर्मित होने पर—वास्तविकता का उद्घाटन होता जाता है। यह छायावादी कवियों की अनुभूति पद्धति थी। छायावादी कवि कुछ अस्पष्ट भाषा का प्रयोग करना चाहता था जिससे वह अनिश्चय को निश्चय में परिवर्तित कर सके और यह तभी सम्भव होगा जब स्पष्ट और अस्पष्ट शब्दों का विधान किया जाए। दिनकर की आकांक्षा छायावादी कवियों से भिन्न नहीं है। स्पष्ट और अस्पष्ट के सन्धान को बाद का कवि स्वीकार नहीं करता। छायावादी कवि व दिनकर इसे स्वीकार करते हैं कि सृजनात्मकता में एक प्रकार की रहस्यमयता लिपटी रहती है। किन्तु यथार्थवादी दृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती और न ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उसे मान्यता देते हैं। वह सृजनात्मकता को रहस्यमयता का अवरोध मानते हैं।

पुरुरवा उर्वशी को स्वप्न से श्रेष्ठ नहीं मानता।[1] किन्तु जब पुरुरवा उर्वशी का उष्ण आलिंगन लेता है तब स्वप्न या छाया कैसे ? इससे लगता है कि उसके चिन्तन और अनुभव में बँटवारा है। यह बँटवारा पुरुरवा का नहीं बल्कि स्वयं दिनकर का है। इसे एक बिन्दु में समाहित करने के लिए बेचैन है। किन्तु जहाँ चिन्तन-अनुभव के द्वन्द्व को वे समन्वित करना चाहते हैं वहाँ उनका कवि धर्म असफल हो जाता है। यदि उर्वशी मांसल प्रेम की कविता होती तब उसकी महत्ता और अधिक होती। उर्वशी सौन्दर्य-चेतना की शाश्वत तरंग है। इस प्रभाव की चेतनामयी स्वर्ण रश्मियों से वह पुरुरवा को गूँथना चाहती है—

> **"मैं नाम गोत्र से रहित पुष्प**
> **अम्बर में उड़ती हुई मुक्त-आनन्द-शिखा**
> **इतिवृत्तहीन,**
> **सौन्दर्य-चेतना की तरंग।**
> **सुर नर किन्नर गन्धर्व नहीं,**
> **प्रिया ! मैं केवल अप्सरा**
> **विश्वनर के अतृप्त इच्छा-सागर से समुद्भूत।"** (पृ० ९२)

---

१. *"सत्य मानकर भी कब समझा भिन्न तुम्हें सपने से ?*
नारी कहकर भी कब मैंने कहा, मानुषी हो तुम ?
अशरीरी कल्पना, देह धरने पर भी, आँखों से
रही झाँकती सदा, सदा मुझको यह भान हुआ है
बाँहों में जिसको समेट कर उर से लगा रहा हूँ
रक्त मास की मूर्ति नहीं वह सपना है छाया है (पृ० ९० ९१

र्वशी' में आकर वे आधुनिक काव्य-प्रयत्न के विरोध में पड़ जाते हैं। उन पर कर बोझ सवार हो जाता है। दिनकर मर्म की व्याख्या बड़ी भ्रामक करते हैं—

"आवेशित उद्गार ! यही मर्मों का उद्घाटन है ?
हुआ त्रस्त कितना रहस्यमय अवगुंठन माया का ?
पर, रहस्य हट जाने पर भी रहीं रहस्यमयी तुम
मायावरण दूर कर देने पर भी तुम माया हो।" (पृ० ९६)

र उद्गार मार्मिक होते हैं उसे किसी ने स्वीकार नहीं किया है। यहाँ तक कि के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने भी इसे स्वीकार नही किया। आवेश मे क प्रतिक्रिया होती है जो क्षण कालिक है तथा मार्मिकता की प्रतिक्रिया गम्भीर रिमी आंच-सी होती है। यहाँ स्पष्टत. प्रतीत होता है कि 'दिनकर' की मर्म की को आयी है। सभी दिशाओं, युगों में उर्वशी वापिस लौट जाती है[1]। उसका ठोस धूमिल हुआ है किन्तु मानसिक अस्तित्व सदैव बना रहेगा। उसका जाना न राबर है। उर्वशी ने अपने को शाश्वत बनाया है तो पुरुरवा ने भी अपने को नर बनाया है। इस शाश्वतता के बिन्दु पर पहुँचने से व्यक्ति का अस्तित्व हो जाता है और पुरुरवा के लिए उर्वशी का अस्तित्व समाप्त हो चुका है।

प्रकार निर्मित काव्यानुभूति को दिनकर ने रम्यता से 'उर्वशी' में अंकित किया । इन सभी तत्त्वों का संधान है। दिनकर की अभिव्यक्ति मनोरम हृदय-ग्राही है। श्रेष्ठ कविता के साथ-साथ दिनकर का काव्यानुभव प्रौढ़ 'मेच्योर' है। दिनकर र काव्यानुभूति की प्रौढ़ता के लिए अध्यात्म-तत्त्व आवश्यक है। यही सब तत्त्व की काव्यानुभूति को निर्मित करते हैं। पर ये सब तत्त्व आपस में किस प्रकार वह तत्त्व है आवेश—आवेशित उद्गार। यही मर्म का उद्घाटन है। आवेश लिक तत्त्व है जिसके द्वारा इन सभी तत्त्वों को गूँथ कर काव्यानुभव में पर्यवसित । दिनकर आद्यान्त आवेश के कवि रहे हैं। एक तरह का बुद्धि-विरोध दिनकर नुभव में व्याप्त है। आवेग, आवेश की दिनकर में प्रधानता है। आवेश के लिए य युद्ध-प्रेम-सर्वाधिक उपयुक्त है वही दिनकर के विषय हैं। आवेश कुरुचिपूर्ण,

---

रूपसी अमर मैं चिर-युवती सुकुमारी हूँ
तुम त्रिभुवन में अथवा त्रिकाल में जहाँ कहीं भी हो,
अन्तर में धैर्य धरो
सरिता, समुद्र, गिरि, वन मेरे व्यवधान नहीं।" (पृ० ९५)

"तुम त्रिकाल-सुन्दरी, अमर आभा अखंड त्रिभुवन की
सभी युगों से, सभी दिशाओं से चलकर आयी हो
इसीलिए, तुम विविध जन्म-कुंजों में पुलक जगाकर,
सभी दिशाओं, सभी युगों को पुन: लौट जाओगी।" (पृ० ९६)

क्षण कालिक, खंडित, तीव्र होता है। यह सब उर्वशी के काव्यानुभव में प्राप्त होता है। उर्वशी में तीव्रता बहुत है जिसे उर्वशी की काव्यानुभूति की एक श्रेष्ठता स्वीकारा गया। कवि प्रभाव निर्मित करता है, पाठक को तन्मय बनाता है। आलोचक-वाचक की चेतना को तन्मय बनाए यह उपयुक्त नहीं है। उर्वशी में आवेश की तीव्रता सांधानिक है। गहरा काव्यानुभव तन्मय नहीं बनाता। तीव्रता के कारण तन्मयता उत्पन्न होती है। यह तीव्रता उर्वशी के काव्यानुभव में विभाजन उत्पन्न करती है। कवि को विश्वास है तो अति की सीमा तक। उर्वशी को प्रेम का आत्यांतिक विश्वास है, अध्यात्म पक्ष में भी अति का आश्रय है। जहाँ ऐन्द्रिय धरातल पर चर्चा है वहाँ भी अति से काम लिया गया। इसका कारण आवेश है। रक्त, धर्म और किरणोज्ज्वल प्रदेश जब कवि दोनों के समन्वय का यत्न करता है तब असफल होता है। उर्वशीकार की महत्वाकांक्षा कामाध्यात्म को प्रतिस्थापित करने की है। उर्वशी का देव लोक छोड़कर क्षिति पर आना यह सिद्ध करता है कि वह शरीर धर्म को उपभोग के स्तर पर पूर्ण स्वीकार करती है। तब हमें लगता है कि इसी परिप्रेक्ष्य मे दिनकर शरीर के मांसल ऐन्द्रिय प्रेम के भीतर किसी मूल्य का अन्वेषण कर उसी को उदात्त बनाना चाहते हैं किन्तु जब उर्वशी अपनी सनातनता पर व्याख्यान देने लगती है तब सब खंडित हो जाता है। देह के स्तर पर उर्वशी प्रेम का उदात्त स्तर छोड़कर असीमता का सहारा लेने लगती है। आरम्भ में उर्वशी का जो चरित्र है बाद का व्याख्यान उसे खंडित कर उसकी अनुभूति के बाँध को तोड़ देता है। इन दोनो के बीच कोई विभाजन नही है यह आवेश के कारण हुआ है। दिनकर के लिए रक्त के प्रति जब आवेश है तब रक्त ही सब कुछ है और जब अध्यात्म के प्रति आवेश है तब अध्यात्म ही सब कुछ है। दिनकर प्रेम को कर्त्तव्य या जैविक अथवा आध्यात्मिक क्या मानते है? प्रेम स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है। रक्त बुद्धि से अधिक बली है तब काव्यानुभव भी उलझन-पूर्ण बन जाता है। इसके अनुसार प्रेम सम्पृक्ति है और सम्पृक्ति के भीतर से तटस्थता उत्पन्न हो सकती है। यह अनुराग बना विराग का परिणाम है। दिनकर उस तटस्थता को सम्पृक्ति से पाना चाहते हैं यह नहीं लगता, वरन् वे असम्पृक्ति से प्रेम के अनुभव की निर्मिति चाहते हैं। वे उर्वशी के उद्दाम प्रेम के प्रति भी आकर्षित हैं और वात्सल्य मातृत्व के प्रति भी। यह बड़ा उलझाव है। उर्वशी के काव्यानुभव में द्वन्द्व है। वैचारिक धरातल पर दिनकर द्वन्द्व की आधुनिकता से परिचित हैं पर ये अनुभव की भीतरी संरचना को कैसे परिवर्तित कर देता है उससे परिचित नहीं है। द्वन्द्व आधुनिक विचारधारा मे नाशवान भौतिक स्थिति में अर्थ था। वह सार को स्वीकार करता है पर दिनकर सार्व-भौम एवं क्षणिक भौतिक तत्त्व का संघर्ष दिखाते हैं। मनुष्य, जिसको सार्वभौम तत्त्व अर्थ देता है उसे आज सारवानता नहीं मिलती। दिनकर मात्र द्वन्द्व भर होने को ही आधुनिक मानते हैं। वे जिस द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हैं वह प्राचीन काव्य में बहुत था। इसलिए दिनकर की पहचान में दोष है वे द्वन्द्व की उस स्थिति को नहीं समझ पाते कि वह कहाँ सार्थक है सार्वभौम तत्त्व चुनौति का परिशमन कर देता है दिनकर आज के

प्रतीकात्मकता

उर्वशी की प्रतीकात्मकता पर विचार-विश्लेषण करने के लिए हमें उर्वशी की भूमिका परखनी होगी। दिनकर ने उर्वशी की भूमिका में लिखा है—"सृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है। सर विलियम ने अनुमान लगाया था कि पुरुरवा-उर्वशी की कथा अन्योक्तिपरक है। इस कथा का वास्तविक नायक सूर्य और नायिका ऊषा है। मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी की।"

'उर्वशी' शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और 'पुरुरवा' शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार से रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो। उर्वशी चक्षु-रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र कामनाओं की प्रतीक है, पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और छन्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।" इस प्रकार उर्वशी की भूमिका इस ओर स्पष्ट संकेत करती है कि नायक और नायिका की प्रतीकात्मक स्थिति निर्विवाद और असंदिग्ध है और इस प्रतीकात्मकता का निर्वाह दिनकर ने आरम्भ से अन्त तक किया है।

प्रतीकात्मक रूप में चित्रित उर्वशी प्रत्येक मानव के हृदय-सिन्धु की अनुपम अलौकिक मणि है। उसका निवास प्रत्येक मन और प्रत्येक मानव के प्राणों के स्पन्दन में है। उर्वशी शब्द का अर्थ ही हृदय की तहों में निवास करने वाली है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उर्वशी को 'समष्टि की उद्दाम चेतना' का प्रतीक मानते हैं। श्री विजयेन्द्र नारायण सिंह ने उर्वशी को उसी प्रसंग में कामेच्छा या 'लिबिडो' का प्रतीक माना है। इसीलिए वह प्रकृति है। उर्वशी की झंकृति प्रत्येक मानव-मन के पटल पर अपरिमित सुखाशाओं के स्वरों को बिखेरती है इसीलिए दिनकर ने उर्वशी का निवास-स्थल प्रत्येक मानव का हृदय बताया जो सनातन नारी का पर्याय है—

"जन-जन के मन की मधुर वह्नि, प्रत्येक हृदय की उजियाली
नारी की मैं कल्पना चरम नर के मन में बसने वाली।" (पृ० १३)

इसके अतिरिक्त दिनकर उर्वशी के शाश्वत नारीत्व की प्रस्तुति भी करते हैं जब उर्वशी

पूर्णता के रूप में देख अपने व्यक्तित्व को यौवन की तेजोद्दीप्त गरिमा के रूप में प्रस्तुत करती है—

"कौन पुरुष, जिसकी समाधि में मेरी झलक नहीं है ?
कौन त्रिया, मैं नहीं राजती हूँ जिसके यौवन में ?
कौन लोक, कौंधती नहीं मेरी ह्लादिनी जहाँ पर ?
कौन मेघ, जिसको न रोज मै अपनी बना चुकी हूँ ?" *(पृ० ९०)*

उर्वशी ऐसी ही शाश्वत, चिरन्तन नारी और नारीत्व का प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उर्वशी की प्रतीकात्मक स्थिति मानव मन की मूल स्वस्थ कामेच्छा मे समाहित है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में उर्वशी की कामना-शिखा ईश्वर की जीवेच्छा का प्रतिनिधित्व करती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्वत: सिद्ध है कि उर्वशी को दिनकर ने विभिन्न इन्द्रियों की कामनाओं तथा चिरन्तन नारीत्व के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया किन्तु आगे बढ़ने पर दिनकर लिखते हैं "उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता, वे त्रिकाल अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती हैं। द्वन्द्वों की कुछ थोड़ी अनुभूति उन्हें तब होती है जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है। जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभिषिक्त कर देता है" *(भूमिका)*। इस प्रकार उर्वशी के तीन रूप हमारे सामने हैं (१) सनातन नारी का (२) अलौकिक देवी का (३) मानवीय दुर्बलताओं से युक्त नारी का। "सौन्दर्य की यह निधि अम्बर से भू पर आती है मानवीय प्रेम का रसास्वादन करने। अपनी समग्र चेतना से वह शरीरी प्रेम का आलिंगन करती है और उसमें डूबना जीवन की सार्थकता मानती है। वह नर-नारी के मिलन को ही समस्त दर्शनों का सार कहती है क्योंकि वे पुरुष और प्रकृति के ही प्रतीक हैं। पुरुरवा जब आलिंगन में उर्वशी को बाँधे हुए शरीरी मिलन के चरम आनन्द की स्थिति में भी उस विराट् छवि को देखने की लालसा व्यक्त करता है तो वह उसे ठीक नहीं समझती" *(डॉ० पदमसिंह शर्मा 'कमलेश' : हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन)*। और उर्वशी पुरुरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है—

"अतिक्रमण सुख की तरंग, तन के उद्वेलित मधु का
तुम तो जगा रहे मुझमें फिर उसी शीत महिमा को
जिसे टांग कर पारिजात-द्रुम की अकंप डाली पर
मैं चपलोष्ण मानवी-सी भू पर आई हूँ।" *(पृ० ६३)*

अकाम-काम के दर्शन को भी दिनकर ने उर्वशी के मुख से प्रस्तुत किया। दिनकर उर्वशी को माध्यम बनाते हुए उर्वशी से कहलवाते हैं—

"और पुत्र कामना कहो तो, यद्यपि, वह सुखकर है
पर निष्काम काम का सचमुच वह भी ध्येय नहीं है।" *(पृ० ८४)*

वस्तुत उर्वशी के व्यक्तित्व का निर्माण काम के अकाम भोग के लिए ही हुआ है जिसमे

सौन्दर्य नर-नारी के मिलन की निस्तल समाधि में इसी लोक में किसी अतीन्द्रियता की अनुभूति करता है" *(डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यों का मूल्यांकन)*।

हिन्दी के अधुनातन मूर्धन्य आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारानुसार पुरुरवा "सीमाबद्ध जीव है जो इस उद्दाम मानस वेग (उर्वशी) का शिकार है।" दिनकर ने भूमिका में लिखा है—"पुरुरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।" पुरुरवा का चित्रण दिनकर ने इसी प्रकार द्वन्द्वग्रस्त मानव के रूप में किया। सनातन पुरुष का प्रतीक पुरुरवा जन्म-जन्मान्तर से चिरन्तन नारी की व्यग्रता से तलाश करने में संलग्न रहता है—

"जहाँ-जहाँ तुम खिली स्यात मैं ही मलयानिल बनकर
तुम्हें घेरता आया हूँ अपनी आकुल बाँहों से
जिसके भी सामने किया तुमने कुंचित अधरों को
लगता है मैं ही सदैव वह चुम्बन रसिक पुरुष था।" *(पृ० ९७)*

दिनकर ने सनातन नर के रूप में पुरुरवा को चित्रित कर नैसर्गिकता से प्राप्त मानवीय द्वन्द्व की गाढ़ी रेखाओं से भी पुरुरवा को जकड़ा जो सनातन से मानव की मूल वृत्ति है।

पुरुरवा पुरुष की भ्रमर-वृत्ति का प्रतीक है। पुरुष की इस मनोवैज्ञानिक वृत्ति को पहचान कर दिनकर ने पुरुष को प्रणय-क्षुधा से बेचैन एवं आकुल ही चित्रित किया। मदनिका पुरुष की इस प्रणय-क्षुधा को परिभाषित करती है—

"पुरुष सदा आक्रान्त विचरता मादक प्रणय क्षुधा से
जय से उसको तृप्ति नहीं सन्तोष न कीर्ति सुधा से
असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है
संकट में युवती का शैया-कक्ष याद आता है।" *(पृ० ३७)*

यह पुरुष का स्वभाव है। फिर जो पुरुष जितना भी पौरुषवान् है वह उतना ही मुक्त और निर्बन्ध होता है। पुरुरवा में यही तत्व काम कर रहा है। तभी औशीनरी के पति-व्रत को उसका व्यग्र काम ठुकरा कर गन्दमादन पर उर्वशी के साथ विहार करने को ले जाता है। उसकी भ्रमर वृत्ति को भी कवि ने उसका स्वभाव ही कहा है। वह द्वन्द्वग्रस्त जो ठहरा।

इस प्रकार पुरुरवा और उर्वशी सनातन नर और नारी का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उर्वशी और पुरुरवा का यही प्रतीकत्व दिनकर को अभीष्ट भी था। कवि मन के अनेक प्रश्न हैं "क्या है जो मनुष्य के सोचने-समझने की प्रक्रिया को एकदम ढक देता है और वह अपनी विद्यमान परिस्थितियों से उठकर दूसरी दिशा में धावमान होता है?

है" *(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : उर्वशी विचार और विश्लेषण : सं० वचनदेव कुमार)*।

मनुष्य जिस वस्तु के लिए अकुलाता है उसके प्राप्तव्य पर भी उसकी वृत्ति परिश्रमित नहीं होती। कुछ और पाने की तृष्णा उसे निरन्तर व्याकुल और बैचेन बनाए रखती है। इस तृषा और लालसा के परिश्रमण की व्याकुलता में वह निरन्तर द्वन्द्व के सन्धि-बिन्दु पर खड़ा अन्तर्द्वन्द्व से ग्रसित रहता है। परिणामस्वरूप न तो वह उन्मुक्त आकाश की स्वतन्त्रता में विचर पाता है और न ही उसके पैर धरा पर स्थिर रह पाते है। निरन्तर द्वन्द्व के चक्रव्यूह मे ग्रसित वह किसी अन्तिम निर्णय की स्थिति मे नही पहुँच पाता। पुरुरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है जो सस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न पूर्वजों की भाँति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति मे लीन हो सकता है" *(डॉ० सावित्री सिन्हा : उर्वशी विचार और विश्लेषण : सं० डॉ० वचनदेव कुमार)*।

निरुक्त के अनुसार आयु का अर्थ भी मनुष्य होता है। नवमानव का प्रतीक आयु मानव के कर्त्तव्य-पक्ष का प्रकाशपथ व निर्देशक है। "आयु भविष्य के उस स्वर्ण जीवन का अग्रदूत है जिसमें आगे की नारी को वर्त्तमान अभिशाप से मुक्ति मिलेगी। राजमुकुट से अधिक वह मातृ-चरणों की खोज में रत है।" ऐसे मार्ग दर्शक मनुष्य के रूप में कभी-कभी दृष्टिगत हो जाते हैं। मानवीय दुर्बलताओं को पराजित कर दैवीय गुणों को आत्मसात् कर च्यवन ऋषि मनुष्य से देवता बने हुए नर का प्रतिनिधित्व करते हैं। औशीनरी उपेक्षिता, विदग्धा, त्यागमयी गृहस्थ भारतीय नारी का तथा सुकन्या नारी की पवित्रता की प्रतीक है।

गन्धमादन पर्वत की प्रतीकात्मक स्थिति काम की क्रीड़ा-स्थली में सीमित है। गन्धमादन पर्वत काम की ऐसी रंगशाला है जहाँ नर-नारी के समागम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं। मनु और इड़ा का आख्यान तर्क, मस्तिष्क, विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु पुरुरवा उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है। वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का महात्म्य बताता है" *(भूमिका)*। "कामपक्ष का यह महात्म्य इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श करने के कारण ही स्थापित हुआ है। मृण्मय प्रेम में चिन्मय प्रेम का जन्म किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य हो जाता है यह धारणा भी बड़ी प्राचीन है" *(डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल : नया सृजन नया बोध)*। इस कृति में दिनकर ने उर्वशी के मुख से यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया—

> **"जगता प्रेम प्रथम लोचन में, तब तरंग-नभ मन में,**
> **प्रथम दीखती प्रिया एक देही, फिर व्याप्त भुवन में।**

पहले प्रेम स्पर्श होता है; तदनन्तर चिन्तन भी,
प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।" (पृ० ६०)

सारतः, सच्चे अर्थों में उर्वशी के सभी चरित्र विशिष्ट सन्दर्भों से युक्त जीवन के किसी न किसी गहन रूप या दृष्टि के प्रतीक हैं। इनमें चारित्रिक जड़ता न होकर जीवन की गत्यात्मकता एवं बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होने की विशेष क्षमता है। साथ ही, इन चरित्रों का निर्माण किसी रूढ़ या परम्परागत पद्धति से नहीं किया गया है। नए जीवन के वास्तवपन को दर्शाने की इनमें पर्याप्त शक्ति है। इसमें आज के मानव की भाँति द्वन्द्व, घुटन, विवशता और बैचेनी अधिक है। जीवन की विषमताओं से संघर्ष करते हुए इनमें शान्ति से जीने का भाव कहीं नहीं है। पुरुरवा द्वन्द्वग्रस्त है, उर्वशी शाप-वश विवश और बैचेन है, औशीनरी में उपेक्षा से उत्पन्न यातना की मात्रा विपुल है। यहाँ आरम्भ से ही यह जान लेना चाहिए कि उर्वशी के चरित्रों में युग-बोध को अंशतः व्यक्त करने की सामर्थ्य है समग्रता में नहीं" *(डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल : नया सृजन नया बोध)*। "उर्वशी में दिनकर अपने पात्रों को निर्वैयक्तिकता देने में सफल हो सके हैं। हम यह मानते हैं कि यह सफलता आंशिक ही है। तृतीय अंक ही वह भूमि है जहाँ ये दोनों पात्र (उर्वशी और पुरुरवा) किसी भी व्यक्ति विशेष की व्याख्या से मुक्त हैं। तीसरे अंक में प्रणय की समाधि में लीन दो प्राणी कोई भी नर-नारी हो सकते हैं। उनमें ऐसा कुछ भी नहीं है कि हम यह कह सकें कि यह व्यक्ति पुरुरवा ही है और यह उर्वशी ही है।" *(प्रो० विजयेन्द्र नारायण सिंह)*।

प्रकृति के उल्लास और स्फूर्ति का कारण नर-नारी के सम्मिलन का समाधि सुख है। इस समाधि-सुख में कवि ने पुरुरवा को सनातन पुरुष का प्रतीक और उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक मानकर प्रकृति-पुरुष की शाश्वत एकता का प्रतिपादन किया है। प्रकृति को माया कहना अथवा प्रकृति पुरुष में से केवल एक की स्थिति बताना कवि को पसन्द नहीं। वह तो पुरुरवा को पुरुष और उर्वशी को प्रकृति मानकर उनके तादातम्य का समर्थक है। मुक्ति का तिरस्कार और विधि निषेधों की व्यर्थता के साथ वह गीता के निष्काम कर्म की भाँति आनन्दोपभोग में अकामता की सार्थकता बताता है। लीलामय की सहज शान्त धारा में बहना ही मानव का ध्येय है। यह सब उर्वशी कहती है और पुरुरवा उसको स्वीकार करती है। द्वैत को दूर कर अद्वैत की साधना का मार्ग यही है। आधुनिक शब्दावली में इसीको ऐन्द्रिय अतिक्रमण की संज्ञा दी जाती है, जिसमें पुरुष अधिगृहीत आकर्षण को प्राप्त करता है और अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति में उसीका—अतिक्रमण कर अतीन्द्रिय सिद्धि के लिए लालायित होता है। पार्थिव से अपार्थिव का यह निष्क्रमण न केवल भोग का उदात्तीकरण है, सिसृक्षा (सृजन की इच्छा) का मूल भी है—अर्थात् पुरुरवा में यहाँ कवि दिनकर का प्रतीकार्थ भी मुखर हो उठता है। पुरुरवा और उर्वशी का यही प्रतीकत्व दिनकर को भी अभीष्ट था।

☐

स्वच्छन्दतावादी अभिव्यक्ति

उर्वशी एक प्रौढ़ एवं पूर्ण कृति है। अनेक बड़े काव्य हैं जिनमें प्रेम के आध्यात्मिक रूपों की प्रशंसा की गई है तथा भारत में ऐसे अनेक महान कवि हुए हैं जिन्होंने प्रेम के स्थूल रूपों को बड़े उत्साह के साथ गाया है। संभवतः दिनकर का ही पुद्गल और आत्मा के मध्य सेतु स्थापित करने का तथा प्रेम के भौतिक रूप का आध्यात्मिक रूप के साथ सम्बन्ध जोड़ने का सर्वप्रथम प्रयास है। संभवतः यह कवि की महत्तम सफलता है।[1] उर्वशी में स्वच्छन्दतावादी (Romantics) ढंग की अभिव्यक्ति, काव्यानुभव विचार सभी कुछ प्राप्त होता है किन्तु 'दिनकर' उसके विरुद्ध वैचारिक आस्था की उद्घोषणाएँ करते आए हैं। कविता में Romantics के बहुत तत्व परिलक्षित होने पर भी दिनकर की वैचारिक आस्था की उद्घोषणा उनकी काव्य-सर्जना एवं काव्य-विचार में अन्त-विरोध उत्पन्न कर देती है। दिनकर की स्वच्छन्दतावादी कवि होने की अपेक्षा क्लासिकल (Classical) कवि होने की चाह रही है इसलिए सन् १९५६ में लिखित 'चक्रवाल' की लम्बी भूमिका में दिनकर ने हिन्दी-कविता और उससे आगे की कविता के विषय में अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कुछ सम्भावनाएं खुलकर व्यक्त की। दिनकर आगे की कविता को बुद्धिवादी कविता स्वीकार करते हुए कहते हैं, "अगले युग की कवि-प्रतिभा, रंगीनी और रोचकता में कुशल होने के कारण पूजी नहीं जाएगी, प्रत्युत् उसके सम्मान का कारण यह होगा कि वह प्रातिभ विस्फोट अथवा आविष्कार वाली प्रतिभा होगी और इसमें भी जो सबसे प्रतिभाशाली कवि होंगे। उनकी पहचान यह होगी कि लोग उनकी कृतियों को छोटी खुराकों में पढ़ेंगे। कविता की अगली राह जूही और चमेली के कुंज से होकर नहीं, प्रत्युत्, समर्थ बुद्धि की कड़ी चट्टान पर से जाने वाली है" *(चक्रवाल*

---

१. "Urvashi is a mature work. There have been great poems which enlogised the spiritual aspects of love. There have been great poets in India who sang blissfully of the material aspects of love. Dinker's is, perhaps, the first attempt to throw a bridge between matter and spirit and connect the material aspect of love with the regions which pertain to the foul. It is, perhaps, the biggest success of a poet, who had already many successes in life."

—*The Socialist Congress Man New Delhi*

भूमिका, पृ० ७६)। स्वच्छन्दतावादी (Romantics) धारणा बुद्धि को महत्त्व नही देती जबकि वैज्ञानिक चेतना समन्वित शास्त्रीय (Classical) धारणा देती है। दिनकर स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—"भाषा में जो छुई-मुई सी सुकुमारता और कल्पना मे जो रोमांटिक कोमलता और वैचित्र्य अब तक कविता में आदर पा रहे थे, अब उनकी भी विदाई के दिन पास हैं। अगली कविता की भाषा और विचार, दोनों कठोर होंगे। भाषा की कठोरता यानी वह गुण जो लोहे और इस्पात को भी पचा सके, जो कारखानो से उडकर साहित्य में पहुँचाने वाले चित्रों को देखकर आगे नहीं, प्रत्युत्, उन्हें उसी सहजता से अंगीकार कर ले जैसे वह कमलवन से आने वाले सपनों को अंगीकार करती रही है और विचारों की कठोरता, यानी वह गुण जो विज्ञान से टक्कर लेगा और जिससे उलझने का आनन्द लेने में बड़े-बड़े चिन्तक कविताओं की ओर उसी उत्साह से मुड़ेंगे जिस उत्साह से वे दर्शन और विज्ञान की ओर जाते है" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० ७५)*। दिनकर के उपर्युक्त मन्तव्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे Romantic धारणा के विरुद्ध रहे है और इस वाक्य से भी, "भावुकता अतिरंजन और अल्प वयस्कता के विचार, ये कविता में दिनों-दिन कम होते जाएँगे और जब कविता अपने पूरे विकास पर पहुँचेगी, उसकी कल्पना पुरुष-कल्पना और उसके भाव कठोर चिन्तक के भाव होंगे" *(चक्रवाल . भूमिका, पृ० ७५)*। और जब दिनकर विज्ञान का पक्ष लेते हैं तब अनुभव तथा भाव की रचना में परिवर्त्तन का अनुभव करना चाहते है। इससे तात्पर्य है कि वे Romantic धारणा के विरुद्ध हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में प्रश्न उठता है कि स्वच्छन्दतावादी धारणा में दिनकर को क्या अपर्याप्तता अनुभव हुई जिस कारण वे Romantics के विरुद्ध लिखते हैं? "अनुभूतियाँ और भाव तो मुझे छायावादियों के ही अच्छे लगते थे, किन्तु, अभिव्यक्ति की सफाई म वह चाहता था जो मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में बिखरी थी" *(चक्रवाल भूमिका, पृ० ३५)*। "सच पूछिए तो छायावादी धूमिलता के मैं जितना विरुद्ध था उतना मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी वाली शैली के पक्ष में नहीं था" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० ३५)*।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वच्छन्दतावादी (Romantic) काव्य की अभिव्यक्ति की अस्पष्टता के कारण दिनकर असन्तुष्ट थे। Romantic कविता की छायावादी एव भाव की धूमिलता दिनकर को ग्राह्य नहीं थी। छायावादी धूमिलता के साथ ही दिनकर रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की शैली के भी विरुद्ध थे। एक जगह असन्तुष्टता और उसी के समानान्तर अच्छा लगना—यह एक अन्तर्विरोध दिनकर मे मिलता है। उपरोक्त दोनों कवियों की शैली के विषय में पहले लिखते हैं कि 'मैं (दिनकर) उनके विरुद्ध हूँ' और नीचे लिखते हैं कि 'शैली में स्पष्टता थी।' यह अन्तर्विरोध उलझन उपस्थित कर देता है कि दिनकर किसके पक्ष मे है और किसके विरुद्ध हैं। वस्तुत. दनकर भाव की स्पष्टता एव अभिव्यक्ति की सफाई क पक्ष मे हैं जो

(Romantic) धारणा में नहीं मिलती। यही कारण है कि दिनकर छायावादी कविता के विरुद्ध रहे। दूसरे वे रोमांटिक कविता को जन-समुदाय से अलग पाते हैं। यही स्वच्छन्दतावादी (Romantic) की अपर्याप्तता है।" छायावाद-युग में छायावादी कविता और जन-समुदाय के बीच कोई सीधा सम्बन्ध न था और यदि सम्बन्ध का कोई पतला धागा दोनों को बाँधे हुए था भी तो यह धागा भावुक, किशोरवय युवकों के उत्साह का धागा था। उनसे आगे समाज में जो विभिन्न विषयों के विद्वान और कविता के पाठक थे, वे छायावादी आन्दोलन को थोड़ा भी महत्त्व नहीं देते थे" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० ३८)*। यह पंक्ति सिद्ध करती है कि Romantic धारणा जनसमुदाय से अलग थी जिसके कारण दिनकर छायावादी या Romantic धारणा के पक्ष में नही थे।

दिनकर का झुकाव ऐसी कविता की ओर रहा जो हरेक सामान्यजन की समझ मे आ जाए। Romantic कविता सबकी समझ में नहीं आती। स्वच्छन्दतावादी (Romantic) की सबसे बड़ी कमी वैयक्तिकता है। और यह वैयक्तिकता इतनी प्रचण्ड थी कि किसी भी स्थिति से वह समझौता करने को तैयार नहीं थी। प्रश्न यह है कि यह वैयक्तिकता छायावाद की या Romantic कविता का गुण था अथवा अभाव था? दिनकर इस प्रचण्ड वैयक्तिकता के पक्ष में नहीं थे इसीलिए उन्हें यह वैयक्तिकता Romantic कविता का अभाव लगा।

छायावादी कवियों में बौद्धिक विदग्धता और साधना द्वारा कठोर परिश्रम का अभाव है इसलिए दिनकर Romantic के विरुद्ध रहे। "छायावाद ने काव्य-संबंधी जिस धारणा को सबसे अधिक पुष्ट किया वह यह मानी जाएगी कि कविता स्वप्न है, कविता परियों की कहानी है, कविता रहस्य की वाणी है, कविता परिचित विश्व से दूर निकल जाने वाली कवि की आवाज है तथा जो व्यक्ति कविता के स्पर्श-मात्र से, स्वतः, यह नही समझ सकता कि कविता क्या है, उसे किसी भी प्रकार यह समझाना कठिन है कि कविता अमुक वस्तु होती है" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० १९)*। यहाँ स्वप्नमयता की बात कही गई है। छायावाद में जो रहस्य-भावना और स्वप्नमयता थी, दिनकर इसके अतिरिक्त छायावादी भावुकता और उद्वेग के भी विरोधी रहे। उन अभावों को निर्देशित कर स्वत ही वे Romantic के भी विरुद्ध हो गए।

दिनकर की चेतना किस प्रकार की रही इसका उल्लेख उन्होंने किया। "मेरी वेदना अभिव्यक्ति की वेदना थी और मेरे सम्मुख जो चुनाव था वह वास्तविक और रोमांटिक अथवा द्विवेदी-युग और छायावादी-काल या मैथिलीशरण और सुमित्रानन्दन पंत के बीच का था" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० १९)*। दिनकर Classical और Romantic पद्धतियों का सामंजस्य करना चाहते थे। दिनकर ने कहा कि इकबाल और टैगोर के बीच मेरी चेतना झूलती रहती थी। इसके अतिरिक्त एक अन्य घोषणा दिनकर ने की......"मेरे जानते उस समय सारे देश में एक स्थिति थी जो सार्वजनिक संघर्ष की स्थिति थी वह समय आया हुआ था जब कुछ दिनों के लिए वैयक्तिक कर्त्तव्यों के

निशान मिट जाते हैं। सबके स्थान पर कर्त्तव्य और सामूहिक अनुभूतियों का साम्राज्य छा जाता है। ज्यों-ज्यों मेरी कविताएँ जन-समुदाय को आन्दोलित करती गईं, मेरा यह आत्म-विश्वास जोर पकड़ता गया कि मैं समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बड़ा कार्य यह है कि मैं अपने युग के आक्रोश को, अधीरता और बेचैनियों को सबलता के साथ छन्दों मे बाँधकर सबके सामने उपस्थित कर दूँ" (चक्रवाल : भूमिका : पृ० ३१)। दिनकर ने समय और समाज के प्रति कविता के माध्यम से अपना दायित्व निर्वाह करने का प्रयत्न किया। उन्होंने जन-समुदाय के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्थापित की क्योंकि वे कविता को एक सामाजिक कर्त्तव्य-ज्ञान मानते हैं।

दिनकर की 'कुरुक्षेत्र' तक अपने युग से सम्पृक्ति रही। वह Romantic कविता से अलग है, "······वैसा कवि अवश्य बनना चाहता था जिसकी प्रेरणा उसके सामाजिक कर्त्तव्य-ज्ञान से आती है किन्तु विप्लव और राष्ट्रीयता का वरण कभी भी मेरा उद्देश्य न था" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० ३१.)*। सामाजिक कर्त्तव्य-ज्ञान से जो कवि प्रेरणा ग्रहण करता है वही कवि, कवि होता है। स्वप्नमयता से उनका काव्यानुभव ठोस रहा। साथ ही दिनकर इस ठोस काव्यानुभव को कविता की आत्मा की निरुपयोगी छवियों के साथ जोड़ देते हैं। "विज्ञान ने जो भी आविष्कार या अनुसन्धान किए है, उनसे मनुष्य की सृजनता नहीं, शक्ति की वृद्धि हुई है, क्रूरता नहीं, कठिनाइयों में कमी आई है। शरीर में जहाँ भी कोई धमनी, नाड़ी, रेशा या तार है, विज्ञान उन सबको जानता है किन्तु उसने कभी भी यह जानने की कोशिश नहीं की कि मनुष्य कवि क्यों होता है, वह नाचना और गाना क्यों चाहता है, तथा वह सांसारिक सुखों को लात मार कर रहस्यवादी और सन्त क्यों बन जाता है" *(चक्रवाल : भूमिका, पृ० ६४)*। अर्थात् कोई आत्मिक धर्म है जो वस्तु-जगत में चरितार्थ नहीं हो सकता। विज्ञान नहीं जानता कि कोई भी कवि, कवि क्यों है ? आत्मा का धर्म पहचानता है कि वह कवि है अतः रहस्यमयता इनके काव्य में छाने लगती है।

भाषा की सफाई, पौरुष, समय की समस्याओं के प्रति प्रतिबद्धता (उर्वशी को छोड़कर) उनकी कविताओं में है। दिनकर कुछ दूर तक अपने को Classical बनाना चाहते थे लेकिन उर्वशी में Romantic धारणाएँ हैं जिनसे काव्यानुभव निर्मित हुआ है। Romantic धारणा मानती है कि मानवीय धारणा होने के कारण दिनकर ने मनुष्य के गौरव का गान गाया है। यही गौरव-गान उन्हें Romantic धारणा के निकट ले आता है।

Classical धारणा परम्परा, धर्म को महत्त्व देकर व्यक्ति को सीमित मानती है जो कुछ भी सार्थक है वह उसके बाहर है। Classical धारणा के अनुसार मनुष्य कुछ नहीं। Romantic धारणा कहती है कि सब कुछ मनुष्य के भीतर है और भीतर से ही धर्म, सत्य, संस्कार, संस्कृतियाँ निकलती हैं। दोनों (Romantic-Classical) एक-दूसरे के विरोध में है उद्वेग निस्सीमता दिनकर-काव्य के तत्व हैं उनकी

कविता Romantic धारणाओं से बनी है। जहाँ दिनकर Classical का संयोग करना चाहते हैं वहीं गड़बड़ा जाते हैं।

Romantic धारणा प्रतिभा का विस्फोट मानती है। उसमें भावाकुल तन्मयता, उड़ान, स्फीति है जबकि Classical धारणा सामंजस्य, संयोग, संयम, मर्यादा मे विश्वास करती है। उर्वशी में एक धुंधले स्तर पर Classical प्रयास रहा है। दिनकर Classical दृष्टि से काव्यात्मा का निर्माण चाहते हैं किन्तु Romantic तत्व आ ही जाते हैं। ऐसा लगता है कि कविता दिनकर के कहने में नहीं है। अतः दिनकर की काव्य-धारणा और काव्य में मतभेद है। यही मतभेद उर्वशी में भी उभरा है। Classical और Romantic धारणाएँ उर्वशी में गाँठ की तरह जुड़ी हुई है।

उर्वशी मे शृंगार की स्वच्छन्दतावादी अभिव्यक्ति है। Romantic धारणा काम के स्रोत से जीवन के सार तत्व को उपलब्ध करती है। "जीवन में सूक्ष्म आनन्द, निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं-न-कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं" *(उर्वशी : भूमिका)*। निरुद्देश्य आनन्द चरम अर्थवत्ता प्रदान करता है। बहुतों ने इसकी व्याख्या की है जो सौन्दर्य निरुपयोगी होता है वही सांस्कृतिक होता है। सांस्कृतिक उपलब्धियों के केन्द्र मे ही काम विद्यमान होता है। काम व्यापक शब्द है। प्रश्न उठता है कि काम का स्वरूप क्या है ? आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'कामायनी' के प्रणेता, सरस्वती के वरद् पुत्र प्रसाद ने काम को सर्ग इच्छा का परिणाम घोषित किया—

> **"काम मंगल से मंडित श्रेय**
> **सर्ग, इच्छा का है परिणाम;**
> **तिरस्कृत कर उसको तुम भूल**
> **बनाते हो असफल भव धाम।"** *(कामायनी . पृ० ६१)*

यहाँ काम इच्छा-वासना का पर्याय है। मनुष्य मात्र में जितनी इच्छा हो सकती है प्रसाद का काम यहाँ उसका पर्याय है। इसलिए यह काम रतिभाव न होकर व्यापक धारणा का रूप ले लेता है। ईश्वर की इच्छानुसार सृष्टि का विकास होता है। प्रसाद ने जीवन के केन्द्र में जिस काम को स्वीकृत किया है वह विस्तृत है। दिनकर जिस काम को स्वीकार करते हैं "काम जन्य स्फुरणों, प्रेरणाओं और सुखों का जो अनन्त व्यापी प्रसार मनुष्य में है, वह कल्पनाहीन जन्तुओं में नहीं हो सकता और मनुष्यों में भी जो लोग पशुता से जितनी दूर हैं, वे काम के सूक्ष्म सुखों का स्वाद उतना ही अधिक जानते हैं।

कामजन्य प्रेरणाओं की व्याप्तियाँ सभ्यता और संस्कृति के भीतर बहुत दूर तक पहुँची हैं। यदि कोई युवक किसी युवती को प्रशंसा की आँखों से देख ले, तो दूसरे ही दिन युवती के हाव-भाव बदलने लगते हैं, उसे पोशाक और प्रसाधन में नवीनता की आवश्यकता अनुभूत होने लगती है। उसके बोलने, चलने और देखने में एक नई भंगिमा उत्पन्न हो जाती है" *(उर्वशी : भूमिका)*। दिनकर के काम का अर्थ है रतिभाव। प्रसाद की तरह उसमें व्यापकता नहीं। रति जीवन के केन्द्र में है जहाँ से दिनकर जीवन का

चरम अर्थ उपलब्ध करना चाहते हैं। रति > श्रृंगार के प्रति दिनकर की अभिव्यक्ति किस रूप में अभिव्यक्त हुई है? Classical काव्य-धारणा श्रृंगार की अभिव्यक्ति तृप्ति के धरातल पर करती है। जो तृप्त होता है वह संतुलित होता है। वह सदैव काम भाव से पीड़ित होकर अन्य कार्यों को बाधित नहीं करता। Romantic धारणा काम, श्रृंगार की उद्दाम अभिव्यक्ति तो करती है पर अतृप्त रहती है। Romantic काव्य में अतृप्ति की व्यंजना होती है। दिनकर के अनुसार काम की अतृप्ति की व्यंजना स्वाभाविक है और दिनकर उसके विरुद्ध थे। "यौन भावनाओं के सम्बन्ध में भी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि उनमें से अधिकांश कवि अतृप्त वासना से पीड़ित थे" (*चक्रवाल : भूमिका, पृ० १३*)।

उर्वशी जितनी बार संवाद बोलती है उतनी काम की तीव्रता, सघनता बढ़ी है। उसके संवादों से ऐसा लगता है कि वह अतृप्त है और अपनी काम-भावना को तृप्त करना चाहती है—

"अतिक्रमण सुख की तरंग, तन के उद्वेलित मधु का ?
तुम तो जगा रहे मुझमें फिर उसी शीत महिमा को,
जिसे टाँगकर पारिजात-द्रुम की अकम्प टहनी में
मैं चपलोष्ण मानवी-सी भू पर जीने आयी हूँ।

× × ×

पर, मैं बाधक नहीं, जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में
वक्षस्थल पर, इसी भाँति, मेरा कपोल रहने दो
कसे रहो, बस, इसी भाँति उर-पीड़क आलिंगन में
और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।" (पृ० ६३)

इस पूरे संवाद में आवेग के साथ सम्पृक्ति को व्यंजित किया गया है। यह सम्पृक्ति सघन है और इसमें पर्याप्त मांसलता है। इसमें वासना की उद्दाम और सघन अनुभूति का चित्रण है। उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर 'कामायनी' के वासना-सर्ग की स्मृति सहज ही मानस-पटल पर उभर आती है। उर्वशी के पाठ से हमारे सामने क्या बात आती है? जहाँ—

"रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।

× × ×

या वासक-सज्जा कोई फूलों के कुंज-भवन में
पथ जोहती हुई, संकेत स्थल सूचित करने को
खड़ी समुत्सुक पद्मरागमणि-नूपुर बजा रही है।" (पृ० ५७, ५८)

उर्वशी-पुरुरवा काम-भाव को तृप्त अथवा अतृप्ति की उद्दाम अभिव्यक्ति कर रहे हैं। यह श्रृंगार की अतृप्ति की कविता है। कविता में श्रृंगार की एक झनझनाहट हो रही है

जिसमें अतृप्ति का स्वर ही अपनी अभिव्यक्ति पा रहा है। Classical कवि अतृप्ति को तृप्त करता है। Romantic कवि के लिए अतृप्ति को तृप्त करने का सहारा चिन्तन होता है। प्रश्न उठता है कि क्या श्रृंगार का चिन्तनात्मक धरातल यहाँ नहीं है? यहाँ श्रृंगार को चिन्तन द्वारा रहस्यवादी दार्शनिक धरातल दिया जा रहा है। श्रृंगार मे चिन्तन अवरोध बन गया है। दिनकर एक रहस्यवाद खड़ा करना चाहते हैं। यह रहस्यवाद छायावाद की रहस्यमयता से थोड़ा रंग बदलकर आया है। आकार भेद है पर धातु वही है। भाव की अतृप्ति के साथ जब चिन्तन जुड़ जाता है तब वह Romantic धारणा का ही लक्षण होता है। रति-भाव जब ईश्वर से जुड़ता है तब रहस्यवाद में परिणत हो जाता है, देह से जुड़ने पर Romance एवं बुद्धि से जुड़ने पर Romanticism का रूप ले लेता है। इस प्रकार का चिन्तन दिनकर ने श्रृंगार के क्षेत्र में किया है इसलिए श्रृंगार की अभिव्यक्ति स्वच्छन्दतावादी (Romantic) है। उदाहरणार्थ—

> **"कौन है अंकुश! इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ**
> **पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है**
> **उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ**
>
> × × ×
>
> **आग है कोई, नहीं, जो शान्त होती;**
> **और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।**
>
> × × ×
>
> **रूप का रसमय निमन्त्रण**
> **या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि**
> **मुझको शान्ति से जीने न देती।"** (पृ० ४७)

इस प्रकार श्रृंगार का चिन्तनात्मक धरातल प्रस्तुत हो जाता है।

Classical धारणा अनुभव के क्षेत्र से सत्य को नहीं पहचानती जबकि Romantic धारणा पहचानती है। इसलिए Romantics में विद्रोह का और Classical में सामंजस्य का तत्व होता है। यानि अनुभव के माध्यम से सत्य का परिज्ञान हो सकता है। उर्वशी देहानुभव के सहारे क्या सत्य का ज्ञान नहीं दे रही? उर्वशी देह की अतृप्ति को तृप्त करने के लिए जो व्याख्यान देती है उससे प्रतीत होता है कि वह सत्य का ज्ञान दे रही है। श्रृंगार भावना के अनुभव के भीतर से सत्य निसृत हो रहा है और सत्य भी मांसल। चूँकि रति के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति होती है इसलिए यह श्रृंगार भावना बहुत कुछ Romantic धारणा हो गई है।

Romantic की श्रृंगार-चेतना द्वन्द्वमयी, बाधित होती है। श्रृंगार का मुक्त उपभोग रोमांटिक धारणा में नहीं हो सकता। पुरुरवा का श्रृंगारी मन द्वन्द्व-ग्रस्त व उद्विग्न है। Romantic श्रृंगार-भावना में कोई-न-कोई बाधित होता है। उर्वशी की श्रृंगार-भावना पुरुरवा के कारण और पुरुरवा उर्वशी के कारण बाधित है। अतः दोनो

चिन्तन करते हुए सनातन में विलीन हो जाते हैं। यह द्वन्द्व Romantic शृंगार-चेष्टाओं से सघन आसक्ति, स्फीति उत्पन्न करता है। भावाकुल-तन्मयता, सघनता, चाँदनी, जन्म-जन्मान्तर की बात, तीव्रता, स्फीति का होना यह सब Romantic कविता के लक्षण हैं। उर्वशी का कथन—

> **"किन्तु, आह! यों नहीं, तनिक तो शिथिल करो बाँहों को;**
> **निष्पेषित मत करो, यदपि, इस मधु निष्पेषण में भी**
> **मर्मान्तक है शान्ति और आनन्द एक दारुण है।"** (पृ० ६३)

तीव्रता के साथ-साथ भावाकुल तन्मयता की सघनता को उपस्थित कर रहा है। इसके अतिरिक्त आगे उर्वशी सघनता का अत्यन्त प्रीतिकर बिम्ब प्रस्तुत करती है—

> **"कुछ वृक्षों के हरित मौलि पर, कुछ पत्तों से छन कर**
> **छाँह देख नीचे मृगांक की किरणें लेट गयी हैं**
> **ओढ़े धूप-छाँह की जाली अपनी ही निर्मिति की।**
> **लगता है, निष्कम्प, मौन सारे वन-वृक्ष खड़े हों**
> **पीताम्बर उष्णीष बाँधकर छायातप-कुट्टिम पर।"** (पृ० ६४)

'मृगांक' > शब्द व्याख्या-सापेक्ष है। कवि ने इस शब्द को क्यों चुना? मृग का सम्बन्ध वन से है—वह एक जीवधारी है। लेटने का बिम्ब अनुभूति में आसानी से आ सकता है। चन्द्रमा की किरणें लेटने की अनुभूति को, मृगांक सघन प्रत्यक्ष बनाता है। मानवेतर उपादान को सजीव रूप प्रदान किया जाए इसके लिए मृगांक का प्रयोग हुआ। दूसरे मृग कोमल व निस्पृह प्राणी है उसके साथ पावनता व कोमलता की अर्थ-छवियाँ अनुस्यूत है। कवि यहाँ मृगांक का प्रयोग करता है। यह उसके शब्दों की पहचान का द्योतक है। मृगांक शब्द इस छन्द में उभरने वाली अनुभूति को रचता है। इस शब्द का प्रयोग बड़ा काव्यात्मक एवं व्यञ्जनात्मक है जिससे बड़ा ही प्रीतिकर बिम्ब उभर कर आया है। चन्द्रमा की किरणें पर्वत के वन-प्रदेश पर पड़ रही हैं। वे वृक्षों के हरे-भरे पत्तों व भाल पर है, कुछ पत्रों से छन कर नीचे आती हैं मानो विश्राम करने के लिए लेट गई हो। वन-प्रान्तर में धूप-छाँह की जाली बन गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाश और छाया की एक जाली बनी हुई है और वृक्ष उस जाली को ओढ़े हुए हैं जिसका निर्माण उन्होंने स्वयं किया है। काला + पीला से बना फ़र्श —पीताम्बर की पगड़ी बाँधे पेड़ खड़े हैं। यह बड़ा ही दृश्य-बिम्ब है। इसमें कई चीजें हमारे समक्ष आती हैं—निशीथ, रात्रि का समय है। यह सारा चित्र (बिम्ब) विस्तार को अनुभव के भीतर लाने के साथ-साथ निशीथ को अनुभव में लाता है एवं मौन की अनुभूति को प्रगाढ़ बना देता है।

इसके अतिरिक्त दो प्रेमियों की आक्रामक सक्रियता को यह प्रकारान्तर से ही चित्रित करता है। यह सारा बिम्ब निष्क्रियता निष्कम्पता और मौन की अनुभूति का है। यहाँ वातावरण की शान्ति और मानवीय रक्त की उद्वेलिता को एक साथ प्रकट किया गया है। सहृदय के चित्त को इसी प्रकार के प्रभाव-वलय घेरते हैं। ———— मौन व

शान्त है और मानवीय व्यापार सक्रिय एवं दारुण। इनमें आत्यांतिक विरोध है। दोनों का समानान्तर उपस्थापन कवि का संरचनागत अभिप्राय व्यंजित करता है जिसके कारण इस अंश का अनुभव और अर्थ अधिक सघन हो गया है।

एक झनझनाहट, स्नायुओं में जीना भी Romantic कविता के लक्षण हैं। तृतीय अंक में क्या विश्वास होता है कि वे शृंगारी भावना से तृप्त हो चुके हैं? शृंगार उनकी नसों में झनझना रहा है, तृप्त नहीं होता। शृंगार उनकी नसों में तृप्त होने को व्याकुल है।

Romantic प्रेम शृंगार को पूज्य मानता है। दिनकर ने 'चक्रवाल' की भूमिका मे कहा कि पूज्य नहीं होता किन्तु पृष्ठ ६९ (उर्वशी) पर जो बात कही गई है क्या वह प्रेम के प्रति पूजा का भाव नहीं है?

> **"प्रणय-शृंग की निश्चेतनता में अधीर बाँहों के**
> **आलिंगन में देह नहीं श्लथ, यही विभा बँधती है।**
> **और चूमते हम अचेत हो जब असंज्ञ अधरों को,**
> **वह चुम्बन अदृश्य के चरणों पर भी चढ़ जाता है।"** (पृ० ६९)

जिसे दिनकर नकारते हैं वही पूजा भाव इन पंक्तियों में विद्यमान है—

> **"देह मुक्ति, दैहिक प्रकाश की किरणें मुक्ति नहीं हैं,**
> **अधर नष्ट होते, मिटती झंकार नहीं चुम्बन की**
> **यह अरूप आभा-तरंग अर्पित उसके चरणों पर**
> **निराकार जो जाग रहा है सारे आकारों में।"** (पृ० ६९)

यहाँ भी प्रेम का दार्शनीकीकरण किया गया है—

> (१) **'मैं सनातन पुरुष तुम सनातन नारी'**
> (२) **'झंकार नहीं चुम्बन की।'**

यहाँ भी शृंगार का दार्शनीकीकरण है। यह सारी बातें Romantic धारणा की हैं। इस प्रकार दिनकर जिसका विरोध करते हैं उसी भावसरणि का निरूपण करते हैं। दिनकर की वाणी पौरुषमयी है जबकि Romantics की वाणी मे कोमलता होती है। इसलिए लगता है कि दिनकर Classical धारणा के निकट हैं।

Classical कवि परम्परा के अनुरूप धर्म की व्याख्या करता है। उर्वशी में कहीं-कहीं परम्परा के द्वारा दिनकर धर्म की व्याख्या करना चाहते हैं। उर्वशी जब मृत्युलोक मे आना चाहती है तब उसका रूप सनातन अप्सरियों से भिन्न होता है। उर्वशी की यह छटपटाहट इस लोक मे आने की है। दिनकर का कहना है कि समर्पण, त्याग और गार्हस्थ, विवाह के साथ प्रेम पावन बनता है। इस पावनता को स्वीकार करने के लिए उर्वशी स्वर्ग लोक छोड़ना चाहती है। तृतीय अंक के बाद औशीनरी, च्यवन और सुकन्या का जो रूप है उसके सहारे Classical प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। निष्कर्ष रूप मे दिनकर स्वच्छन्द प्रेम के समानान्तर Classical प्रेम की दे रहे हैं किन्तु

दोनों की टकराहट नहीं है जो विशेषकर तीसरे अंक में होनी चाहिए थी। दाम्पत्य परक-प्रेम और प्रणयी प्रेम की टकराहट न होकर अपने-अपने स्थान पर अलग-अलग रमणीय और पावन है। इसमें सन्देह नहीं कि उर्वशी मे विराट् की कल्पना है, आधुनिक भाव-बोध को भी दिनकर ने गरिमामय रूप देने का प्रयास किया है। कथ्य और शिल्प की कलात्मक एकरूपता का उर्वशी अद्भुत उदाहरण है। आधुनिक हिन्दी कविता में नया 'क्लासिक' काव्य होने पर भी यह कृति Romantic ही सिद्ध होती है।

□

काव्यरूप

आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य कामायनी है। आधुनिक प्रबन्ध काव्यों की श्रेणी में निश्चय ही कामायनी के पश्चात् विषय की प्रौढ़ता, शिल्प की गम्भीरता तथा साहित्यिक विशिष्टताओं के कारण उर्वशी का महत्त्व निर्विवाद है।

विवादास्पद कृति—उर्वशी पर काव्य रूप की दृष्टि से विचार करने पर हम तुरन्त एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते क्योंकि काव्य-रूप की दृष्टि से भी उर्वशी एक विवादास्पद कृति रही है। अन्ततः एक निष्कर्ष पर न पहुँचने का कारण कृति में प्रबन्धत्व तथा नाटकत्व दोनों का सम्मिलन है। एक ओर इसमें नाटक के कुछ तत्त्व अंकों का विभाजन, संवाद, शैली इत्यादि देखने को मिलते हैं दूसरी ओर प्रबन्ध में काव्य के लक्षणों का संयोग है। शास्त्रीय कसौटी पर नाटक और प्रबन्ध ये दोनों ही काव्य-रूप अपनी अलग-अलग मान्यताएँ रखते हैं।

महाकाव्य की कसौटी पर यदि उर्वशी की परख करें तो निश्चय ही कहना होगा कि दिनकर रचित 'उर्वशी' महाकाव्य के निश्चित मूल्यों में नहीं ढली अथवा ढाली गई। मानवता के व्यापक संदेश, विस्तृत चरित्र-चित्रण के कौशल, भावों की गम्भीरता तथा उदात्त और गरिमामयी शैली के कारण उर्वशी को खण्डकाव्य अथवा मुक्तक काव्य की सीमाओं में भी नहीं बांधा जा सकता। कथानक की आधार-शिला वैदिक आख्यान होने पर भी दिनकर ने कृति का नामकरण नायिका के नाम से किया किन्तु उर्वशी की भूमिका पर दृष्टि डालें तो—"इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्त्तन मेरा ध्येय नहीं रहा, मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है उर्वशी सनातन नारी की।" दिनकर के इस कथन के पश्चात् विचारणीय स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर ने नाममात्र को पौराणिक नामों को अपनाया है किन्तु उसका प्रस्तुतिकरण तथा विवेचन गम्भीर तथा सर्वथा नवीनता लिए हुए है। धीरोदात्त नायक की सीमाओं का अनुकूल तट बनने पर भी पुरुरवा में महाकाव्य के नायक-सा वह औदार्य, सत्त्व तथा गरिमा नहीं है जो महाकाव्य के नायक के लिए अपेक्षित है। पुरुरवा धैर्यशाली नृप, पराक्रमी, उद्भट वीर नहीं है वह तो मात्र कवि और प्रेमी के रूप में दिखाई देता है। सम्राट की सज्जित चमकीली जड़ाऊदार पोशाक तथा पराक्रमी वीर की प्रत्यंचा को दिनकर ने पृष्ठभूमि से बाहर नहीं आने दिया। कर्ममय जीवन के कण्टकित पथावरोधों को दूर करना तो दूर वह अपनी प्रेयसी उर्वशी को प्राप्त करने के लिए संघर्ष भी नहीं कर

सकता। ज्योत्सना के किरणजाल से झाँकते विधु की शीतल छाया में जब पुरुरवा गंध-मादन पर्वत पर उर्वशी के साहचर्य में अपनी मधु-चन्द्रिका मनाने जाता है तो अपनी सहधर्मिणी औशीनरी को छल-संवाद प्रेषित करता है। इन सब बातों और प्रसंगों से सहज ही निष्कर्ष निकलता है कि दिनकर ने पुरुरवा को पौराणिक संज्ञा के आवरण मे मात्र लपेटा है किन्तु उसका चरित्रांकन सहज मानवीय दुर्बलताओं से युक्त कर उसे महा-काव्योचित उदात्तता से दूर रखा। इस तथ्य के स्पष्ट आख्यान में एक विद्वान आलोचक ने भी अपनी बात कही, "उर्वशी में एक ही पुरुषार्थ काम का वैभव चित्रित हुआ है। अतएव काम के समुचित उपभोग एवं उसकी उत्साहवर्धक परिणति की सीमा के भीतर ही हम उर्वशी से शक्ति प्राप्त करने की बात सोच सकते हैं।" पुरुरवा की प्रव्रज्या हमे साहसिक प्रणयी भी नहीं बनने देती, नारी के सौन्दर्य एवं माधुर्य का उचित सम्मान भी नहीं करने देती। 'मृपावन्ध विक्रम विलास' का बंधन तो व्यर्थ ही हो गया। पुरुरवा के सन्सास ने न तो हमें विक्रमी बनने दिया, न प्रणयी अथवा प्रणयी की वांछनीय परिणति सद्गृहस्थ पिता ही। पुरुरवा भाग्य पर समस्त दोष आरोपित कर अपने दायित्व से पलायन कर गया है। अतः उसके आचरण से हमें शक्ति नहीं मिलती।

उर्वशी के कथानक में एकसूत्रता तथा एकतानता का अभाव है। सूत्रबद्ध तथा सुशृंखल कथानक न होने पर भी विचारों का संघर्ष घात-प्रतिघातों में उलझा रहता है, जो प्रबन्धात्मकता को एक सूत्र में उलझाए रखता है किन्तु सांगोपांग समग्र जीवन के चित्रण का अभाव इस कृति को महाकाव्य की सीमा से बाहर धकेल देता है। वस्तुतः उर्वशी की प्रबन्धात्मकता उसकी सहज अनुभूतियों से बंधी हुई है। कथानक ने गौण होने पर भी कवि के भावों तथा विचारों को गहनता देने के साथ-साथ ओजस्वी वाणी दी है। कथानक की इस सार्थकता के कारण ही दिनकर अपनी विचारधारा को खुलकर विशद् रूप में व्यक्त कर सके है। प्रबन्धकाव्य के लिए अपेक्षित कौशल प्रदर्शित करने के अवसर को दिनकर ने कलापक्ष को प्रधानता न देकर अस्वीकार कर दिया। उर्वशी के विचार-स्रोत के मूल उद्गम को व्यापक फलकाधार देने वाले वस्तु-विधान में अन्विति की कमी है। विचार के अन्वय क्रम में अन्विति के अभाव ने कला-रूप की अन्विति को भी भंग कर दिया है। अपने दृष्टि-पथ मे कवि यदि यथार्थ को अपनाकर चलता तथा द्वन्द्व को ही अन्तिम सत्य की कसौटी स्वीकार कर लेता और पुरुरवा को संन्यास के मार्ग पर प्रशस्त कर प्रणय कथा का पटाक्षेप कर देता तब भी कला रूप में अन्विति के साथ-साथ एक-पूर्णता की इकाई बनी रहती किन्तु राष्ट्रीय कवि दिनकर के आदर्शवादी संस्कार उसके व्यक्तित्व पर हावी है। यही आदर्शवादी संस्कार उसकी लेखनी के माध्यम से कोई समाधान प्रस्तुत करवाने के आकुल और विफल प्रयास में लगे रहते हैं। "इससे जहाँ उर्वशी की सुन्दर कला-प्रतिमा में पूर्ण होते-होते दरार पड़ जाती है, वहाँ दूसरी ओर सहृदय पाठक के चित्त की संहिति भी बिखरने लगती है" *(डॉ० सावित्री सिन्हा. दिनकर डा० नगेन्द्र का उर्वशी शीर्षक निबन्ध)*

रसात्मकता की दृष्टि से उर्वशी में वीर और करुण का सर्वथा अभाव है। मूलतः दिनकर का व्यक्तित्व द्वन्द्वमय है अतः उर्वशी में एक रस की आद्यन्त व्यंजना करना उनके व्यक्तित्व के प्रतिकूल है। श्रृंगार और शान्त दो रसों का निरूपण होने के कारण कृति मे आद्यन्त एक ही रस की अखंड धारा प्रवाहित नहीं है अतः उर्वशी को महाकाव्य की सीमाओं में हम नहीं रख सकते। यहाँ दिनकर के शब्दो को उद्धृत करना अधिक उपयुक्त होगा "महाकाव्य तभी लिखा जाता है जब युग की अनेक विचारधाराएँ वेग से बहती हुई किसी महासमुद्र में मिलना चाहती है तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है जो कवि उनके महामिलन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है" *(दिनकर : अर्द्धनारीश्वर, पृ० ४६)*। संक्षेप में, महाकाव्य नये युग की समग्र चेतना, उसके ताप, उसकी व्यथा एवं उसकी आशा का दर्पण होता है जो मनुष्य के मथने वाले प्रश्नों का समाधान भावना के धरातल पर प्रस्तुत करता है। ''''''उर्वशी में ऐसा कुछ नही है। समग्रता में जीवन की व्याख्या की तो बात ही दूर है, अनेक विचारधाराओं के वेगवन्त प्रवाह की कोई झाँकी भी नहीं है। महाकवि युग के ताप को चीरकर निकलता है, संघर्ष से जूझता है, उसके काव्य में संघर्ष की विकलता रहती है। उर्वशी के कथानक में इस मापक कैनवास (Canvas) का प्रश्न ही नही उठता। "हाथी-दाँत पर एक छोटी-सी खूबसूरत तस्वीर अवश्य बनाई जा सकती है पर निश्चय ही उसमें अजन्ता और एलोरा की गुफाओं की विराट्ता और विविधता नही आ सकती। 'उर्वशी' में कहीं-कहीं अवश्य ही श्रेष्ठ काव्य की गरिमा है, किन्तु महाकाव्य की उदात्तता, व्यापकता, गाम्भीर्य और स्थापत्य का निर्वाह नहीं हो पाया है, द्विधाग्रस्त मनुष्य की आकुलता का बेजोड़ चित्रण है किन्तु द्विधा की कुहा को चीर कर समाधान की खुली धूप नहीं है" *(प्रो० विजयेन्द्र नारायणसिंह : उर्वशी उपलब्धि और सीमा)*।

कुछ विद्वान उर्वशी को गीतिनाट्य की संज्ञा देते हैं। समस्त वस्तु-विकास की प्रक्रिया का वहन पात्रो के संवाद करते हैं। सर्ग के स्थापन्न अंक है। कवि का निर्देश भी महाकाव्य की सर्ग-संख्या की ओर न होकर नाटक की अंक-संख्या की ओर ही है। यत्र-तत्र कवि ने रंगमंच को ध्यान में रखकर अभिनय के रंग-संकेत भी गद्य में लिखे हैं। इस कारण हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नगेन्द्र आदि उर्वशी को गीतिनाट्य सम्बोधित करते हैं।

इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया के अक्टूबर १९६१ के अंक में एक आलोचक उर्वशी के काव्यत्व और काव्यरूप के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते है—"श्री रामधारीसिंह दिनकर द्वारा रचित निकट भूत में ही प्रकाशित उर्वशी एक गीतिनाट्य है। यह एक अद्भुत एवं श्रेष्ठ कृति है जो कवि के निरन्तर आठ वर्ष के चिन्तन एवं साधना का परिणाम है तथा जो उसके हिन्दी-भाषा सम्बन्धी असाधारण ज्ञान एवं क्षमता को प्रकट करती है।" एक ओर समालोचक यदि उर्वशी को गीतिनाट्य की संज्ञा देकर अदभुत एवं श्रेष्ठ कृति सिद्ध करते हैं तो दूसरी ओर डॉ० कृष्णदेव शर्मा के

अभिमत में "गीतिनाट्य के रूप में उर्वशी एक शिथिल और विशृंखल रचना है, जिसका गीति (काव्य) पक्ष तो प्रबल है किन्तु नाट्य पक्ष कमजोर। दोनों में वांछित समन्वय न हो पाने के कारण रूप-विधा की दृष्टि से यह असफल सिद्ध होती है। डॉ० राजपाल शर्मा भी उर्वशी को सफल गीतिनाट्य न मानकर संवादात्मक पद्य-नाटक स्वीकार करते हैं। उनके विचारानुसार—"उर्वशी को सफल गीतिनाट्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें न तो मंच-प्रवचन का निर्देश मिलता है और न प्रथम अंक के अतिरिक्त संगीत और नृत्याभिनय को ही स्थान दिया गया है। उसमें दिए गए चित्रों से मंच-सज्जा में सहायता अवश्य मिल सकती है। उर्वशी के प्रथम दो अंकों के तुकान्त तथा परवर्ती अंकों के अतुकान्त संवादों को पद्य या काव्य की श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है, गीतों में नहीं। इसलिए गीतिनाट्य के स्थान पर संवादात्मक पद्य-नाटक कहना ही संगत है।

श्री नरेन्द्र शर्मा उर्वशी को पद्य-रूपक या संवाद-काव्य स्वीकार करने पर भी इसे सफल दृश्य-काव्य मानने की दिशा में शंकित है। उनके मत में भी उर्वशी में काव्य की अपेक्षा नाटकीयता का अभाव है।

उर्वशी का प्रारम्भ दिनकर ने 'रेडियो रूपक' लिखने के उद्देश्य से किया था। इस तथ्य को उन्होंने डॉ० रणवीर रांग्रा से एक साक्षात्कार में स्वीकार किया किन्तु प्रथम अंक की रचना के बाद रेडियो-रूपक लिखने की सम्भावनाएँ धूमिल हो गई और दिनकर ने उसे संवाद-काव्य का रूप दे दिया। डॉ० रणवीर रांग्रा के समक्ष दिनकर ने स्वीकार किया कि "शायद आपका सोचना ठीक हो कि अंक बद्ध होने के बदले काव्य यदि सर्ग-बद्ध हुआ होता तो मुझे स्वतन्त्रता अधिक रहती" (डॉ० रणवीर रांग्रा : *सृजन की मनोभूमि*)।

श्री कुमार विमल उर्वशी के रचना-विधान पर अपना मत प्रस्तुत ही नहीं करना चाहते क्योंकि उर्वशी के काव्य-रूप के विषय में चिन्तन खतरे से खाली नहीं। उनके शब्दों में "रचना-विधान की दृष्टि से 'उर्वशी' क्या है—इसका उत्तर देना सरल नहीं है, कारण यह अंकों में विभाजित है किन्तु कथोपकथन की वांछित नाटकीयता से बहुत दूर है। दूसरी ओर यह प्रबन्ध काव्य के गुणों से भरपूर है किन्तु इसका विभाजन सर्गों में नहीं हुआ है।"

डॉ० सावित्री सिन्हा उर्वशी को नाटक और कविता दोनों रूपों में स्वीकार करती हुई लिखती हैं—उर्वशी नाटक भी है और कविता भी। नाटकीय विधान में नियोजित प्रबन्ध तत्त्व की अपनी परिसीमाएँ होती हैं। कवि अथवा नाटककार के प्रत्यक्ष वक्तव्य के लिए उसमें अवकाश नहीं होता पात्रों के संवाद और कार्य ही विचारों और भावनाओं के व्यंजक होते हैं। उर्वशी की विधा की इस परिसीमा के कारण कहीं-कहीं

तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है। गीतिकार की वृत्ति अधिकाधिक आत्मपरकता में पगी होती है जबकि नाटककार की वृत्ति अधिकाधिक वस्तुपरकता में रमती है। डॉ० निर्मला जैन के कथनानुसार—"गीतिकार की वृत्ति अधिकाधिक आत्म-केन्द्रित, भाव-प्रवण व अन्तर्मुखी होती है तथा नाटककार का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ, इतिवृत्तात्मक और बहिर्मुखी होता है।" अलग-अलग दो भिन्न धाराएँ जब आकर एक बिन्दु पर मिलती हैं, दोनों विधाओं का मूल दृष्टिकोण और सृजन-प्रक्रिया में जब संयोग की स्थिति आती है तब एक बिन्दु से मिलकर चली दोनों विधाओं में एक अनोखा विरोधजन्य चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

गीति तथा नाटकीयता के संयोग से प्रसूत गीति-काव्य की भावमयता में नाटकोचित संघर्ष के मिलने से कार्य की रंगस्थली परिवर्तित हो जाती है और गीति-नाट्य में अनिवार्यत: बाह्य-संघर्ष के स्थान पर अन्त:संघर्ष का प्राधान्य होता है। एक भावना के दूसरी भावना से टकराने पर आन्तरिक उथल-पुथल, अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है—यही आन्तरिक संकट अन्त:संघर्ष है। नाटक और गीति-नाट्य में मात्र माध्यम का अन्तर नहीं; दृष्टिकोण और शैली भी गीति-नाट्य को नाटक से विभाजित करती है। अनिवार्यत: पद्यबद्ध काव्यरूप को ही हम गीति-नाट्य कहेंगे। गीति-नाट्य दृश्य काव्य की सभी विशेषताओं को आत्मसात किए होता है जिसके अन्दर कवि का मूल दृष्टिकोण भाव प्रवण तथा उसका कार्य-व्यापार, संघर्ष बाह्य न होकर आन्तरिक होता है तथा उसमे लययुक्त गीतिमय संवादों का विधान होता है। आलोच्य कृति उर्वशी भी इन्हीं सब विशेषताओं से युक्त नाटकीय शैली में रचित गीति-नाट्य ही है।

कथानक—गीतिनाट्य का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रख्यात अथवा काल्पनिक किन्हीं भी सूत्रों में पिरोया जा सकता है। कथानक के धरातल का स्वरूप घटनात्मक एव वस्तुप्रधान न होकर भावात्मकता की रेखाओं से बँधा हुआ होता है। आलोच्य कृति 'उर्वशी' में दिनकर ने पुरुरवा और उर्वशी नामक वैदिक नर-नारी के काम और अध्यात्म के संघर्ष और द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाट्य-काव्य का कवि सम्भवत: प्रारम्भ मे कथानक की विकास-प्रक्रिया के प्रति उतना आगरूक नहीं दिखाई पड़ता जितना उसे होना चाहिए था बल्कि वह प्रेम की समस्या को निरूपित करने में ही उलझा रहा। इसी कारण प्रेम की समस्या पर गम्भीर होकर विचार करने की अपेक्षा सभी पात्रों के उससे पूर्व प्रेम-सम्बन्धी संघर्ष और उसके अन्तर्द्वन्द्व को तृतीय अंक में स्पष्ट करना अधिक उचित और महत्त्वपूर्ण समझा। 'कुरुक्षेत्र' के पृष्ठों पर आकर जिस प्रकार कवि स्वयं युद्ध की समस्या को पाठक के समक्ष रखता है ठीक उसी प्रकार उर्वशी के पृष्ठामंच पर आकर अप्सराएँ प्रेम के प्रति तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। इसके अनन्तर द्वितीय अक में पुरुरवा की सहधर्मिणी औशीनरी तथा उसकी सखियाँ प्रेम के द्वितीय पक्ष की प्रतिस्थापना कर देती है। तृतीय अंक में समस्या का रूप गहन और व्यापक हो जाता है समस्या की गम्भीरता व व्यापकता के धरातल पर समाधान की अपेक्षा अपना अभाव

चाहती है, इसी समाधान के अन्वेषण में कवि संवाद-योजना को विकसित करता है। द्वन्द्वमय व्यक्तित्व के धनी दिनकर की प्रकृति समस्या तो प्रस्तुत कर देती है किन्तु उस समस्या का समाधान देना नहीं जानती। तृतीय अंक इस दृष्टि से केन्द्रीय रंग-स्थल बन जाता है। कथा का अंत बड़ा उलझा हुआ है कोई स्पष्ट समाधान नहीं मिलता। कवि स्वयं नए-पुराने संघर्षों में उलझा जाता है। समस्या के प्रबल होने पर मूल कथानक का उपेक्षित होना स्वाभाविक हो जाता है। समस्या पर ध्यान केन्द्रित होने से कथानक का सामंजस्य कुछ शिथिल हो जाता है। डॉ० सावित्री सिन्हा उर्वशी के वस्तु-विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं—"प्रथम अंक में प्रेम-समस्या की स्थापना होती है, द्वितीय अंक में उसको गति मिलती है, तृतीय अंक में समस्या सार्वभौमिक रूप मे प्रस्तुत की जाती है चतुर्थ अंक का नाम उन्होंने विकास दिया है और पंचम अंक में चरम-सीमा तथा निगति की स्थिति मानी है।"

चरित्र-चित्रण—गीति-नाट्यों में प्रायः पात्रों की अधिकता नहीं होती। कार्य-व्यापार के कर्त्ता अथवा भोक्ता के रूप में पात्रों का चित्रण नहीं होता। वे सूत्रधार के रूप में हमारे सामने न आकर वक्ता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। वे अपने भावों और विचारों के संवाहक होते हैं और कवि उन पात्रों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों और अन्तःसंघर्ष को व्यक्त करता है। अतएव चारित्रिक विशेषताओं का अभिज्ञान व चरित्र-विश्लेपण की क्रिया में कार्य-व्यापार निहित न होकर कथोपकथन निहित होता है। उर्वशी में पुरुष-पात्रों की संख्या मुख्यतः दो है—पुरुरवा और च्यवन। वेद-पुराणादि के अमर पृष्ठों पर उर्वशी का नायक पुरुरवा सुप्रसिद्ध एवं प्रतापशाली धीर राजर्षि है। उसकी धीरोदात्तता विवाद रहित है—

> **"नहीं बढ़ाया कभी हाथ, पर के स्वाधीन मुकुट पर**
> **न तो किया संघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को**
> **तब भी प्रतिष्ठान पुर वंचित है सहस्र मुकुटों से**
> **और राज्य सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है।"** (पृ० ४५)

प्रबन्ध काव्य के नायक होने की सामर्थ्य पुरुरवा में है। दूसरा पुरुष-पात्र च्यवन रंगमंच पर प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं होता। सुकन्या के कथनों के माध्यम से च्यवन का चरित्र उभरता है। स्त्री-पात्रों में प्रमुख रूप से नायिका उर्वशी, पुरुरवा की अर्द्धांगिनी औशीनरी तथा सुकन्या है। अन्य अलौकिक अप्सराओं का उल्लेख गौण रूप से हुआ है। उर्वशी स्वर्गीय सौन्दर्य की अछूती अनुपम प्रतिमा है। उसकी देह के रोम-रोम में स्वर्गिक अनुभूतियों का साम्राज्य है। स्वर्गिक सुषमा से मण्डित उर्वशी नारीत्व के समस्त गुणों की खान है। अलौकिक दिव्यता से विभूषित देव के चन्दन कानन की पूर्ण यौवना कली के अग-अंग से यौवन-रस छलका-सा पड़ता है। दिव्य कान्ति की अनुपमेय ज्योति-सी उर्वशी स्वच्छन्द प्रेमिका सहज मानवीय गुणों से प्रभावित स्त्री, ममता की पर्याय, माँ और चिर विरहिणी के रूप मे उर्वशी का चरित्र समग्रता को किए हुए

है। औशीनरी और सुकन्या के चरित्र को दिनकर ने भारतीय सद्गृहिणी के आदर्श रूप में प्रतिस्थापित किया।

संवाद—उर्वशी प्रेम सिद्धान्तो को प्रतिस्थापित करने वाली संवादात्मक विवृत्ति है। संवादों के आश्रय में ही कवि अपने आपको तटस्थ और विवाद से बचाए रख सकता है। किसी न किसी पात्र के आवरण में छिपा हुआ कवि ही उसके माध्यम से अपनी भावाभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। उर्वशी का प्रारम्भ ही संवादों से होता है। उर्वशी के प्रारम्भिक संवादों में काव्यात्मकता के साथ-साथ कौतूहल भी है। अप्सराओं के प्रारम्भिक सवादों के पश्चात् द्वितीय अंक में दिनकर ने बड़े सहज वातावरण में पुरुरवा की सह-धर्मिणी औशीनरी और मदनिका का सहज वार्त्तालाप प्रस्तुत किया है। औशीनरी और मदनिका के संवादों मे काव्यत्व नहीं है। औशिनरी को अपने पति के प्रणय-प्रसंग की कथा ज्ञात हो जाती है जिससे उसके संवाद और मदनिका के साथ वार्त्तालाप में विरह की व्यथा फूट पड़ी है। मदनिका पुरुष की प्रकृति तथा भ्रमर-वृत्ति पर तीव्र कटाक्ष और व्यग्य करती है। उर्वशी के प्रारम्भिक संवादों की भाँति यद्यपि द्वितीय अंक के संवादो मे वह स्वच्छन्दता और काव्यात्मकता देखने को नहीं मिलती फिर भी विरह-व्यथा की तपन के कारण इन सहज संवादो में व्यंग्यात्मकता और वेदना की तीव्रता के साथ-साथ भावानुसार व्यंजना भी निहित है जो परिस्थिति को अधिक गम्भीर और संवेद्य बनाने मे योग देती है। तराजू के दो पलड़ों में अप्सरा और मानवी भावनाओं का तुलनात्मक विवेचन भी हुआ। तृतीत अंक के संवादों में प्रेम-संलाप तथा सम्मिलन के मादक क्षणो की अनिर्वचनीय स्वर्गिक अनुभूतियों के कथनों को ही मुख्यता प्राप्त हुई। इन प्रेम-सलापों मे प्रेम के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष को सामने रखकर कुछ गम्भीर विवेचनाएँ करने के साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक स्थापनाओं को स्थापित करने का अवसर भी कवि ने दिया। विषय को दृष्टिपथ में रखें तो कहना होगा कि ये प्रेम-संलाप अत्यन्त व्यापक धरातल को प्रस्तुत करते हैं दूसरी ओर नाटकीय दृष्टि से ये संवाद अत्यन्त दीर्घता की सीमाओं से बद्ध हैं। नाटकीयता के अभाव को लक्षित करके ही डॉ० देवीशंकर अवस्थी ने उर्वशी के तृतीय अंक के आठ-आठ दस-दस पृष्ठों के लम्बे अनाटकीय संवादों पर तीखा प्रहार किया। "पढ़ने-पढ़ते ऐसा लगता है कि सामने माइक्रोफोन रखा है और आमने-सामने दो चोटियों पर उर्वशी और पुरुरवा खड़े होकर अपने ध्वनि विस्तारक यंत्रो पर धारा प्रवाह बोलते चले जा रहे हैं और आवश्यकता पड़ जाती तो कामाध्यात्म पर ही नहीं देशभक्ति और राष्ट्रीय संकट पर भी इसी गति से बोलते जाते हैं" *(कल्पना जनवरी १९६४, पृ० ६८)*।

डॉ० विमल कुमार जैन का अभिमत डॉ० देवीशंकर अवस्थी से सर्वथा विपरीत है। उर्वशी के कथोपकथनों के विषय में उनकी धारणा है—"उर्वशी के कथोपकथनों मे एक विशेषता यह है कि कथा का तारतम्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त भाषा के मदिर प्रवाह शब्दो की सुन्दर योजना तथा रसानुकूल ने उनमें एक मुखरता,

विचित्र चित्ताकर्षकता एवं सजग सजीवता ला दी है। कुछ स्थल तो इतने मनोरम है कि रस की सरिता में आशिख निमग्न रहने को जी चाहता है।

गति और तीव्रता होने के कारण संवादों में एक मुक्त प्रवाह है। ऐसा लगता है कि काव्य और दर्शन के बीच संवादों की एक धारा प्रवाहित है। कभी ये संवाद काव्य के तटों का स्पर्श करते है और कभी दर्शन के आश्रय में जा ठहरते हैं। गीति-नाट्य की दृष्टि से चतुर्थ और पंचम अंक पर विचार करने पर संवादों में सफलता असंदिग्ध है। चतुर्थ और पंचम अंक के संवादों में सरलता और मर्मस्पर्शिता का पुट भरा हुआ है। वे दार्शनिकता से बोझिल नहीं है। उनमें हृत् तन्त्रियों को हौले से झंकृत करने की अपूर्व क्षमता है।

शैली-शिल्प—"गीति-नाट्य मूलतः प्रबन्ध और प्रबन्ध का नाट्य रूप है अत. उसकी भाव-संगठना में अन्विति अनिवार्य है" *(डॉ० निर्मला जैन : आधुनिक हिन्दी काव्य मे रूप विधाएँ, पृ० ३६३)*। इसमें गीति-काव्य की विशेषताएँ भी सन्निहित होनी चाहिए। "उर्वशी काव्य पांच अंकों में विभक्त है। अंक दृश्यों में विभक्त है। यद्यपि दृश्यों का नामांकन और क्रमांकन तो नहीं है तथापि उसमें वर्णित वस्तु की काल-स्थान आदि के द्वारा सूचना दी गई है। जैसे—राजा पुरुरवा की राजधानी, प्रतिष्ठानपुर के समीप एकान्त पुष्प कानन; शुक्ल पक्ष की रात; नटी और सूत्रधार चाँदनी में प्रकृति की शोभा का पान कर रहे हैं।"

प्राचीन नाट्य शैली में सूत्रधार और नटी का विधान है जो नाटक को समारम्भ करते हैं। उर्वशी में काव्यारम्भ भी सूत्रधार और नटी ही करते हैं। सूत्रधार और नटी के विधान के अतिरिक्त यथास्थान कहीं 'आना', 'जाना', 'पहुँचना', 'प्रवेश करना' इत्यादि निर्दिष्ट क्रियाओं का विधान भी उर्वशी में है। जैसे (क) 'बहुत-सी अप्सराएँ नीचे उतर रही हैं'; (ख) 'एक अप्सरा गुनगुनाती हुई उड़ी आ रही है'; (ग) 'चित्रलेखा आ पहुँचती है'; (घ) कंचुकी का प्रवेश'। पात्रों के प्रस्थान का उल्लेख भी उर्वशी मे किया गया है। 'नेपथ्य'; 'आकाशभाषित' का निर्देश भी उर्वशी में दृष्टिगत किया जा सकता है। चन्द्रकुल का प्रारब्ध नेपथ्य से उच्चारित होता है, वह प्रत्यक्ष रंगमंच पर उपस्थित नहीं होता तथा राजा के कर्ण-कुहरों से एक ध्वनि ही टकराती है जो आकाश-भाषित के समान है। रंगमंच की स्थापना भी 'जहाँ पर पड़े हुए हैं' एक ओर 'पुरुरवा का निष्क्रमण और दूसरी ओर महारानी औशीनरी का प्रवेश' सूच्य बातों को गद्य मे कोष्ठकों में दिया गया है। औशीनरी के निम्नांकित कथन से भरत-वाक्य की संयोजना हुई—

> **"कितना मधुर स्वप्न, कैसी कल्पना चन्द्र महिमा की**
> **नारी का स्वर्णिम भविष्य जाने वह अभी कहाँ है**
> **हमको चली भोग उसको जो सुख-दुःख हमें बदा था**
> **मिले अधिक उदार युग आने की समता करे।"** (पृ० १६५)

उद्देश्य—इस लौकिक हाड़-मांस के जगत में सफलता और विफलताओं का दौर मानव जीवन की नियति है। सांसारिक प्रेम में विफल होने पर आध्यात्मिक प्रेम मे उत्कर्ष दिखाना ही उर्वशी काव्य का मूल है। "इसमे उत्तप्त प्रेम, त्यागमय प्रेम तथा पूर्ण परिपक्व प्रेम की झाँकी हमें उर्वशी, औशीनरी एवं सुकन्या के प्रेम में उपलब्ध होती है। राजा का संन्यास ग्रहण करना उत्तप्त प्रेम की विकलता एवं निस्सारता का ही परिणाम है। इस काव्य का मूल उद्देश्य भी इसी के स्वरूप का प्रदर्शन है" *(डॉ० विमलकुमार जैन)*। डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' के अभिमत में दिनकर ने काव्य के इसी मूल उद्देश्य को प्रकट करने के लिए "कवि ने गीति-नाट्य पद्धति का सहारा लिया है और पूरे ग्रंथ को पाँच अंकों में विभाजित किया है।"

सारतः, यदि कहना चाहें तो कवि 'उर्वशी' के काव्य-रूप के सम्बन्ध मे दुविधाग्रस्त प्रतीत होता है। गीति-नाट्य के रूप में काव्य का समारम्भ तो कवि कर लेता है किन्तु उसको प्रबन्ध के साँचों में ढालने का असफल प्रयास करता है। यदि कवि का अभीष्ट काव्य-नाटक लिखना था तो भी संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति अभिनेय एवं पाठ्य नाटक की मध्यवर्गीय प्रतीत होती है। उर्वशी की अभिनेयता के प्रति कवि की जागरूकता सचेष्ट नहीं रही वह अपनी कृति को पाठ्य रूप में प्रस्तुत कर ही संतुष्टि का अनुभव करता है। अभिनेय रूप की तुलना में कृति का पाठ्य रूप अधिक स्वच्छन्द होता है जिसे प्रबन्ध के रूपों में सम्मिलित किया जा सकता है। यदि उर्वशी के काव्यरूप पर गम्भीर होकर सोचें तो मैं उर्वशी को प्रबन्ध-तत्त्वों से समन्वित एक पाठ्य गीति-नाट्य की संज्ञा दूँगा। इसकी रचना शुद्ध नाटक अथवा प्रबन्ध की दृष्टि से नहीं की जा सकती। वस्तुतः नाटक भी एक तरह का प्रबन्ध ही है, नाटक और प्रबन्ध की कतिपय विशेषताओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं होता। नाटक सर्गों के स्थान पर अंकों में विभाजित होता है। नाटक के वस्तु, नेता, रस आदि प्रमुख लक्षण भी प्रबन्ध की धारा पर अनिवार्य हैं। दृश्य काव्य, शिल्प की दृष्टि से ही प्रबन्ध काव्य से विशिष्टता प्राप्त कर अलग हो जाता है।

इस पर्यालोचन से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि यह काव्य मूलतः एक नाटक तो है क्योंकि इसमें नाटक के प्रायः सभी लक्षण उपलब्ध होते हैं परन्तु गीतात्मक होने तथा इसमें बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक द्वन्द्व की प्रधानता होने से नाटक कहा नही जा सकता वरन् इसे गीति-नाट्य कहना ही समीचीन है। नाट्य शैली के अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ गीतिबद्ध है अतः गीति-नाट्य के सभी लक्षण हमें इसमें उपलब्ध होते हैं। इसमें संगीत और काव्य का समन्वय है वहीं दृश्य और श्रव्य काव्य का आनन्द भी समवेत ही उपलब्ध होता है" *(डॉ० विमलकुमार जैन)*। मैं पुनः डॉ० विमलकुमार जैन के विचारों को प्रस्तुत करना चाहूँगा "कवि ने गीत एवं काव्य तथा दृश्य एवं श्रव्य दोनो का समन्वय कर एक अत्यन्त दुष्कर कार्य को बड़े ही कलापूर्ण एवं विलक्षण ढंग से सम्पादित कर समाज को समर्पित किया है। वास्तव में यह प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है। उर्वशी का यह अपनी पूर्ण कला के साथ विकसित हुआ है तथा अपनी पूर्ण विभा के साथ

विभासित हुआ है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। 'उर्वशी' से पूर्व रचित गीति-नाट्यों से तुलना करने के पश्चात् डॉ० विमलकुमार जैन ने अपना सूक्ष्म तुलनात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किया। उनके ही शब्दों में—"इस सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीति-नाट्य परम्परा में उर्वशी एक उच्चकोटि का काव्य है। वास्तव में कवि ने बड़ी साधना के पश्चात् इसका निर्माण किया। यद्यपि विश्व कवि महामहिम कालिदास से प्रेरणा लेकर दिनकर जी ने उर्वशी को दृश्य के रूप में निर्मित किया तथापि इतना हम अवश्य लिखना चाहेंगे कि विक्रमोर्वशी की भाँति उर्वशी के भी कुछ स्थल अत्यन्त रमणीय हैं।"

अन्ततः चिन्तन-मनन की कसौटी पर गम्भीरता से सोचने के बाद निष्कर्ष सूत्र के रूप में मेरा यही कहना है कि 'उर्वशी' को यदि शैली की दृष्टि से परखा जाए तो यह नाटक है और यदि उसे वस्तु विधान की दृष्टि से विश्लेषित किया जाए तो यह प्रबन्ध है। अतः दिनकर का यह नया प्रयोग अभिनन्दनीय एवं स्वागत योग्य है। हिन्दी साहित्य के लिए यह गौरव का विषय है कि दिनकर की इस कृति का समुचित आदर भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार से हो चुका है। दिनकर की प्रबन्ध तत्वों से समन्वित गीति-नाट्यात्मक यह कृति उनकी महती उपलब्धि और प्रतिष्ठा की प्रतीक है जो उनके महत्त्व को अक्षुण्ण रखेगी।

□

एक कण्ठ विषपायी

●

- ☐ नया भाव-बोध
- ☐ कथा-भूमि
- ☐ मूल्यों का अन्वेषण
- ☐ पात्र-परिकल्पना
- ☐ शिल्प-पक्ष की बनावट
- ☐ रंगकौशल
- ☐ आक्षेप एवं मूल्यांकन

एक कण्ठ विषपायी

श्रीमद्‌भागवत पुराण के चतुर्थ स्कन्ध के दूसरे से सातवें अध्याय को आधार बनाकर दुष्यन्त कुमार ने अपने काव्य-नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' की रचना की। श्रीमद्‌भागवत पुराण की कथानुसार दक्ष अपने दामाद से मान-सम्मान न मिलने से रुष्ट होकर क्रोधोन्माद की स्थिति से विवश हो उसे शापित कर देता है। शंकर के मौन रहने पर नन्दी सम्पूर्ण ब्राह्मणों को शाप की रेखाओं से बाँध देते हैं। दूसरी ओर यही मार्ग भृगु शंकर के भक्तों के लिए अपनाते हैं। ब्रह्मा द्वारा प्रजापतियों का नृप घोषित होने के बाद दक्ष यज्ञ की संयोजना करता है एवं यज्ञ के आयोजन में शंकर और सती को आमन्त्रित नहीं करता। पार्वती के यज्ञशाला में एकाकी पहुँचने पर अपमान के व्यंग्यात्मक स्वर उसके स्वाभिमान और सम्मान को अस्थिर करने का प्रयास करते हैं, पार्वती अपमान की असहनीय तपन को सहन करने में असमर्थ हो, अग्नि के गर्भ में समा जाने को विवश हो जाती है। पार्वती के अग्नि में कूदने के पश्चात् शिव का क्रोधान्मादी रूप प्रकट होता है और वीरभद्र आदि के नेतृत्व में शिव सैन्यबल संहार की ताण्डव लीला का आह्वान करते हैं। दूसरी ओर, ब्रह्मा शंकर के क्रोध को शान्त कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। यज्ञ की पूर्ति के लिए दक्ष के सिर पर बकरे का सिर लगा दिया जाता है।

नया भाव-बोध—अन्धायुग की ही शैली पर दुष्यन्त कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी' (१९६३) की रचना की जो एक महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। इसके माध्यम से आधुनिक युग की राजनीति, भूख, हड़ताल, युद्ध की विभीषिका, अमानवीयता और पुरानी परम्पराओं के खण्डन आदि प्रवृत्तियों को उभारा गया है। परम्परा भंजक किस प्रकार परम्परा के मोह से ग्रसित हो जाते हैं और शंकर जैसे पुरुष भी सती की लाश को कंधे से चिपकाए भटकते हैं। उनकी मानवीय संवेदनाओं का अंकन यह गीति-नाट्य सफलता पूर्वक प्रस्तुत करता है। युद्ध आधुनिक जीवन की अवश्यंभावी स्थिति है जिसे नकारा नहीं जा सकता नाटक इस संदर्भ को सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है। इस नाटक की मूल समस्या है, जीर्ण-शीर्ण सड़ाँध भरी परम्पराओं से मुक्ति। इसीलिए *(नागरी प्रचारिणी पत्रिका)* गीती-नाट्यात्मक प्रबन्धात्मक परिप्रेक्ष्य में 'एक कण्ठ विषपायी' के साथ धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' को चर्चित करना समीचीन एवं सार्थक होगा। सार्थकता की प्रामाणिकता के विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि स्वरूप और समस्या के स्तर पर दोनों कृतियाँ ही नए भाव-बोध के बिन्दु पर आ ठहरती हैं पौराणिक प्रसगो का आश्रय लेकर दोनो

रचनाकारों ने कृतियों के धरातल को नूतन भाव-बोध से अभिषिक्त करके प्रस्तुत किया है। जीवन के मूल स्वर को उद्घाटित करने के अभिलाषी दोनों रचनाकारों ने समस्या का प्रतिपादन यथार्थ के सुथरे और स्पष्ट धरातल की सीमा रेखाओं में व्यक्त कर अपनी भावधारा को सशक्तता से प्रतिपादित किया है। नाटकीय तत्त्वों में काव्य का मिश्रण कर दोनों कवियों ने आधुनिक बोध को गहराया है।

'एक कण्ठ विषपायी' की कथावस्तु भी 'अन्धायुग' की कथावस्तु की भाँति कुछ उत्पाद्य अंशों को छोड़कर अधिकतर प्रख्यात ही है। पात्रों की दृष्टि से उत्पाद्य सर्वहत है, शेष सभी पात्र दक्ष, वीरिणी, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि पौराणिक पात्र हैं।

'आभार-कथा' में दुष्यन्त कुमार ने अपनी इस कृति को 'काव्य-नाटक' की संज्ञा देते हुए कथा-सूत्रों के संयोजन विषयक संकेतों में इसे खण्डकाव्य संकेतित किया है। उपरोक्त मन्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि दुष्यन्त कुमार का सोचने विचारने का स्तर काव्य-भूमि का आधार लिए हुए था। प्रथम अंक के पटाक्षेप के विषय में दुष्यन्त कुमार ने अपने विचार प्रस्तुत किए। उनके अनुसार—"इसके बाद, मैंने इस विषय में जितना सोचा कथा मेरे ऊपर उतनी ही हावी होती चली गई। और कुछ दिनों बाद मैंने पाया कि मैं एक काव्य-नाटक के पहले अंक का पटाक्षेप कर रहा हूँ।" इन पंक्तियों का गहन अवगाहन करने पर जो संकेत-सूत्र हाथ आते हैं उससे स्पष्ट सिद्ध है कि दुष्यन्त कुमार का लक्ष्य वस्तुतः एक खण्ड-काव्य की रचना करना था किन्तु अनुभूति की गहनता के कारण वे काव्य के माध्यम से सीधी-सपाट अभिव्यक्ति देने में असमर्थ रहे, परिणामस्वरूप 'एक कण्ठ विषपायी' ऐसी काव्यकृति के रूप में हिन्दी साहित्य के मंचपर उभरकर आई जिसकी काव्य-विधा के नामकरण का विषय अभी तक विद्वानों में पर्याप्त विवादास्पद रहा है।

कथा-भूमि—यहाँ से हम 'एक कण्ठ विषपायी' के प्रथम अंक की ओर मुड़ते है। दक्ष और उनकी पत्नी वीरिणी का निजी कक्ष प्रस्तुत है जहाँ वे दोनों विचार-विनिमय में लग हुए हैं। दक्ष द्वारा शंकर पर क्रोध की मुद्रा बनाना और उसको प्रकट करने से विचाराधीन विषय की गम्भीरता तत्काल समझ में आ जाती है। पौराणिक कथा का आश्रय लेकर कवि ने इस प्रसंग को प्रस्तुत किया है। दक्ष किसी भी स्थिति में यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि शिव उसके यज्ञ में उपस्थित हों। वीरिणी के समझाने बुझाने और शान्त करने पर कि शिव हमारे घर के सबसे सम्माननीय व्यक्ति एवं जामाता है सुन, दक्ष का अहं विद्रोह कर बैठता है, वह अपने आपको अपमानित अनुभव करता हुआ प्रश्न चिह्न लगा देता है—

> "क्या सम्बन्धों का निर्माण
> घृणा पर

हठ पर
और अनिच्छा पर भी सम्भव हो सकता है ?'' (पृ० १२)

किन्तु दूसरी ओर वीरिणी इस पक्ष का समर्थन नहीं कर पाती क्योंकि सती नारी होने के कारण उसके लिए यह सब असह्य है। इसलिए स्वभावतः यह वार्त्तालाप बहुत कुछ भावात्मक धरातल पर उद्घाटित हुआ है। बौद्धिक धरातल पर विचार करने पर उत्तर निश्चय ही नकारात्मक होगा क्योंकि घृणा, हठ और अनिच्छा पर सम्बन्धों का निर्माण सम्भव नहीं फिर भी वीरिणी अपने को बहुत अधिक सन्तुलित करती हुई बहुत सटीक और सार्थक उत्तर देती है—

''स्वामी, मैं तो अल्पबुद्धि हूँ
किन्तु मुझे लगता है
लौकिक सम्बन्धों में
इच्छा और अनिच्छा का कोई आधार
नहीं होता है।
किसी विवश क्षण से जुड़ जाते हैं हम यों ही
फिर उससे सम्बन्ध आप ही हो जाते हैं।'' (पृ० १२)

तर्क-वितर्क की छाया में वीरिणी निरन्तर दक्ष को परास्त करने का प्रयास करती रहती है। दूसरी ओर दक्ष भी बहुत चतुरता और कौशल से वीरिणी द्वारा नैतिकता का उपालम्भ देने पर उसे साफ टाल जाता है—

''मुझे मान्य है।
किन्तु देवि,
यह राजनैयकों की भाषा है
इसकी शब्दावली अलग है
इसमें उत्तम या उदात्त से
भावों के अभिव्यक्तिकरण को
समुचित शब्द नहीं होते हैं।'' (पृ० १९, २०)

राजसुता सती के आने की अनुचर द्वारा सूचना देने पर दक्ष के ललाट की रेखाएँ वक्र और आवेश से परिपूर्ण हो जाती हैं जबकि वीरिणी के आनन पर प्रसन्नता की तेजस्वी चमक अपना स्थान बना लेती है। अब प्रश्न उठ खड़ा होता है कि शंकर कुल के जामाता होते हुए भी अनादर और अवमानना के पात्र क्यों? सती नारी के लिए पति की अवमानना असह्य है। अपने पति के लिए सर्वोपरि स्थान की माँग करने पर दक्ष का शान्त क्रोध भड़क उठता है और वे अपने दृढ़ निश्चय की उद्घोषणा करते हुए वहाँ से चले जाते हैं—

''तो सुन लो,
मेरा दृढ़ निश्चय है

मेरे आयोजन में
शंकर का कोई स्थान न होगा,
यह नहीं
युग-युग तक
किसी यज्ञ अथवा आयोजन में
उसको निमन्त्रण तक न आएगा।" (पृ० ३२)

दक्ष की यह उद्घोषणा कथा के रुख को उल्टी दिशा की ओर मोड़ देती है और उनके प्रस्थान करने पर द्वारपाल आकर सूचित करता है कि अपमान की असहनीय वेदना की तपन से विचलित होकर राजसुता सती ने अग्नि में कूदकर अपना उत्सर्ग कर दिया है। अमंगल और अशुभ कथ्य को भी दुष्यन्त कुमार ने मार्मिकता से प्रस्तुत किया है—

(निश्चल-सा)
सब कुछ अभी हो गया पल भर में
... ...
सुन्दर सर्वांग स्वर्ण-गौर-वर्ण
भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था।" (पृ० ३५, ३६)

अन्ततः पूरे अंक का अनुशीलन करने पर निष्कर्षतः दो बातें वर्णन की पीठिका पर स्थान पाती हैं। प्रथम यज्ञ की ध्वस्तता से उत्पन्न अनचाही स्थितियाँ और दूसरी, भृत्यों के ऊपर शंकर का क्रोधजनित आक्रोश!

इसके अतिरिक्त प्रथम अंक के मंच पर सर्वहत नाम का महत्त्वपूर्ण पात्र अवतरित होता है। समस्त घटनाओं और स्थितियों का प्रत्यक्ष और सहज भोक्ता होने के कारण सर्वहत का महत्त्व निर्विवाद है। युद्ध मनोवृत्ति की गुंजल से ऐंठा हुआ सर्वहत राज्य-लिप्सा की मनोवृत्ति से कुचला हुआ है। उसकी मानस भूमि में जो भी आक्रोशजनित प्रतिक्रियाएँ तरंगित होती हैं वे नवीन भाव-बोध को ही द्योतित करती हैं। इस द्योतन के संदर्भ में हम सहज ही देख सकते हैं कि सर्वहत आधुनिक मानव का प्रतीकत्व लिए 'एक कण्ठ विषपायी' के पृष्ठों पर उपस्थित है।

द्वितीय अंक में दुष्यन्त कुमार ने विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र के वार्तालाप को प्रस्तुत किया है। दुष्यन्त द्वारा कल्पित पात्र सर्वहत वार्तालाप के मध्य आकर अपनी विचारधारा को पैने व्यंग्यों तथा आक्रोशमयी मुद्रा में व्यक्त करता है। इन्द्र द्वारा यज्ञ के विभीषक रक्तपात पूर्ण वातावरण और शिवगण द्वारा संचालित अपमान का विवरण देने पर ब्रह्मा इस घटना और सती शंकर के अपमान से अपनी भिज्ञता प्रकट करते हैं। दुष्यन्त कुमार की लेखनी ब्रह्मा से उच्चारित करवाती है कि सब कुछ निःशेष हो गया। उधर क्षत-विक्षत विक्षिप्त-सा सर्वहत ब्रह्मा की अन्तिम पंक्ति के सूत्र को पकड़कर व्यंग्यपूर्ण भाषा में चीख-सा पड़ता है

"...... ... ...
सड़ी हुई हड्डियाँ हैं
क्षत-विक्षत तन है
और उन पर भिन्नाते हुए
चीलों और गिद्धों के झुण्ड
और मक्खियाँ हैं......।" (पृ० ४५)

'एक कण्ठ विषपायी' का रचयिता ऐसे सशक्त, मार्मिक और काव्य-पूर्ण वक्तव्यो के माध्यम से बरबस 'अन्धायुग' की याद ताजा कर देता है।

तृतीय अंक में शंकर पत्नी-शोक से विह्वल दृष्टिगत होते हैं। दृश्य के आरम्भ मे उनका स्वगत कथन—

"आह शोक ने मुझे
अचीन्हीं स्थितियों से जोड़ दिया
महाशून्य के अन्तराल में
निपट अकेला छोड़ दिया
सारा धीरज सोख लिया
सारा रक्त निचोड़ दिया......।" (पृ० ७१)

पत्नी-वियोग जन्य प्रतिक्रियाओं से प्रसूत निर्वेद का रूप कथा की धारा को एक साँचे में ढाले रहता है, उसको विच्छिन्न नहीं होने देता। इस कथा की केन्द्रीय धुरी शंकर है, कोई भी घटना ऐसी नहीं जो शंकर से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध न हो। प्रत्येक प्रसंग में कवि ने ठीक और उपयुक्त समय पर शंकर को उपस्थित किया है। कथा की प्रारम्भिक अवस्था का सूत्रपात शंकर को सामने रखकर होता है, मध्य में शंकर की अनुपस्थिति ही घटनाओं की अद्भुतता का कारण बनी। विकासात्मक अवस्था में शंकर प्रत्यक्षतः रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। इस प्रकार कथा का अथ से इति पूर्ण रूप से शंकर से सम्बद्ध है।

चिन्तन का विषय यहाँ पर यह है कि शंकर स्वयं युद्ध में भाग लेने को उद्यत नही, वे मात्र इस युद्ध के प्रेरणा-स्रोत के रूप में हमारे समक्ष हैं क्योंकि उनकी मोहक चेतना पर मादकता का आवरण पड़ा रहता है। परिणामस्वरूप वे सती के शव को स्नान कराकर उस पर चन्दन का लेप कर पुष्पों और परागधूलि से शव का शृंगार कर अपनी बाँहों में सुलाए रखना चाहते हैं।

चतुर्थ अंक में नाटकीय कविता की उत्कृष्टता के साथ-साथ हम युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार देखते हैं। शंकर द्वारा युद्ध घोषित कर देने के पश्चात् ब्रह्मा के भवन में गहन मन्त्रणा चल रही है। प्रजा का शोर निरन्तर बढ़ता चला जाता है। इसी विकट रव के मध्य सर्वहत अन्धर आकर प्रजा के असंयम पर कटु व्यंग्य करते हुए तीव्र व्यथा की सहज

अभिव्यक्ति करता है। सर्वहत की इस स्वाभाविक अभिव्यक्ति में संवेदनशील पाठक बँधे बिना नहीं रहता—

"अरे······प्रजा हम थे
हमने उफ तलक नहीं की
शासन के गलत-सलत झोंकों के आगे भी
फसलों से विनयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुए
खेतों से होकर
दक्ष ने बहुत-सी पगडण्डियाँ बनाईं
कर दी फसलें बरबाद······।" (पृ० ११०, १११)

सर्वहत की यह व्यथा अन्धायुग के प्रहरियों से अलग नहीं है। सेनापति की वेशभूषा से सज्जित इन्द्र ब्रह्मा से युद्ध करने की आज्ञा चाहते हैं किन्तु ब्रह्मा की मान्यता युद्ध को सामूहिक आत्मघात की संज्ञा देती है। शंकर की युद्धोन्नत सेना धीरे-धीरे अपने चरण आगे बढ़ाती है किन्तु ब्रह्मा फिर भी बिना किसी प्रतिक्रिया के सेना को शान्त रहने का निर्देश देते हैं। अन्ततः युद्ध की स्थिति टल जाने पर शान्ति हो जाती है।

कुल मिलाकर, अन्त में काव्य-नाटक के चारों अंकों की कथा के निष्कर्ष सूत्रों को एक शृंखला में प्रतिबद्ध करने के लिए हम अपनी विचारधारा को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। 'एक कण्ठ विषपायी' के चार अंकों की कथा काव्य-नाटक की मूल-चेतना से जुड़ी हुई है, शंकर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में आरम्भ से अन्त तक कथा से जुड़े हुए हैं। कथा का अथ, मध्य और इति एक निश्चित नियम के अनुसार घटित हुआ है। सम्बन्ध सूत्र की शृंखला में घटनाओं की अपेक्षा विचार अधिक और तीव्र होते हुए भी कथा का विकास नाट्यात्मक एवं सूत्रबद्ध हुआ है। पौराणिक कथा प्रसंग में आधुनिक भाव-बोध तथा नवीन सन्दर्भों को परिभाषित करने की अपूर्व क्षमता है।

संघर्ष की भूमिका—किसी भी नाट्यात्मक-काव्य की आधार-भूमि बिना संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के सम्भव नहीं। नाटकीयता और अन्तर्द्वन्द्व के तीव्र थपेड़े नाट्यात्मक-काव्य की अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण विशेषता है। 'एक कण्ठ विषपायी' की कथा की आधारभूमि बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक है। इसलिए इसमें अन्तर्जीवन की प्रधानता के कारण घटनाओं की तुलना में मनोभावों को अधिक बल प्राप्त हुआ है। आलोच्य कृति के मुख्यतः सभी पात्र शंकर, ब्रह्मा, सर्वहत आदि इन्हीं मनोभावों पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते हैं। सभी पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व, आन्तरिक-संघर्ष, आरोह-अवरोह को प्रस्तुत करने के साथ-साथ रचनाकार दक्ष के आन्तरिक-संघर्ष को सशक्त वाणी प्रदान करता हुआ आधुनिक जीवन की सभी गुत्थियों को सामने रखने में सफल हुआ है

प्रथम अंक के प्रारम्भ होने पर 'एक कण्ठ विषपायी' के मंच पर दक्ष के प्रस्तुत होते ही उसके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष से पाठक तुरन्त परिचित हो जाता है। राजकीय अभिमान और बच्चों के स्वच्छन्द, स्वतन्त्र आचरण में विरोध है, यहीं से संघर्ष का बीज अकुर रूप धारण कर संघर्ष में परिणत हो जाता है। अपने अस्तित्व; व्यक्तित्व की स्वतन्त्र परख होने पर सती अपनी स्वेच्छा से शंकर को अपना सर्वस्व स्वीकार कर उसका वरण कर लेती है किन्तु दक्ष एक पिता होने से पहले एक राजा है, परिणामस्वरूप राजकीय परिवेश में जीते हुए दक्ष इस स्थिति को स्वीकार करने को उद्यत नहीं होते। राजा के रूप में दक्ष का अह् चोट खा जाता है। शंकर के समक्ष समर्थ और राजा होते हुए भी वह अपने आपको अपमानित अनुभव करता है। अपमान की प्रतिक्रिया उसके अह की तुष्टि चाहती है। परिणामतः—खोखले राजकीय गौरव को स्थिर रखने के लिए मन में शंकर से प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो यज्ञ का आयोजन कर सती और शकर को अपमानित करने का संकल्प लेता हुआ दक्ष उसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयास करता है—

"उन दोनों ने केवल मेरी
बाह्य-प्रतिष्ठा खंडित की है
उनकी आत्म-प्रतिष्ठा का भ्रम तोड़ूँगा मैं
यह यज्ञायोजन विराट
उनके अभाव का श्रीगणेश है......।" (पृ० १४)

मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के क्षणों में एक पिता के हृदयाकाश पर कभी-कभी भावनाओं की विद्युत भी कौंध जाती है किन्तु आत्म-संघर्ष में मिली राजकीय-गौरव की प्रबल भावना उसे अपनी शक्ति से पंगु बना देती है। उपरोक्त पंक्तियाँ हमारे मंतव्य को प्रमाणित कर पाठक को सहज अनुमान लगाने को बाध्य करती हैं अन्तर्द्वन्द्व और आत्म-सघर्ष की स्थितियाँ किस प्रकार परिवर्तित होती रहती हैं दक्ष का चरित्र इसका साक्षात उदाहरण है। वीरिणी के शान्त करने पर, समझाने-बुझाने पर दक्ष की स्वीकारोक्ति कि वह सती पर अपना क्रोध रिक्त न करेगा और कुछ क्षणों में ही सती का आग्रह, शंकर का स्थान सर्वोपरि आसन के समीप होना चाहिए; सुनकर दक्ष की मनःस्थिति संघर्षों और अन्तर्द्वन्द्व की समानान्तर रेखाओं से विलग हो उत्तेजित हो जाती है। वह दृढ़ शब्दो मे घोषणा करता है—

"ऐसा असंभव है
उसके चुप होने की अगर यही शर्त है
तो यह असम्भव है
कह देना
मेरे आयोजन में
शकर का कोई स्थान नहीं हो सकता। (पृ० १६)

आरोह-अवरोह से पूर्ण इसी ऊहा-पोह में सती के समक्ष इस बात की उद्घोषणा करने के क्षणों में वीरिणी जड़ बनी मानसिक संघर्षों के घात-प्रतिघातों में जकड़ी स्तंभित-सी रह जाती है।

'कृति के अध्ययन से सहज ही स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य शंकर के मन के अन्तर्द्वन्द्व और आत्म-संघर्ष को प्रस्तुत करना था। प्रेयसी, सहधर्मिणी के शव को देखकर शंकर का व्यक्तित्व विखंडित और विद्रोही हो जाता है। चक्षुपटल क्रोध के रक्त से आरक्त हो जाते हैं। संयम और धैर्य की शृंखलाएँ भी शिव के क्रोध को बाँधने में असमर्थ हो जाती है। उनका क्रोध धैर्य की रज्जुओं के टुकड़े बिखेर देता है। वे सती के शव को कन्धे पर डाले क्रोध की अग्नि में दक्ष के यज्ञ को होम कर देते हैं। अणु-अणु में बिखरने के पश्चात् भी शिव का क्रोध शान्ति की शीतल छाया में विश्राम नहीं चाहता। अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की जटिल स्थितियों के मध्य शंकर का विखंडित व्यक्तित्व इतनी बुरी तरह उलझ जाता है कि अधैर्य और अशान्ति से अस्थिर मन कभी अशान्ति के कारणो को जड़ से समाप्त करने का प्रयत्न करता है और किन्हीं क्षणों में स्वयं को दोषी स्वीकार करने लगता है। एक बिन्दु पर आकर तो शिव स्वयं को अपराधी और दोषी स्वीकार कर धिक्कारने लगते हैं। अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष की विजय-पराजय की तीव्रता एक निर्णय के निश्चित बिन्दु पर उनसे समर्पण करवा देती है—

"सम्प्रति, बस प्रतिकार
देव-ऋषि, दानव सबसे
आह! तीसरा नेत्र
रक्त का प्यासा कब से।" (पृ० ७२)

इसी स्थिति में वरुण और कुबेर शंकर की उपासना करते हैं। प्रतिक्रियास्वरूप शंकर पुन उत्तेजित हो जाते हैं—

"मैं पार ब्रह्म?
कैलासनाथ!
मैं निर्माता?
मैं कालजयी व्यक्तित्व?
स्वयंभू महादेव
ये सारे सम्बोधन
हैं कितने क्रूर व्यंग्य।" (पृ० ७५)

देवत्व और आदर्शों की साक्षात् जीवन्त प्रतिमा आदि कहकर कुबेर और वरुण शंकर की स्तुति कर उनके क्रोध को पुनः शान्त करने का असफल प्रयास करते हैं किन्तु शंकर का व्यक्तित्व इन सब प्रभावों से अछूता रहता है। उनकी उत्तेजना अकस्मात् एक नया मोड ले लेती है उनके मन की उथल-पुथल उनकी उत्तेजना से भरी मन स्थिति का अंकन द्रष्टव्य है

"बन्द करो अपना प्रलाप अब
बार-बार संवेदन
अथवा कर्त्तव्यों की बात उठाते
बार-बार ये कहना
मैं तो आया यहाँ मित्र के नाते,
ग्लानि नहीं होती तुमको ?
डूब नहीं मरते हो
अंजुलियों के जल में।
मित्र अगर होते तुम
मेरी आत्मा यों विद्रोह न करती
भरी सभा में मेरी प्रिया
निरादृत न होती और न मरती।" (पृ० ७९, ८०)

शकर की गहरी पीड़ा 'प्रिया' शब्द से ऊपर छलछला उठती है। उनके मन-सिन्धु में भयकर उद्वेलन मच जाता है। अन्तर्द्वन्द्व का तीव्र ज्वारभाटा उन्हें देवों की दुरभिसन्धि के विरुद्ध अन्तिम निष्कर्ष निकालने को विवश कर देता है। वे कह उठते है—

"ओह !
देवों ने रची है दुरभिसंधि विरुद्ध,
और इसका अर्थ······
केवल युद्ध
केवल युद्ध······।" (पृ० १८०)

दूसरी ओर भृत्य की उद्घोषणा—

"लोग व्यस्तताओं का यों ही
झूठ-मूठ नाटक रचते हैं
और सत्य ही सृजन-पूर्व जैसी पीड़ाओं से बचते हैं।" (पृ० १२३)

भृत्य और प्रश्नचिह्न—

"रण का निर्णय लेते समय
बताओ तुमने क्या सोचा था ?" (पृ० १२३)

लगाता हुआ, व्यंग्यपूर्ण मुस्कराता हुआ रंगमंच को रिक्त कर जाता है। इन सब व्यंग्यपूर्ण पीडा से तपे हुए संवादों से इन्द्र के मन का अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। इन्द्र के मन की उथल-पुथल, उद्वेलन-आलोड़न का अंकन कवि ने सफलता और सशक्तता से किया है। इन्द्र और ब्रह्मा के वार्त्तालाप से बाह्य-संघर्ष के संकेत मिलते है। इसी सन्दर्भ में शिव का आक्रमण भी बाह्य-संघर्ष का प्रमाण है। आन्तरिक और बाह्य-संघर्ष का निरूपण आलोच्य कृति में प्रचुर रूप में हुआ है आन्तरिक और बाह्य-संघर्ष की समुचित रेखाओ म कृति का कथ्य समय प्राप्त कर सका है

वरण के अतिरिक्त युगीन परिस्थितियों की छाप स्पष्ट होगी। समाज का एक अंग होने के नाते कवि भी युग की दारुण परिस्थितियों से जूझता हुआ कटु अनुभवों को संचित करता है। इसके अतिरिक्त 'अन्धायुग' का सन्दर्भ उसके लिए और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। "सम्भवतः 'अन्धायुग' की सफलता से प्रेरित होकर ही दुष्यन्तकुमार ने भी अपना काव्य-नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' प्रस्तुत किया है" *(आलोचना : जुलाई-सितम्बर १९६७, पृ० ९४)*। युद्ध की विभीषिका से उत्पन्न संत्रास का वातावरण, टूटे हुए सामाजिक, नैतिक मूल्य, जन-सामान्य की पीड़ित चेतना, परम्पराओं की बासी सड़ान्ध आदि कुछ ऐसे ज्वलन्त और निर्मम प्रश्न हैं जो एक विवेकशील मानस पर निरन्तर कुठाराघात करते रहे होंगे। इन सब निर्मम प्रश्नों से निरन्तर जूझते, संघर्षरत मानस ने मुक्ति की कामना के साथ युद्धोपरान्त ह्रासोन्मुखी स्थितियों को एक सूत्र में पिरोने की आकांक्षा की होगी जिससे विच्छिन्न हुए सामाजिक, नैतिक मूल्यों में स्थिरता आ जाए, विघटन-कारी प्रवृत्तियाँ अपना सिर न उठाने पाएँ। निरन्तर विघटित होते हुए ह्रासोन्मुखी जीवन-मूल्यों को देखकर मैं ऐसा नहीं समझता कि दुष्यन्तकुमार के सृजन का हेतु मात्र युद्ध-कथा कहना था अथवा परम्परा से मुक्ति ही कृति का लक्ष्य था। अतः इस कृति का आस्वाद और मूल्यांकन हमें उपर्युक्त सन्दर्भों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। शंकर, सर्वहत, दक्ष आदि पात्रों को माध्यम बनाकर भी इसे समझा और समझाया जा सकता है।

मूल्यों का अन्वेषण—आलोच्य-कृति की कथा आधुनिक भाव-बोध से अनुप्राणित है। परम्परा और पीढ़ियों से चली आई रूढ़ियों में आस्था रखना श्रेयस्कर नहीं। जीवन को सार्थक और सफल बनाने के लिए हमें नये जीवन-मूल्यों का अन्वेषण करना होगा। दुष्यन्त ने अपने इस काव्य-नाटक में आधुनिक बोध को गहराने के लिए 'कोरस' का सहारा लिया। डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने भी 'एक कण्ठ विषपायी' की आधुनिकता के विषय में कोरस को ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—"इस नाटक के रचना-विधान में कोरस के माध्यम से आधुनिकता के बोध को गहराने की कोशिश है" *(आधुनिकता और हिन्दी साहित्य)*। इसके अतिरिक्त आधुनिकता-बोध और उसके जटिल संकट को अधिक तीव्रता देने के लिए सर्वहत नामक पात्र की संरचना भी की गई है। सर्वहत निश्चित रूप से दुष्यन्त के उद्देश्य की पूर्ति करता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान भी इस बात की स्वीकृति देते हैं।

पहले कोरस में ही दुष्यन्त सर्वहत के माध्यम से कहते हैं—

"मैं यह नाटक क्यों देखता भला ?
मुझसे······या हम से
यह आशा कब की जाती है
कि हम नाटक देखें······उसमें भाग लें।" *(पृ० ३९)*

कौरव नगरी के नाश के बाद जिस प्रकार 'अन्धायुग' में दो प्रहरियों के आपसी वार्त्ता-

जनता का प्रतिनिधित्व करता है। उसने इन सब विभीषिकाओं और स्थितियों को प्रत्यक्षतः झेला है। सर्वहत के माध्यम से शासकों की निर्ममता और हृदयहीनता पर कठोर व्यंग्य किया गया। शासन की चक्की के पाटों में पिसते हुए जनसामान्य व्यक्ति की मर्मान्तिक कराहट और घायल होते जीवन को सर्वहत के माध्यम से ही रचनाकार ने साकार किया है। मानों सर्वहत ऐसी निराश्रित जनता का जीवित अभिशाप है जो कोढ़ बनकर समाज को क्षार करता जा रहा है।

विष्णु, ब्रह्मादि की असमर्थता पर भी सर्वहत कटु और तिक्त व्यंग्य करता है। बड़े नाटकीय ढंग से सर्वहत विष्णु और ब्रह्मा से रक्त की माँग करता है किन्तु वे अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए सर्वहत को समझाने का प्रयास करते हैं और प्रत्युत्तर में कहते हैं कि वे इच्छा होते हुए भी एक बूंद रक्त का प्रबन्ध नहीं कर सकते। नाटकीय औतसुक्य मे वृद्धि करते हुए सर्वहत के मर्मान्तिक व्यंग्य हृदय में छिद्र कर देते हैं—

"क्या बच्चों-सी बातें करते हैं आप लोग
आप लोग शासक हैं
और शासकों को कहीं
रक्त की कमी हुआ करती है
आप लोग चाहें तो मेरे लिए
रक्त का समुन्दर भर सकते हैं।
... ...
ओह!
अब समझा
शासकों की स्मरण-शक्ति दुर्बल हो जाती है
छोटी-छोटी बातें उन्हें याद नहीं आती हैं।" (पृ० ११३)

इन्द्र के घोषित करने पर कि हमारे शासन में किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता, सुनकर सर्वहत का रक्त जम जाता है। सर्वहत अपनी पराजय स्वीकार नहीं करता और कड़वे सत्य को उद्घाटित कर देता है—

"क्यों?
क्या आपने महादेव शंकर के साथ
इन्हीं लोगों ने
किया नहीं पक्षपात
सीमा पर उनके लिए
नदियाँ खुलवा दीं
और मुझे कहते हैं
यहाँ रक्त नहीं मिल सकता
यहाँ रक्त है अमूल्य।" (पृ० ११५)

व्यक्तित्व की दोहरी पीड़ा—वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था में अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना आज सबसे कठिन कार्य है। आज भी समाज में न जाने कितने शासक और नियन्ता हैं जो अपने शासनाधिकार में सुखोन्माद के जनसाधारण जनता के अस्तित्व को नहीं स्वीकारते। सर्वहत शासकों की इसी निष्ठुरता और हृदयहीनता को व्यक्त कर अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने में संघर्षरत है। समाज में निरन्तर पल्लवित होती हुई स्वार्थवृत्ति की ओर भी नाटककार ने संकेत किए हैं। आज का मानव व्यक्ति-व्यक्ति के रूप में बंटा हुआ है। यह विकृति निरन्तर समाज को पतनोन्मुखी बनाए हुए है। व्यक्तित्व के विभाजन के कारण वह करना कुछ चाहता है और करता कुछ और है अर्थात् उसके मन, वचन और कर्म में एकता नहीं है। उसके समक्ष भविष्य की असुरक्षा निरन्तर मुँह बाए खड़ी रहती है। आज कोई भी साधारण व्यक्ति व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की सघर्षरत प्रक्रिया से अलग न्याय का पक्ष लेने को तैयार नहीं है। सर्वहत के तीखे व्यग्यो और सहज, सरल कथनों में इसी पीड़ा की तपन विद्यमान है।

शंकर सती के झुलसे हुए शव को अपने कन्धों पर उठाए फिर रहे हैं। प्रश्न उठता है कि क्या सती का शव सत्य का वाहक है ? शंकर की दुविधा और भ्रान्ति भी यही है कि करना कुछ चाहते हैं और करते कुछ और है। आज के आधुनिक जीवन का अन्तर्विरोध दोहरा जीवन जीने की नियति शंकर में भी विद्यमान है जो आज के मानव जीवन की विडम्बना और विवशता है। शंकर आधुनिक मानव का प्रतीकत्व लिए दुविधाग्रस्त है—

> **"उन्हें किसी सत्य से जुड़े रहने**
> **और टूट जाने का**
> **दुविधायुक्त भ्रम है**
> **करते हैं कुछ**
> **किन्तु कुछ करना (और) चाहते हैं**
> **अपनी प्रिया के संदर्भों में**
> **दुहरा जीवन जीते हैं शिव शंकर**
> **यही दण्ड उनको क्या कम है**
> **जो बार-बार**
> **कालकूट पीते हैं शिव शंकर।"** (पृ० ६०-६१)

काल चिरन्तन सत्य है, मृत्यु शाश्वत। जब मरण में परिणति अवश्यमभावी है फिर सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि उसकी सहज स्वीकृति में विलम्ब क्यों हो ? इस चिरन्तन सत्य को स्वीकार करने से कैसा कतराना ? मानव-स्वभाव बहुत ही दुर्बल है। सांसारिक बन्धनों की मोहग्रस्तता ज्ञान के चक्षुओं को मूँदकर यवनिका गिरा देती है जिस कारण हम मृत्यु की सत्यता को सहज होकर स्वीकारने से कतराते हैं। यहाँ 'अन्धायुग' के युयुत्सु का जीवन-दर्शन समझ में आता है जिसका अन्तिम निर्णय है—

"पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का
अन्तिम परिणति में दोनों
जर्जर करते हैं।" (अन्धायुग, पृ० ५७)

इस शाश्वत और अवश्यम्भावी सत्य को सहज होकर स्वीकारने और अस्वीकारने की मुद्रा भी चिन्तन के क्षणों में इस कृति ने अपनायी है।

परिवर्तन और समय का चक्र सदैव गतिशील है जिस प्रकार नदी का बहा हुआ पानी वापस लौटकर नहीं आता ठीक यही स्थिति समय की है। इस समय और परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ-साथ समाज के नैतिक और सामाजिक मूल्यों मे परिवर्तन होना भी स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है। जर्जर रूढ़ियों से चिपटे रहने का अर्थ है परिवर्तन को अस्वीकार करना। पुरातन परम्पराओं को समाज में ही स्थिर रखकर उसके औचित्य को सिद्ध करने का अर्थ है नये मूल्यों को मान्यता न देकर उनसे बचना। और समाज में रहकर यह असम्भव है कि हम परिवर्तन और नये मूल्यों पर स्वीकृति की मोहर न लगाएँ। परम्पराओं और परिवर्तन को अपने अनुकूल बनाने के लिए हमें उनसे आगे कदम बढ़ाना चाहिए। पुरातन और जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियाँ कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं हैं। समय का गतिशील प्रवाह अपने आप ही परम्पराओं की अनुपयुक्तता और औचित्य को समाप्त कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि जड़ रूढ़ियाँ अन्धकार के गर्भ में विलीन न हों तो समूचा युग और समाज ही पतनोन्मुखी हो लुप्त हो जाए। 'एक कण्ठ विषपायी' इसी सड़ी-गली दुर्गन्धयुक्त परम्पराओं से मुक्ति की गाथा है। 'विषपायी' के मंच पर शंकर इसी मुक्ति के अग्रदूत के रूप में उपस्थित होते हैं। एक अर्थ में यद्यपि वे परम्परा-पोषण भी करते है किन्तु उन्हीं क्षणों तक जब तक कि ज्ञान के चक्षुओं को मोह आविष्ट किए रहता है। दूसरे शब्दों में यदि हम कहें कि शंकर की 'परम्परा-भंजकता' और 'परम्परा-पोषकता' को सही परिप्रेक्ष्य में आंकने के लिए स्थिति-विशेष को समझना परखना होगा। स्थिति विशेष के सही मूल्यांकन के पश्चात् ही शंकर की परम्परा-भंजकता और परम्परा-पोषकता को मूल्यांकित करना अधिक सार्थक होगा।

'तात्कालिक दृष्टि से इसे एक विसंगति कहा जा सकता है लेकिन विसंगति का यह संकट ही तो 'विषपायी' का मूल कथ्य है। यही तो वह पीड़ा है जिसे शंकर भोगते है, हम भोगते हैं। हमारी पुरानी पीढ़ी ने क्या परम्पराओं के प्रति विद्रोह नहीं किया, रूढ़ियों का खण्डन कर नयी परम्पराएँ नहीं बनायीं? लेकिन आज वही अपनी मृत परम्पराओं के शव को अपनी पीठ पर लादे है और नये युग-सत्य को स्वीकार करने में झिझक रही है—अपने ही मृत अंश से मुक्त नहीं हो पा रही है। 'विषपायी' का वह वीतरागी शिव भी सती के मोह से इतना आच्छन्न है कि उसकी मृत्यु के सत्य को स्वीकार नहीं कर पा रहा। वह एक परम्परा-भंजक की परम्पराग्रस्तता की स्थिति और उससे मुक्ति की कहानी है और सती ऐसी ही परम्परा की प्रतीक है जिसके शव को

मोहवश शंकर अपनी पीठ पर लादे हुए हैं, उससे मुक्त होना नही चाहते। यह चारित्रिक विसंगति, व्यतिक्रम और विपर्यय ही सही लेकिन क्या यह हमारा भोगा हुआ सत्य नही है? क्या जीवन का एक कड़ुवा और अपेक्षित प्रश्न नहीं है" *(धनंजय वर्मा : आस्वाद के धरातल)*।

युद्ध और सत्य का प्रश्न—चतुर्थ अंक की मुख्य समस्या है युद्ध। सामने जटिल प्रश्न है कि युद्ध होना चाहिए अथवा नहीं? ब्रह्मा युद्ध की अनिवार्यता को नकारते हैं क्योंकि युद्ध को वे उपलब्ध सत्य की संज्ञा न देकर उसे सामूहिक आत्मघात, आत्म-समर्पण मानते है। उनकी मान्यता है कि युद्ध के पीछे कोई निश्चित जीवन-दर्शन अथवा दृष्टि नही। उसके पीछे मात्र कोरा आग्रह है। चिन्तन की कसौटी पर यह बात सत्य भी है कि जो दृष्टि नहीं उसके सत्य का क्या आधार हो सकता है? और इसलिए प्राणों का समर्पण युद्ध के उद्देश्य में निहित न होकर सत्य के लिए होना चाहिए। ब्रह्मा का यह युद्ध-दर्शन भारतीय नीति के कितना अनुकूल है इसका सहज ही मूल्यांकन किया जा सकता है। जनता की नारेबाजी, सैनिकों का आत्मबल, सेना-नायकों की युद्ध में रुचि, शासन मे परिवर्त्तन करने के लिए जनता द्वारा शासकों के द्वार पर धरना, उत्तेजना से युक्त इन्द्र, वरुण, कुबेर का आह्वान, भीड़ का सस्वर आक्रोश कि 'ब्रह्मा यह सिंहासन छोड़ दो' तथा ब्रह्मा का प्रत्युत्तर मे यह कहना कि—

> **"असली शासक प्रजा है**
> **तुम हो,**
> **मैं तो परामर्शदाता हूँ**
> **मुझे इसका तनिक भी मोह नहीं।"** *(पृ० १०५)*

स्पष्ट ही प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली का समर्थन है। इन सब सन्दर्भो से सिद्ध होता है कि दुष्यन्त पर समसामयिक चिन्तन और समकालीन परिस्थिति का गहरा प्रभाव है, वे इनसे अछूते नहीं हैं।

> **"अन्तिम जीत हमारी होगी**
> **हर हालत में सत्य हमारी ओर रहेगा।"** *(पृ० १२५)*

आदि कथन समकालीन राजनीतिक सन्दर्भों को ही उद्घाटित करते हैं।

पात्र-परिकल्पना—चरित्र-संगठन की दृष्टि से भी आलोच्य-कृति का अपना अलग महत्त्व है। आधुनिक सन्दर्भों की जटिलताओं को व्यक्त करने के लिए शंकर, दक्ष, सर्वहत अधिक महत्त्वपूर्ण पात्र हैं वैसे नाट्य-प्रबन्ध के सभी पात्रों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व एवं अपना-अपना स्थान है। ब्रह्मादि पात्रों में मौलिकता का स्पर्श अपेक्षाकृत कम है किन्तु उनकी अनिवार्यता विशिष्ट मानसिक स्थिति की उपज के कारण असंदिग्ध है।

दक्ष आवेश और आक्रोशजनित भावनाओं से विवश जिद्दी (हठी) स्वभाव के व्यक्ति हैं। अपने निर्णय पर अडिग रहने की अदम्य लालसा उनके व्यक्तित्व को उजागर करती

है। जामाता होने पर भी दक्ष की दृष्टि शंकर को अपराधी घोषित कर यज्ञ के आमन्त्रण का अधिकारी नहीं समझती। स्वभाव की कठोरता उन्हें अभिमानी और कूटनीतिक बना देती है।

अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर पति रूप में सती द्वारा शिव का चयन कर लेने पर दक्ष अपने अहं की तुष्टि और सम्मान की रक्षा के लिए उसको शिव की कूटनीति की संज्ञा देता है और अपनी प्रतिष्ठा की हेठी समझ शंकर को अपमानित करने के सुअवसर की तलाश में संलग्न रहता है। दक्ष का दृष्टिकोण है कि शिव ने अपनी कूटनीति का प्रयोग कर चतुरतापूर्वक सती का अपहरण किया है। वीरिणी के समझाने-बुझाने पर उसकी प्रतिक्रिया उस पर विलोम होती है—

> **"तुम को बतलाए देता हूँ—**
> **सारे भद्रलोक से उसे**
> **बहिष्कृत करके छोड़ूँगा मैं।**
> **इन दोनों ने केवल मेरी**
> **बाह्य प्रतिष्ठा खण्डित की है**
> **उनकी आत्म-प्रतिष्ठा का भ्रम तोड़ूँगा मैं।"** (पृ० १४)

कूटनीतिक पात्र होने के कारण खोखला अहं और झूठा अभिमान उन्हें उचित-अनुचित सोचने का अवकाश नहीं देता। कूटनीति का प्रारम्भ यज्ञ के आरम्भ होने पर होता है जहाँ खड़े दक्ष शंकर के स्वाभिमान और गौरव को नकार कर उनकी महत्ता को उपेक्षित कर चुनौती देते हैं। परम्पराग्रसित दक्ष को सती और शंकर का परिणय अच्छा नही लगता। वे ऐसा मानकर चलते हैं कि शंकर और सती के परिणय से मेरी और कुल की लोक-हँसाई हुई है जिस कारण उनके मन का प्रतिशोध-भाव अंकुर बनकर फूट पडता है। पिता होने के कारण कुछ क्षणों के लिए सती को यज्ञ-भाग देने की इच्छा व्यक्त कर देने पर भी दक्ष के मूल रूप में कोई परिवर्त्तन परिलक्षित नहीं होता। वस्तुतः दक्ष एक परम्परा के पोषक हैं, विवेक और संयम के अभाव के कारण वे परम्परा के जीवित प्रतिनिधि सिद्ध होते हैं। आक्रोशजनित आवेश के कारण अपने किए निर्णय पर उचित-अनुचित का विचार न कर अडिग रहने की स्पृहा उनसे वही सब करवाती है जो एक परम्परा से रूढ़ होता चला आया है। परम्परा से मोह के कारण दक्ष किसी भी मर्यादा को क्षीण होते अथवा बिखरते देखने के पक्षपाती नहीं हैं और इसीलिए जामाता होते हुए भी शंकर उनके क्रोध का पात्र और उपेक्षा का लक्ष्य बनते हैं।

प्रारम्भ में शंकर परम्पराभंजक रूप में दिखाई पड़ते हैं। शंकर की परम्पराभंजकता को स्पष्ट रूप से घटित होते नहीं दिखाया गया, किन्तु दक्ष के शब्दों में शंकर ने सती से परिणय कर उसका अपहरण किया है। माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध कन्या को मोह-जाल में उलझाकर उससे परिणय कर लेना लोक-मर्यादा के प्रतिकूल है जिसकी परिणति लोक-हँसाई में होती है। इसी को दक्ष शंकर की अमर्यादा की संज्ञा देते हैं और यही शंकर की

परम्परा-भंजकता है। पौराणिक पात्र होते हुए भी शंकर का रूप अटपटा नहीं है बल्कि ऐसे पात्र से परम्पराओं को तुड़वाकर रचनाकार ने अपने गहन चिन्तन और साहस का परिचय दिया है। रचनाकार के साहस का एक मुख्य कारण यह है कि शंकर अन्तर्विरोधों के साकार रूप रहे हैं जिस कारण आज के आधुनिक व्यक्ति के आन्तरिक संकट और उसके जीवन की टूटन तथा विसंगतियों को रूपायित करने में इससे अधिक सक्षम और पर्याप्त अन्तर्विरोध से युक्त पौराणिक पात्र मिलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। शकर के रूप में दुष्यन्त का चयन प्रभावशाली है। कृति के प्रारम्भ में दक्ष का कथन उनकी परम्परा-भंजकता को ही स्पष्ट द्योतित करता है—

> **"शंकर !**
> **शंकर !!**
> **वह, जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है**
> **जिसके कारण**
> **मेरा माथा नीचे है सारे समाज में।"** (पृ० ११)

देव-लोक में सती को चरित कर शंकर ने परम्परा को विच्छिन्न किया ही दक्ष को लोक-हँसाई और अपमान का भागी भी बनाया है। शंकर के ये कृत्य उनकी परम्परा-भजकता को स्पष्ट करते हैं किन्तु यही शंकर सती के अग्नि में कूदने पर अपनी परम्परा-भजकता के समक्ष जलता हुआ प्रश्नचिह्न लगाकर अपने परम्परा-पोषक रूप को प्रस्तुत करते हैं। आपत्ति उचित है, परम्परा-भंजक शंकर परम्परा पोषक कैसे हो गए? शकर सती की झुलसी हुई देह को कन्धे पर उठाकर इधर-उधर घूमते-फिरते हैं। उन्हें सती के शव से आ रही दुर्गन्ध का आभास भी नहीं होता। वे दुर्गन्ध की चिन्ता छोड़ भावुकता से विवश हो स्वयं को सम्बोधित करने लगते हैं—

> **"ओह**
> **देवों ने रची यह**
> **दुरभिसन्धि विरुद्ध**
> **और इसका अर्थ······।"** (पृ० ८०)

शकर को देखकर हमारे मानस-पटल पर एक जनसामान्य, मोहग्रस्त मानव का व्यक्तित्व अंकित हो जाता है। शंकर की ज्ञान की लौ मद्धिम पड़ जाती है और वे एक जन-साधारण व्यक्ति की भाँति मोह-पाश में जकड़े सती के झुलसे शव से चिपटे रहते हैं। सती की मृत्यु को वास्तविक और यथार्थ न समझ उसके विरह में तपते और दुःखी होते है किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए शंकर विभ्रान्त और शोक के गहरे समुद्र में डूब जाते हैं। वे अपने व्यक्तित्व को सती के अभाव में खण्ड-खण्ड में बँटा और टूटा हुआ अनुभव करते हैं खण्डित व्यक्तित्व की समस्या नगर-बोध से जुड़ी हुई है जो शंकर के खण्डित-व्यक्तित्व के रूप में दुष्यन्तकुमार ने प्रस्तुत की है। विजय और पराजय की सन्धि-रेखा पर खड़े शंकर निरन्तर मृत्यु की से जूझते रहते हैं अन्तत: विजय और पराजय ने

इस संघर्ष में झूलते शंकर स्वयं से ही पराजित हो जाते हैं जिसकी परिणति उनके अन्धकारमय जीवन में होती है। वे देवत्व के आदर्श मोह जाल में पड़े छटपटाते हैं। देवत्व के नाम पर छले जाने के कारण वे उसे आडम्बर की संज्ञा देते हुए धिक्कारते हैं। इसी देवत्व के कारण उनकी प्रेयसी उनसे वियुक्त हो गई। यह विरह उनको निरन्तर दुःख के समुद्र में डुबोता जा रहा है। वे ऐसे देवत्व और उसके खोखले आदर्शों का परिधान नहीं ओढ़ना चाहते जिसमें उलझकर उन्हें अपनी प्रेयसी सती का विछोह प्राप्त हुआ। शंकर की आत्म-स्वीकृति आधुनिकता बोध को प्रस्तुत करती है—

> **"देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़**
> **मैंने क्या पाया ?**
> **निर्वासन**
> **प्रेयसि-वियोग ! !**
> ... ...
> **हर परम्परा के मरने का विष**
> **मुझे मिला**
> **हर सूत्रपात का**
> **श्रेय ले गए और लोग**
> **मैं ऊब चुका हूँ**
> **इस महिमा मण्डित छल से।"** (पृ० ६९)

किन्तु यहाँ शंकर के व्यक्तित्व के समक्ष प्रश्नचिह्न लग जाता है क्योंकि यहाँ पर वे परम्परा से मुक्ति की कामना भी करते दिखाई देते हैं और उसका पोषण भी करते हैं। अपने देवत्व और गौरव से युक्त महिमामय व्यक्तित्व के मोहक छल को शंकर ने पहचान लिया है और अब वे झूठे आदर्शों से संघर्ष कर वास्तविक सत्य के अन्वेषण के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वे उन आदर्शों के अन्वेषण के लिए प्रयत्नशील हैं जो उन्हें आज तक मोहग्रस्त कर उन्हें छलते रहे हैं, जिनसे उन्हें संघर्ष करना है किन्तु दूसरी ओर अपनी प्रेयसी सती की पावन स्मृति से विचलित हो, व्यथित दुःखी शंकर 'परम्परा-ग्रस्तता' को स्वीकार करते हैं। शंकर के व्यक्तित्व का यही अन्तर्विरोध आज के मानव की नियति है। इसी विसंगति के कारण शंकर का व्यक्तित्व आज के मानव की भाँति उसी प्रकार संगति-विसंगति के मध्य निरन्तर झूलता है जिस प्रकार घड़ी के पैंडूलम की भाँति 'अन्धायुग' के कृष्ण अनिर्णय की स्थिति में झूलते रहते हैं। मानों यही उसका भाग्य है, यही उसकी कठोर नियति है। हम जिन नये जीवन-मूल्यों और परम्पराओं के स्थापन के लिए विकट संघर्ष करते हुए उसमें कहीं-न-कहीं सफलता प्राप्त करते हैं; वही जीवन-मूल्य और परम्पराएँ भविष्य में चलकर विशिष्ट सन्दर्भों में हमसे छूट जाती हैं और फिर वही जीवन-मूल्य और [illegible] उसकी पोषक बन जाती हैं [illegible] काल की वास्तविक गति एक चिरन्तन सत्य है [illegible] मृत्यु आदि ऐसे अवसर हैं जब [illegible] को ताड़न वाले भी

परम्पराग्रस्त हो जाते हैं तथा मोहग्रस्त हो समस्त नई चेतना, नवीन-मूल्यों के विरोधी प्रतीत होते हैं। शंकर भी बिल्कुल इसी स्थिति में है जो मुक्त होकर भी बँधे हुए है। अन्तर्मन से स्वीकार करते हुए भी काल की चिरन्तन गति और वास्तविकता को नकारते है। मोहग्रस्तता के कारण परम्परा को तोड़कर उससे स्वतन्त्र नहीं हो पा रहे। आज का वर्त्तमान युग और हमारा समाज भी इसी प्रक्रिया से गुजर रहा है। यहाँ आकर शंकर आधुनिक सकट-ग्रस्त मानव का प्रतीकत्व धारण कर लेते है। थोड़ा-सा गम्भीर चिन्तन करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि शंकर किसी आग्रह का मोह रखकर परम्परा के पोषक नही बने अपितु परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा करने पर विवश कर दिया। वे खोखले और जड आदर्शों से संघर्ष करने के साथ-साथ उन्हें त्यागने को भी उद्यत हैं—

"जिन आदर्शों ने
मुझे छला है कई बार
मेरा सुख लूटा है
अब उनसे लड़ना है।" (पृ० ७७)

किन्तु प्रेयसी का मोह उनका ध्यान दूसरी स्थिति की ओर मोड़ देता है। वे अपनी प्रेयसी के झुलसे हुए शव को अपने कन्धे पर डाल उन स्थानों पर जाना चाहते हैं जहाँ उन्होंने अपने प्यार को वाणी दी थी, सती के साथ बिहार किया था। उनका सती के प्रति मोह इस सीमा तक चला जाता है कि उनके ज्ञान चक्षु मुँद जाते है जिसकी परिणति युद्ध ठानने में होती है। तीसरे नेत्र का उन्मीलन कर वे सभी कुछ भस्म करने को उद्यत हो जाते हैं। देवलोक को क्रोध की ज्वाला में होमकर वे उससे महाताण्डव की होली खेलना चाहते हैं क्योंकि देवलोक ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण-कर्ता हैं जिनके कारण उनकी प्रेयसी का वियोग हुआ। उनका मोह चरम-सीमा को भी लाँघ जाता है। मोहवशीभूत हो वे वरुण और कुबेर के माध्यम से ब्रह्मा को सन्देश देते हैं—

"ठहरो!
हाँ, कह देना विष्णु और ब्रह्मा से
संध्या तक
सती में न आई यदि चेतना
तो मेरा क्रोध देव भोगेंगे।" (पृ० ९०)

महत्त्वपूर्ण यही है कि शंकर परम्परा को भंजित करने वाले हैं किन्तु आगे वही शकर परम्परा के शव से चिपटे रहते हैं और जब सड़ी-गली परम्पराओं से मुक्ति पाते है तो उस मुक्ति के लिए वे स्वयं प्रयास नहीं करते। यदि यहाँ परिस्थितियों की उष्ण तपन अथवा विष्णु न आए होते तो—वैचारिक उपलब्धि धूमिल अथवा मैली हो जाती क्योंकि परम्पराओं से मुक्ति विष्णु दिलवाते हैं न कि वे स्वयं के प्रयत्नों से मुक्त होते हैं। शकर को 'एक कण्ठ विषपायी' की संज्ञा देकर रचनाकार उनकी सक्षमता और सामर्थ्य को प्रतिपादित तो कर देता है किन्तु उनका से ग्रस्त व्यक्तित्व तभी विच्छिन्न होकर

बिखरता है जब विष्णु का बाण छूटता है। सहज में ही प्रश्न उठता है कि क्या आज के मानव का व्यक्तित्व, अस्तित्व इतना दुर्बल है ? निरन्तर बार-बार सोचने-विचारने पर भी बुद्धि इस बात पर समझौता नहीं कर पाती क्योंकि आज का मानव नवीन मूल्यों के प्रति सचेत है, उन्हें उभारने के प्रयत्न करता है, अपने अस्तित्व की सुरक्षा के प्रति वह पूरी तरह जागरूक और सतर्क है। 'विषपायी' में रचनाकार ने शंकर की क्षमता 'एक कण्ठ विषपायी' कहकर द्योतित की है। शंकर की क्षमता बताकर कवि ने अपने पक्ष में बचाव तो अवश्य कर लिया है किन्तु प्रत्यक्षतः तो शंकर पराश्रित ही प्रतीत होते हैं। विष्णु द्वारा शंकर की शक्ति और महिमा को स्वीकृति देना वैसे तो यही सिद्ध करता है कि शंकर ही विषपायी है किन्तु दूसरी ओर विष्णु के शब्द उनकी महत्ता का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि वही 'एक कण्ठ विषपायी' (शंकर) को सड़ी-गली परम्पराओं से मुक्ति दिलाने का कार्य करते हैं—

> **"मैंने प्रणाम-बाण छोड़ा है**
> **... ... ...**
> **शिव के कन्धों पर पड़ी हुई भगवती सती के**
> **शव को खण्ड-खण्ड कर पल में**
> **दिशा-दिशा में छितरा देंगे**
> **जहाँ-जहाँ वे खण्ड गिरेंगे**
> **वहाँ सत्य के नये-नये अंकुर उपजेंगे**
> **और धर्म के तीर्थ बनेंगे।"** *(पृ० ११९-१२४)*

विष्णु के प्रणाम-बाण छोड़ते ही शंकर के क्रोध का शान्त हो जाना, सम्भावित युद्ध एव रक्तपात का थम जाना एक चमत्कार-सा लगता है जो न दृश्य-काव्य मे न वर्तमान सदर्भ मे ही किसी विश्वसनीय महत्त्वपूर्ण अर्थ का द्योतन करता है *(आलोचना : अप्रैल-जून १९६८, पृ० ९२)*।

रचनाकार कृति को अधिक नाटकीय बनाने के प्रयास में इस वैचारिक कमजोरी से उलझ बैठा क्योंकि उसने बड़े मनोयोग से इसे अभिनेय और नाटकीय बनाने का प्रयत्न किया है। निश्चय ही इस वैचारिक कमज़ोरी के पीछे अधिक नाटकीयता का मोह कार्य कर रहा है जिसका समस्त दायित्व कवि पर ही है।

निष्कर्ष रूप में शंकर 'एक कण्ठ विषपायी' की केन्द्रीय धुरी हैं, जो तीन रूपो मे हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं—परम्परा के प्रति विद्रोही, परम्पराग्रस्त व्यक्ति और मानवीय सवेदनाओं से युक्त मोहासक्त प्रेमी। वस्तुतः विषपायी का शंकर पर्याप्त अन्तर्विरोधो से ग्रस्त है जो आधुनिक मानव के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को व्यंजित करता है।

सर्वहुत आधुनिक प्रजा का चलता-फिरता दर्पण है। वह युद्धोपरान्त दारुण विभीषिकाओं से निर्मित परिस्थितियों से निरन्तर जूझती-टकराती पीड़ित और क्षुब्ध उस जनता का साकार प्रतिरूप है जो निरन्तर जीवन के सत्रास को झेल रही है जिसने

के लिए सर्वहत दक्ष का भृत्य है किन्तु मूलतः वह समस्त घटना-क्रम का सहज-भोक्ता और दर्शक है सती का अनादृत, दक्ष के यज्ञ में आने से लेकर, अग्नि की क्रोड़ में समाने झुलसे शरीर और युद्ध की मनोवृत्ति पर चलते हुए विवाद तक में वह उपस्थित रहता है। यहाँ एक भ्रम हो सकता है कि सर्वहत जनसाधारण जनता का प्रतीक है तो फिर ब्रह्मा के द्वार पर युद्ध की माँग करती हुई जनता से क्या सर्वहत भिन्न है। सर्वहत की इसी चरित्रगत विसंगति की ओर सकेत करते हुए एक आलोचक का कथन है—"सर्वहत किसका प्रतीक है? ......जनता का? यदि यह सच है तो क्या जनता के भी दो वर्ग होते हैं? क्योंकि इसी काल और स्थिति में युद्ध की विभीषिका का परिणाम सर्वहत भी मौजूद है और युद्ध माँगती हुई जनता भी बाहर खड़ी है" (*धनंजय वर्मा : आस्वाद के धरातल, पृ० १६४*)। इस प्रकार का प्रश्न एक कमजोरी है क्योंकि जनता चाहे दक्ष की हो अथवा ब्रह्मा की, जनसाधारण जनता की स्थिति सदैव एक-सी है फिर चाहे शासन-व्यवस्था के सूत्र कोई भी संचालित कर रहा हो। इसलिए सर्वहत जनता का सच्चे रूप में प्रतिनिधि है क्योंकि युद्धोपरान्त आई हुई विभीषिकायुक्त स्थितियों और उसके परिणामों को जनता को ही भोगना पड़ता है। यही जनता की नियति है। इसलिए कथा की यह कमजोरी होते हुए भी कमजोरी नहीं है। युद्ध से उत्पन्न पीड़ा और उसके दशन के साथ-साथ वह युद्ध के व्यापक प्रभाव को भी झेल रहा है—भोग रहा है। युद्ध की मनःस्थिति में भी वह अपनी साँसों को थामे हुए है जब मानव कोई निर्णय नहीं कर पाता, उस अनिर्णय की स्थिति में जीवित रहना जिसमें जीवन-मूल्यों के परिवर्त्तन का विषपान करना जनसाधारण के प्रतिनिधि सर्वहत जैसे मामूली व्यक्ति के लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

यज्ञ के विध्वंस से दिग्भ्रमित सर्वहत की चेतना संतप्त हो व्याकुलता को समेट लेती है। अकुलाहट और बैचेनी का दंशन निरन्तर उसे सालता रहता है। दृश्य की महत्ता को आत्मसात् कर वह उसे अपनी भावाभिव्यक्ति का साधन बना लेता है और आधुनिक जनता के जीवन की विसंगतियों, संत्रास, टूटन-विघटन, विकृतियों और परिस्थितियों जनित आक्रोश को उसी दृश्य के माध्यम से उद्‌घाटित करता है। शासन में परिवर्त्तन होता रहता है, नित्य नये-नये शासक आते हैं और चले जाते हैं किन्तु जनता की स्थिति मे कोई अन्तर नहीं आता। जीवन के समस्त उपभोगों और आनन्दों को भोगते हुए शासक प्रजा को रौंदते हैं। शासन की चक्की के पाटों—मध्य पिसती जनता दलित और मर्दित होती रहती है किन्तु लेशमात्र भी परिवर्त्तन नहीं दिखाई देता क्योंकि उनके भाग्य का यही लेखा है। आधुनिक शासनतन्त्र की अव्यवस्था और अराजकता भी किसी से छिपी नहीं है। 'अन्धायुग' में युधिष्ठिर के प्रहरियों के शासन-सम्बन्धी वार्त्तालाप मे आधुनिक शासन व्यवस्था पर यही तीखा व्यंग्य निहित है—

> **"हम जैसे पहले थे वैसे अब भी हैं**
> **शासक बदले**

स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे लेकिन शासन तो करते थे।" (अन्धायुग, पृ० १०७)

इसी प्रकार कथा-गायन की पंक्तियों को सन्दर्भित करना अधिक उपयुक्त होगा। अन्धी शासन-व्यवस्था का अंग बनकर यन्त्रवत् कार्य करने का अभिशाप केवल प्रहरियों को ही नहीं झेलना पड़ रहा। प्रकारान्तर से आधुनिक मानव की भी यही पीड़ा है—

"आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे-धीमे
× × ×
जिनमें बूढ़ा भविष्य याचक-सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे।" (अन्धायुग, पृ० २७-२८)

ऐसा लगता है मानों अंकित पंक्तियाँ दुःख के भीतर से धुलकर निर्मल हो गई हैं। धृतराष्ट्र के स्थूल अन्धेपन के तथ्य को स्पष्ट करते ये पंक्तियाँ दूसरा अर्थ निर्मित करती हैं और ये पंक्तियाँ राज्य और व्यक्ति के भीतर निहित अनास्था और अन्धेपन को व्यक्त करने लगती हैं। इस प्रकार महाभारत काल की यह पीड़ा आधुनिक मानव-मन की पीड़ा को भी उद्घाटित करती है। कथा-गायन की यह पीड़ा समग्र कृति में विद्यमान मिलेगी।

खाली स्टेज पर प्रहरी वार्त्तालाप करते हैं। प्रहरियों के वार्तालाप में व्यंग्य, विडम्बना और परितप्त वेदना वर्तमान है। प्रहरियों की पीड़ा वैयक्तिक न होकर आधुनिक मनुष्य की पीड़ा का संकेत देती है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे अहसास से थके हुए हैं। उनके समक्ष अब एक मूलभूत प्रश्न सशक्त रूप में उपस्थित होता है कि उनके जीवन की सार्थकता क्या है? वे अब अनुभव करने लगे हैं कि उन्हें एक विकृत शासन-तन्त्र के नीचे दबा रहना पड़ा है। मात्र पहरा देना उनका काम है। यह कर्त्तव्य-कर्म कुछ भी सार्थक नहीं मालूम पड़ता है जबकि रक्षणीय कुछ भी नहीं है। उनका जीवन और कर्त्तव्य-कर्म शासन-व्यवस्था का ही एक यान्त्रिकीकरण होकर रह गया है। शासनतन्त्र के लौह अस्थि-पंजर में उनकी स्वतन्त्रता, कोमल भावनाएँ, उनका उद्देश्य—सब कुछ समाप्त हो गया है और उनका जीवन भी शासनतन्त्र का ही एक अंग बनकर रह गया है। सर्वहत की पीड़ा भी इन्हीं प्रहरियों के समानान्तर चलती है। जब रक्षणीय कुछ भी नहीं है तब पहरा देने का अर्थ क्या है? किन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि न चाहते हुए भी निरुद्देश्य पहरा देना पड़ता है। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं बल्कि प्रतीक भी हैं। हरेक मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अन्धकार है जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेच्छानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है। जीवन उसके लिए भार बन जाता है। कम लोग हैं

जो जीवन जीते हैं, ऐसा लगता है कि समय ही उन्हें जीता है, सोखता है। लेकिन समय को हम जीयें न कि समय हमें जीये। यह तभी सम्भव है जब हर प्रकार से हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा हो और जब वह हमें नहीं मिलती तब इन बूढ़े प्रहरियों की तरह ही हमारा जीवन भी व्यर्थ हो जाता है; जीवन यान्त्रिक हो जाता है। इस प्रकार प्रहरियो के इस वार्त्तालाप में मूलभूत प्रश्न जीवन-सत्य में सर्वहत की पीड़ा छलछला आई है। ये प्रहरी व्यापक परिप्रेक्ष्य में आधुनिक मानव की नियति के प्रतीक हैं। इसी विवशता का प्रतिरूप सर्वहत है। उस मानव की नियति के समक्ष आज न तो कोई मार्ग है न चुनाव की स्वतन्त्रता जो अन्धेरे में जीवन के सूने गलियारे मे निरुद्देश्य भटक रहा है और निरुद्देश्य भटकाव थकान को जन्म देता है। आधुनिक जीवन पर इस रिक्तता ने सवर डाल दिया है। रिक्तता के कारण अतीत का उपयोग नहीं कर पाते, वर्त्तमान को दोषी नही मानते, भविष्य हमारे लिए उपयोगी रहता ही नहीं। आधुनिक मानव की यही दायित्वहीन पीड़ा सर्वहत को मथती है। एक कुण्ठित, असहाय और विवश मानव की स्थिति क्या हो जाती है इसी का तो साकार रूप है सर्वहत जो निरन्तर अपनी विवशता को व्यक्त करता रहता है—

"मैं सुनता हूँ
मैं सब कुछ सुनता हूँ
सुनता ही रहता हूँ
देख नहीं सकता हूँ
सो नहीं सकता हूँ
और सोचना मेरा काम नहीं है
उससे मुझे लाभ क्या
मुझे तो आदेश चाहिए
मैं तो शासक नहीं
प्रजा हूँ
मात्र भृत्य हूँ।" (पृ० १०८-१०९)

वैसे 'एक कण्ठ विषपायी' का दुःखान्त पटाक्षेप उसकी अनुपस्थिति मे हुआ है फिर भी वह उसके परवर्ती व्यापक प्रभाव को भोग रहा है क्योंकि यह भोगना ही उसकी विवशता है। अन्ततः शासकों की भूलों का प्रायश्चित्त, इच्छा या अनिच्छा जिस तरह भी चाहे, प्रजा को ही करना पड़ता है, यह विधाता के नियमों की विडम्बना है—

"क्योंकि यह, विधाता के नियमों की विडम्बना है
चाहे न चाहे
किन्तु शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है
उसे गलित मूल्यों का दण्ड भरना पड़ता है

और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ
मैं प्रजा भी हूँ।''
(पृ० ४९)

शासकों के अत्याचारों की चक्की सदैव भूखी रहती है। उसकी गति कभी धीमी नहीं पड़ती। इस गतिमान चक्की की बुभुक्षा का साधन अनेक कष्टों को सहन करने वाली जनता ही बनती है। 'बुभुक्षा' वर्तमान युग की महत्त्वपूर्ण समस्या है। जनसामान्य को अपनी उदरपूर्ति के लिए भी पूर्ण भोजन प्राप्त नहीं होता। मनुष्य निरन्तर उससे जूझता, संघर्ष करता रहता है किन्तु परिणाम शून्य होता है। मानव निरन्तर कोल्हू के बैल की भाँति एक ही स्थान पर चक्कर लगाता हुआ लेशमात्र भी अपनी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा अन्तर नहीं ला पाता तथा शासन का निर्मम चक्र उसके व्यक्तित्व और स्वाभिमान को रौंद देता है। इस समस्या का जीवन्त प्रतिनिधि है सर्वहत जो समाज और शासकों के आगे ज्वलन्त प्रश्नचिह्न बनकर उभरता है। उसका ब्रह्मा और विष्णु से पेट भरने के लिए रोटी की याचना करना, तीव्र भूख में विक्षिप्तावस्था को प्राप्त कर उल्टा-सीधा बकना और परिणामस्वरूप इन्द्र और वरुण का क्रोधित होकर उस पर झपटना—उपर्युक्त मन्तव्य को ही ध्वनित करता है। वह अनुभव करता है कि विश्व में सभी भूख से कुलबुला रहे हैं। बुभुक्षा की दृष्टि से कोई भी सन्तुष्ट एवं तृप्त नहीं है कुल मिलाकर सर्वहत के चरित्र में युद्धोपरान्त विकसित हुई विभीषिका से युक्त वातावरण का संत्रास, ह्रासोन्मुखी संस्कृति के बीज और सामाजिक, नैतिक विघटित जीवन-मूल्यों का भय व्याप्त है। वह शंकित, भयाक्रान्त, पीड़ित, भूखा है जिस कारण वह विक्षिप्त एवं भ्रान्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। और उसी के अनुरूप उसकी दिनचर्या और आचरण हो जाते हैं। दो शब्दों में वह युद्धोपरान्त ह्रासोन्मुखी विकृति का परिणाम है। आज का मानव भी निरन्तर इसी संकट-बोध में जीता हुआ त्रस्त एवं आशंकित है। भूख में अन्तर अवश्य है, कोई पेट की भूख की पीड़ा को झेलता है तो कोई मादक अधिकार सुख और अधिकार-लिप्सा की भूख के लिए संघर्षरत है किन्तु सत्य यही है कि जीवन जीने की बुभुक्षा बहुत कम लोगों में परिलक्षित होती है। कोई आदर्शों की भूख में उलझा है तो कोई धन की भूख में टंगा है, कोई प्रतिष्ठा के पीछे पागल है, किन्तु—

''यों भूख होना कोई
बुरी बात नहीं है
दुनिया में सब भूखे होते हैं
सब भूखे······
कोई अधिकार और लिप्सा का
कोई प्रतिष्ठा का
कोई आदर्शों का
और कोई धन का भूखा होता है

ऐसे लोग अहिंसक कहाते हैं
मांस नहीं खाते हैं
मुद्रा खाते हैं
किन्तु जीवन की भूख
बहुत कम लोगों में होती है।'' (पृ० ६५)

युद्ध की ताण्डव लीला से उत्पन्न संहार के पश्चात् साम्राज्य की परिस्थितियों का दंशन झेलने वाला सर्वहत पीड़ा का चलता-फिरता जीवित प्रतिरूप है। दयनीय दशा को प्राप्त उसके उपरोक्त कथन में यथार्थ का एक पहलु सत्य बनकर छलछला आया है। व्यंग्यात्मक शैली ने परिस्थिति और अनुभूतियों को और अधिक सबलता प्रदान की है। वर्त्तमान जीवन में जिस चरम पीड़ा को और मर्मान्तिक दंश को वह भोग रहा है वह हृदय-पटल पर एक कठोर प्रश्न-चिह्न लगा देता है। इसी ज्वलन्त प्रश्न बने सर्वहत के चरित्र से दुष्यन्त ने आधुनिक जीवन की न जाने कितनी विसंगतियों और क्रूरताओं को नंगा कर उजागर किया। सर्वहत ही वह पात्र है जिसको दुष्यन्त ने अपने नाट्य-प्रबन्ध में बाद मे स्थान दिया और यही पात्र वह माध्यम है जिसको जनसाधारण की कसौटी बना रचनाकार ने शासकों की क्रूरता, कठोरता, नृशंसता और जनसामान्य जनता की उपेक्षा, सामाजिक स्वार्थपरता आदि ज्वलन्त प्रश्नों को वाणी दी। आज की न्याय-व्यवस्था पर सर्वहत का यह पैना और तीखा व्यंग्य जहरीले दंश की भाँति है जब वह विवश और दु खी होकर कह उठता है—

''काश यदि मुझे पता होता कि
साधारण लोगों को न्याय नहीं मिलता
तो मैं रक्तपात की बात छोड़ देता।'' (पृ० ११४)

ससार के मंच पर व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने वाले हर व्यक्ति को न्याय चाहिए। चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा क्योंकि प्रकृति ने तो 'भूख' और 'प्यास' सबके लिए समान बनाई है। भूख और प्यास समय पर छोटे अथवा बड़े सबको लगती है। सभी उसके समक्ष अपने घुटने टेकते हैं। साधारण लोगों की नियति किसी और ही लेखनी से लिखी होती है। साधारण और विशिष्ट का अन्तर क्या कभी मिट पाया है और सर्वहत का प्रश्न और व्यंग्य भी यही है—

''बतलाओ!
मुझ में या शिव में क्या अन्तर है?
यही ना कि मैं तो सर्वहत हूँ
साधारण हूँ
और वो विशिष्ट देवता है, शिव शंकर है
किन्तु प्यास दोनों की एक-सी है।'' (पृ० ११५)

सर्वहत एक ऐसे शाश्वत सत्य से निरन्तर जूझ रहा है जिस सत्य से शासक कतराते हैं

संघर्ष करने में बचने है। जब कभी नया सत्य अपना सिर ऊपर उठाता है तब-तब मानव उससे कतराता है अथवा उसकी उपेक्षा कर उसे महत्त्व न देकर अपने मन को तुष्ट करता है। यह तुष्टिकरण और टालने की प्रवृत्ति बहुत घातक है। युद्ध की घोषणा को टालना सत्य से विमुख होना ही है क्योंकि सत्य से जूझकर कोई स्थापना करने का साहस उनमें नहीं है किन्तु जनसामान्य के प्रतीक सर्वहत की नियति उसे यह सब भोगने और झेलने के लिए विवश करती है।

युद्ध की समस्या भी सर्वहत के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। आधुनिक कथ्य और समस्या को पुराने प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने की पद्धति को ही मूलतः गलत बताते हुए एक समीक्षक का मत है "'एक कण्ठ विषपायी' को पढ़ते हुए लगता है कि किसी रथ में कोई व्यक्ति कोट-पतलून पहने बैठा है और उसके हाथों में तीर-कमान है फिर युद्ध की विभीषिका और समस्या आधुनिक भारतीय सन्दर्भों में कोई भोगा हुआ सत्य नहीं है। भारतीय जनता युद्ध-पीड़ित नहीं है। उसकी आशंका अवश्य इस बीच हमारे सामने आई थी लेकिन इसका हल यदि कोई महाभारतकालीन या पौराणिक प्रतीकों में ढूँढे तो यह कवि का 'एस्केप' ही होगा" *(धनञ्जय वर्मा : आस्वाद के धरातल, पृ० १६४-१६५)*। यह तर्क कि युद्ध हमारा भोगा हुआ सत्य नहीं आधारहीन और थोथा है क्योंकि हमने युद्धजन्य संस्कृति को देखा-परखा है। इन्सान चाँद पर पहुँच चुका है। आज के विज्ञान की दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिन्तन-मनन करना आवश्यक हो जाता है और इन्हीं आधारों पर हम सोच-विचार कर जीवित रहते हैं। यदि यह प्रश्न हमें त्रस्त नहीं करता तो फिर दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली देशों का भय क्यों हमें सालता है? पश्चिमी देशों ने जिस संकट को भोगा है वह हमसे एकदम कटा हुआ अथवा टूटा हुआ नहीं है। रचनाकार की पैनी दृष्टि अपनी देशीय सीमाओं की परिक्रमा ही नहीं करती बल्कि वह अपनी पैनी दृष्टि से उन सीमाओं को लाँघकर भी बहुत कुछ चिन्तन-मनन करता है। मात्र अनुभूति ही ऐसा माध्यम नहीं है जो सदैव उसकी सहायिका बनी रहे। सर्वहत के माध्यम से इसी उद्देश्य की पूर्ति की गई है। आज हम जिस संकट-बोध को भोग रहे हैं उससे नितान्त अविच्छिन्न और अछूते रहना असम्भव है।

युद्ध, परम्पराग्रस्तता और पूर्वाग्रहों की स्थिति की परिणति हुआ करती है। अन्तिम और एकमात्र सत्य जब अपना पक्ष लगने लगता है तब वह अन्तिम सत्य न होकर अर्द्धसत्य होता है। इसी अर्द्धसत्य से युद्ध का संत्रास और विभीषिका जन्म लेती है। 'एक कण्ठ विषपायी' का सशक्त पात्र सर्वहत अनिवार्यतः दक्ष और शंकर के अर्द्धसत्यों का फल है। नाटक के भोक्ता शंकर हैं, उन्हें ही वास्तविक सत्य की उपलब्धि होती है। यह बात दूसरी है कि उनकी परम्परा से मुक्ति का माध्यम विष्णु रहे हैं। अन्ततः प्राप्तव्य शंकर का था और उन्हें ही मिला। अन्तिम सत्य का मार्ग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कोई

भी रहा हो—यह भी सत्य है कि शंकर ही वे अवलम्ब हैं जिनके सहारे अन्तिम सत्य अग्रसर हुआ है।

आलोच्य कृति के पात्रों पर गहन मनन किया जाए तो स्वतः सिद्ध होगा कि 'अन्धायुग' के अश्वत्थामा की भाँति सर्वहत 'एक कण्ठ विषपायी' का एक विशिष्ट पात्र है। उसकी विशिष्टता के द्योतक उसके मर्मस्पर्शी संवाद तथा उसकी ऐसी स्थितियाँ हैं जो संवेदनशील पाठक के मन में एक उद्वेलन मचा देने की क्षमता रखते हैं। सर्वहत आज की ह्रासोन्मुखी राजनीति का जीता-जागता प्रतीक है। उसके कटु सत्यों में राजनीति पर तीव्र व्यंग्य निहित है। उसके कथनों में भावात्मकता और बौद्धिकता का ऐसा पुट मिला हुआ है जो पाठक को गम्भीर होकर सोचने-समझने को विवश करता है। घटनाओं से सम्बन्धित उसके जितने भी विश्लेषण है उनमें बौद्धिकता का अभाव नही खटकता। भावुकता में बंधकर ही वह वीरिणी को कहता है—

> **"देवि !**
> **आप धैर्य धरें**
> **आपके ललाट पर उभर आईं**
> **पीड़ा की रेखाएँ**
> **देखी नहीं जातीं।"** *(पृ० ३३)*

किन्तु उसकी भावुकता के बिन्दु पर बौद्धिकता का सन्धि-स्थल भी है जहाँ किसी प्रश्न का अवकाश नही। जब वह इन्द्र को सृजन-पूर्व की पीड़ा के विषय में संकेतित करता है—

> **"तुमने भी न्याय के नाम पर**
> **यह नाटक रचना चाहा था**
> **नये सत्य की सृजन-कथा से**
> **कतराना बचना चाहा था**
> **तुम भी तो अपवाद नहीं हो**
> **तुम भी तो ऽ अपवाद ऽऽ द···हाँ-हाँ-हाँ**
> **रण का निर्णय लेते समय**
> **बताओ तुमने क्या सोचा था ?"** *(पृ० १२२)*

वस्तुतः "सर्वहत तन्त्र और व्यवस्था के नाम पर शंकर की हिंसा का जीवित प्रतिरूप है। विष्णु के अनुसार वह युद्धोपरान्त उग आई संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का एक भग्न प्रायः स्तूप है जिसका समस्त जीवन भूख शब्द में सिमट गया है" *(रमेश गौतम : सातवें दशक के प्रतीकात्मक नाटक, पृ० ७४, अप्रकाशित लघु शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्व-विद्यालय)*।

अतः सर्वहत शासकों की प्रजा-उपेक्षा तथा प्रजा की दलित स्थिति का प्रतीकात्मक चित्र उपस्थित करते हुए शासक और शासित के स्तर का अन्तर भी स्पष्ट करता है

वीरिणी के चरित्र की परख ममता के दर्पण में करनी होगी। वीरिणी के चरित्र का मुख्य पक्ष 'माँ' के रूप में प्रकट होता है। यद्यपि वह संयमी और बुद्धिमान है। माँ होने के नाते वीरिणी अपनी बेटी के लिए दक्ष को मनाने का हर सम्भव प्रयत्न करती है। अपने स्वामी दक्ष को मर्यादा, नैतिकता आदि का ध्यान दिलाकर सती को उसका अधिकार देने की माँग करती है किन्तु दरबार में आकर जब सती अपशब्दों का आश्रय लेती है, अनुचर के माध्यम से इसकी सूचना मिलने पर माँ के वक्ष में हलचल मच जाती है। भावों के इस आरोह-अवरोह और अन्तर्द्वन्द्व से पूर्ण जटिल स्थिति में वीरिणी माँ होने के कारण सन्तुलित नहीं रह पाती और क्रोधित होकर कहती है—

"(रुंधे कण्ठ से)
मैं जानती हूँ—
मेरी पुत्री क्या है
और कैसी है······?"

ऐसी स्थितियों का विश्लेषण करने पर पाठक सहज ही अनुमान लगा लेता है कि माँ होने के कारण वीरिणी का क्रोध वात्सल्य से पूर्ण है। उसके क्रोध का आधार भावात्मक अधिक है, उसके पीछे बौद्धिक धरातल की पोषक धरती विद्यमान नहीं है।

इन्द्र शंकालु शासक के रूप में चित्रित है तो वरुण और कुबेर व्यक्तिगत स्वार्थों के प्रतीक हैं। ब्रह्मा गूढ़ चिन्तक तथा विष्णु विवेकी और कर्मशील हैं।

शिल्प-पक्ष की बनावट—दुष्यन्तकुमार की कविता में एक सरल प्रवाह है। सरल शैली में रचित 'एक कण्ठ विषपायी' का कथ्य पाठक के हृदय को जाकर छू लेता है। चुभते हुए सरल संवाद स्पष्ट और सपाट हैं। पात्रों के भावानुरूप संवादों की चुभन तीखी और समयोचित है। संक्षिप्त संवाद होते हुए भी कहीं-कहीं संवादों ने विस्तार ले लिया है किन्तु रचनाकार की कुशलता ने उन्हें नीरस होने से बचा लिया है। दर्शक और पाठक से संवाद सीधे जाकर सम्बद्ध हो गए हैं। पाठक अथवा दर्शक संवादों के प्रति रुचि प्रकट करने को विवश होता है क्योंकि संवादों की सुघड़ता और संक्षिप्तता ने ऐसे मोड उपस्थित किए हैं कि पाठक अथवा दर्शक को वे जरा भी नहीं खटकते। उदाहरण के लिए चतुर्थ दृश्य में ब्रह्मा और इन्द्र के आपसी वार्त्तालाप को प्रस्तुत किया जा सकता है—

इन्द्र : देखो प्रभु !
महादेव की महाशक्ति का दम्भ निहारा ?
······जैसे हम कृमि-कीट सदृश हों
और धमनियों में हम सब की
रक्त नहीं पानी बहता हो।
मैं कहता हूँ
सहनशीलता की कोई सीमा होती है

अब आज्ञा दें
आत्म सुरक्षा है विधान में
जन्मजात अधिकार सभी का।

ब्रह्मा : मैं आज्ञा दूँ ?
लेकिन मैं तो आत्मघात को
आत्म-सुरक्षा नहीं समझता !

इन्द्र : आत्मघात ?

ब्रह्मा : हाँ, आत्मघात
वह भी सामूहिक
मेरे ज्ञान कोष में
युद्ध का यही अर्थ है।" (पृ० १७-१८)

शक्ति के दम्भ में चूर इन्द्र अपनी रक्षा करता हुआ अपने आपको आक्रामक नहीं संरक्षक घोषित करता है। तब ब्रह्मा सहज ही इन्द्र के स्वयं को संरक्षक घोषित करने पर प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं—

ब्रह्मा : "लेकिन किसके संरक्षक हो ?

इन्द्र : देवलोक का

ब्रह्मा : देवलोक के नहीं
सत्य के संरक्षक को जय मिलती है।

इन्द्र : (व्यंग्य पूर्वक)
और सत्य के संरक्षक वे शिवशंकर हैं।" (पृ० १८-१९)

इस प्रकार संक्षिप्त संवादों मे भी गहरे और तीखे व्यंग्य निहित हैं। एक सीमा तक 'एक कण्ठ विषपायी' के संवादों को सफल कहा जा सकता है।

रंग-कौशल—नाटक की सार्थकता मचित होने में है। जब तक नाटक को मंच के उपयुक्त बनाकर उसका मंचीकरण न किया जाए तब तक उस नाटक की कोई सार्थकता नहीं होती। दुष्यन्त कुमार ने अपनी इस कृति को 'आभार-कथा' में काव्य-नाटक कहकर सम्बोधित किया है—" 'एक कण्ठ विषपायी' मेरा पहला काव्य-नाटक है।" अपने काव्य-नाटक के विषय मे और अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"पंजाबी के प्रसिद्ध नाटककार परितोष गार्गी भोपाल आए और नाटक सुनकर उन्होंने मंच की दृष्टि से कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए जिनके कारण मुझे पूरा नाटक (तृतीय अंक को छोड़कर) फिर से लिखना पड़ा। परिणामस्वरूप नाटक तीन से चार अंकों का हो गया।" उपर्युक्त मन्तव्य के पश्चात् निष्कर्ष सूत्र बड़ी आसानी से पकड़े जा सकते हैं कि कृति की रचना-प्रक्रिया के क्षणों में कवि के अन्तर्मन पर नाटक का आग्रह पूर्ण रूप से आच्छादित रहा और उसने कृति की संरचना रंगमंच को ध्यान में रखकर बड़े मनोयोग से की थी।

 को अधिक तीव्रता और सशक्त बनाने के लिए लेखक कोष्ठको मे

ऐसे संकेत देता जाता है जिससे उसकी नाट्यात्मक कुशलता का पता चलता है और इससे नाट्यात्मक अभिव्यक्ति का प्रभाव-क्षेत्र भी द्विगुणित हो जाता है। उदाहरण के लिए जैसे 'दु:खी-सा प्रवेश करते हुए'। इत्यादि।

निष्कर्ष सूत्र की अगली कड़ी के रूप में यदि यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कुशल निर्देशक एवं कुशल अभिनेता 'एक कण्ठ विषपायी' को बिना किसी काँट-छाँट के भी रंगमंच पर अभिनय के लिए प्रस्तुत करे तो निश्चित रूप से आलोच्य काव्य-नाटक का मंचन सफल होगा। अंकों के विभिन्न दृश्यों को बड़ी सरलता से मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी। सम्पूर्ण काव्य-नाटक मे युद्ध ही एकमात्र ऐसा दृश्य था जिसका अभिनय रंगमंच पर कठिन था किन्तु चतुर काव्य-नाटककार ने रंगमंच को ध्यान में रखकर युद्ध के दृश्य को सूच्य बनाकर प्रस्तुत किया है। अन्तत: यही कहना चाहेंगे कि 'एक कण्ठ विषपायी' की अभिनेयता संदिग्ध नही है।

लय—भावों के अनुरूप लय और छन्दों के प्रयोग ने इस कृति को सशक्त कृति के रूप में 'अन्धायुग' के समानान्तर लाकर खड़ा कर दिया है। मुक्त-छन्द का प्रयोग, लय और टोन का उठना-गिरना, भावों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ परिवर्तित होते जाना आलोच्य कृति की विशेषता है। उदाहरण के लिए हम पुन: सर्वहत को प्रस्तुत कर सकते है। प्रथम अंक में एक सामान्य मृत्य होने के कारण उसके संवादों में एक सन्तुलन और मर्यादा है। उसके संवाद कहीं भी राजकीय गौरव की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। द्वितीय अंक मे वह आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में टूटकर बिखर चुका है। उसका अन्तर्मन क्षत-विक्षत हो चुका है। उसकी मन:स्थिति विक्षिप्तता के निकट पहुँच चुकी है इसीलिए उसके संवाद उपरोक्त स्थलों पर मर्यादित और संयमित न होकर भावों के अनुरूप उठते-गिरते चलते हैं। भावनाओं के इस आरोह-अवरोह में लय ने भी एक विशिष्टता धारण कर ली है—

> "ओह!
> अब समझा
> मैं समझ गया
> नगर में तुम्हें भी कहीं
> मदिरा या अन्न नहीं मिल पाया
> ... ...
> वरना... ... ...
> भूखे रह जाओगे
> हाँ ऽऽऽ..............।" (पृ० ५१, ५२)

भाषा—कवि जनसाधारण के ———— में ही लिया है इसलिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग कर ने पात्रों की बातचीत को जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया

है। सर्वहत को छोड़कर आलोच्य कृति के मुख्यतः सभी पात्र एक जैसी भाषा का प्रयोग करते है। गद्य का अंश संवादों में अधिक है। सर्वहत की भावानुरूप भाषा जनसाधारण के अधिक निकट है और वह पाठक के हृदय को सबसे अधिक छूती है। भृत्य होने के कारण उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। लेखक इस पात्र की संरचना करने में हर दृष्टि से सफल है और वह साधारण भावाभिव्यक्ति के कारण भी 'एक कण्ठ विषपायी' का सशक्त पात्र बनकर उभरा है। व्यंजनागर्भित भाषा के उदाहरण भी कतिपय स्थलों पर मिल जाते हैं—

इन्द्र : "(विवश क्रोध से)
खूब कहा प्रभु
इतना रक्तपात होने पर
इतनी भूमि निकल जाने पर
आप अभी तक मेरा प्रश्न विचार रहे हैं
उससे अच्छा हो कि आप
भगवती सती को जीवन दे दें।" (पृ० १००)

ब्रह्मा के कथन में भी व्यंजना मिश्रित प्रतिक्रिया निहित है। लेकिन नेताओं के प्रजातन्त्र पर ब्रह्मा गहरा व्यंग्य करते हैं—

"(आश्चर्य से)
क्या कहते हो?
देवराज
क्या यह भी लौकिक नेताओं का प्रजातन्त्र है,
जो जब चाहे
इच्छा से परिवर्त्तन कर
नियमों को अनुकूल बना लें।" (पृ० १००)

पूर्व संकेत कर चुके हैं कि अपने भावों की अभिव्यक्ति दुष्यन्तकुमार बहुत सहज और स्वाभाविक होकर करते हैं। उसमें किसी प्रकार का आलंकारिक आडम्बर अथवा संस्कृत निष्ठ भाषा का मोह नहीं होता। इसलिए उनकी कविता पूर्वाग्रहों से मुक्त तथा सहज अनुभूति से पूर्ण है। उसमें बिम्ब, प्रतीक, शिल्प बहुत गौण होकर आए है। नाट्यात्मक-काव्य वैसे भी अलंकरण से बचकर अधिक से अधिक स्वाभाविक होने की सायास चेष्टा करता है जिसमें बहुत अधिक सूक्ष्मता, वायवीयता बिम्ब-विधान और प्रतीकों का अभाव दृष्टिगत होता है। फिर भी आलोच्य कृति में उपरोक्त तत्व कहीं-न-कहीं परिलक्षित हो जाते हैं।

'एक कण्ठ विषपायी' के कई स्थल तो इतने अधिक मार्मिक है कि पढ़ते हुए मन.पटल पर उनका दृश्य अंकित हो जाता है। इस प्रकार की चित्रोपम भाषा निस्सन्देह दुष्यन्त की कही जाएगी उदाहरण के रूप में हम प्रथम अंक को ही प्रस्तुत करेंगे दक्ष

और वीरिणी के वार्तालाप के मध्य भृत्य आकर सूचना देता है कि राजकुमार ने अपने निजी कक्ष में एक चिड़िया को कैद कर लिया है और उसे उन्मुक्त आकाश में स्वतन्त्र करने की आज्ञा नहीं देते और—

"कहते हैं
इससे खेलूँगा।" (पृ० १५)

मात्र दो शब्दों 'खेलने दो' का आनन्द लेकर रानी भृत्य की बात सुन उसे उपेक्षित करना चाहता है किन्तु भृत्य पुनः जोर देकर कहता है—

"लेकिन प्रभु..............
उस चिड़िया की चीं-चीं से
उसकी कातर ध्वनि से
सारा वातावरण ग्रस्त है
नन्हें-नन्हें पंखों की कातर आवाजें
अन्तःपुर में गूँज रही हैं।
सारे भृत्य सहम कर
अपने कार्य छोड़कर
उसी कक्ष के निकट खड़े हैं
वातायन से
सारा कौतुक देख रहे हैं।" (पृ० १६)

इन पंक्तियों के अन्दर भय और व्यग्रता की सघन विद्यमान है जो पाठक की मनःस्थिति को हौले से झिंझोड़-सा देती है। मानों साक्षात् पाठक के मानस-पटल पर आतंकित, पीड़ित चीं-चीं करती चिड़िया का चित्र अंकित हो गया हो।

आलोच्य-कृति का शिल्प-पक्ष पर्याप्त सक्षम है। उसकी भाषा के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह नई कविता की भाषा नहीं प्रतीत होती। कहीं-कहीं उसमें कृत्रिमता का भाव झलकता है। दुष्यन्त की भाषा कई स्थलों पर सरलता-प्रवाह से विलग है और उसमें टूटने का भाव निहित है। इसे पढ़ते हुए कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम गद्य पढ़ रहे हों फिर भी उसमें अलंकृता भाषा की नीरसता अथवा शुष्कता जो अनेक रचनाकारों में सहज ही प्राप्त हो जाती है, का अभाव है। काव्य में बिम्ब, प्रतीक और शिल्प का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है फिर भी सहज अनुभूतियों और भावाभिव्यक्ति की तुलना में बिम्ब, प्रतीक भी धूमिल पड़ गए हैं। लेखक ने जीवन में भोगे हुए यथार्थ एवं अनुभव को बिना किसी पूर्वाग्रह के कहने का प्रयास किया है। और उस यथार्थ अथवा अनुभवों को व्यक्त करने के लिए किसी कृत्रिम साधन का आश्रय नहीं लिया है। सीधी-सच्ची बात सपाट-बयानी के रूप में कह दी है। इसी कारण गद्याभास अधिक उभर कर सामने आया है। कथन की व्यंग्यात्मक तीव्रता अथवा नाटकीय कौशल से भावों और अनुभूतियों का सम्प्रेषित करने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थिति नहीं हुई और

न ही वे हल्के स्तर पर आने पाई है।

आक्षेप एवं मूल्यांकन—भारत: "एक कण्ठ विषपायी' में नाट्यात्मक काव्य की सभी मुख्य विशेषताएँ किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इस कृति पर आलोचकों का आक्षेप है कि लेखक ने इसके अन्त में कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया। हमारा नम्र-निवेदन यह है कि कृति को जीवन्तता देने के लिए साहित्यकार के पास ऐसी कोई कसौटी नहीं होती कि वह तथ्यों और अनुभूतियों की उपेक्षा कर समाधान प्रस्तुत कर सके क्योंकि अन्तत साहित्यकार रचनाकार है। और, यदि वह समाधान प्रस्तुत करने के चक्कर मे अनुभूतियों और तथ्यों के टुकड़े कर दें तो हम समझते है कि एक ही अनुभूति, जिसको जीने का एक निश्चित आयाम चाहिए, नहीं जी सकती और टुकड़ों में बँट जाने से वह समाधान कृति का एक हिस्सा न बनकर उस पर जबरदस्ती आरोपित-सा लगेगा। अनुभूतियों और तथ्यों की सार्थकता तभी तक है जब तक उन्हें कृति में प्रस्तुत करने के लिए किसी प्रयास का सहारा न लिया गया हो। अनुभूतियों को सही कसौटी अथवा उसका ठीक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन आवश्यक है नहीं तो रचनाकार द्वारा जबरदस्ती प्रस्तुत किया गया समाधान कृति का एक अंग न लगकर रचना पर थोपी हुई विचारधारा मात्र होगी। 'एक कण्ठ विषपायी' में जो समाधान अन्त में लेखक ने प्रस्तुत किया वह समाधान चिन्तन की कसौटी के प्रतिकूल है। कृति की गम्भीरता से परख करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि चिन्तन को महत्त्व न देकर दुष्यन्तकुमार कृति के अन्य पक्षों नाटक, अभिनेयता, रंगमंच की कसौटी पर परखने को अधिक महत्त्व देने के चक्कर में उलझा रहा है। चिन्तन की कसौटी पर कृति को सुलझाने के लिए उसे नाटकोचित बनाने के सायास प्रयत्न में वह यह असंगति कर बैठा और उसके द्वारा प्रस्तुत समाधान आरोपित-सा प्रतीत होने लगा। अन्त में नाटकोचित प्रस्तुति के चक्कर में दुष्यन्त ने युद्ध को प्रस्तुत न कर मात्र विष्णु के माध्यम से बाण छुड़वाकर विकृत परम्परा के शव को ओढ़े हुए शंकर को मुक्त करवा दिया। इस असंगति की मुखरता की ओर धनञ्जय वर्मा ने संकेत किया है—"चिन्तन और वैचारिक उपलब्धि के प्रसंग में एक शिकायत मुझे 'विषपायी' से जरूर है कि उसमें मुक्ति का दर्शन केवल परिस्थिति और अन्य व्यक्ति (विष्णु) के माध्यम से आया है। शिव परम्परा-भंजक जरूर है, लेकिन '**विषपायी**' मे परम्परा के शव से मुक्ति उन्हें विष्णु दिलवाते हैं। यह मानव, उसकी नियति और आस्था मे अविश्वास लाता है जबकि स्थिति यह है कि जीवन मे हमें कभी कोई मुक्त करने नही आता हम स्वयं मुक्त होते है या हो सकते है" *(माध्यम . अंक १०; फरवरी १९६५, पृ० २०४)*। आलोचकों की आपत्तियों के प्रकाश में यदि हम अन्त में पुनर्विचार कर लें तो यही निष्कर्षसूत्र हाथ लगेगा कि अन्त को नाटकोचित बनाने के प्रयत्न में दुष्यन्त-कुमार ने अनुभूतियों और तथ्यों को टुकड़ों में बाँटा है जिससे निश्चित ही एक अच्छी कृति की गरिमा को आघात लगा है किन्तु दूसरी ओर डॉ० कोमलसिंह सोलंकी को 'एक कण्ठ विषपायी' के दर्पण में भारतीय जीवन-पद्धति और दर्शन के बिम्ब उभरते दिखाई

देते हैं" (माध्यम : अंक १०, फरवरी १९६५, पृ० १०१)। उन्होंने छायावादी कविता की सर्वश्रेष्ठ कृति प्रसाद के अमरकाव्य 'कामायनी' से इसकी तुलना करते हुए अपने विचार व्यक्त किए। उनके अनुसार नयी कविता में दुष्यन्तकुमार की 'एक कण्ठ विषपायी' का वही स्थान है जो छायावादी कविता में कामायनी का है। मौलिक कसौटी पर डॉ० सोलंकी की तुलनात्मक समीक्षा में पर्याप्त सफलता है। 'एक कण्ठ विषपायी' के अन्त में प्रस्तुत आरोपित समाधान के समानान्तर यदि 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्गों का समाधान प्रस्तुत किया जाए तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होगी कि 'कामायनी' के अन्त में प्रसाद ने भी जो समाधान प्रस्तुत किया वह आरोपित ही अधिक लगता है। इसी परिप्रेक्ष्य में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि 'एक कण्ठ विषपायी' भी युग के अनुकूल 'कामायनी' की भाँति पौराणिक कथा को प्रतीकात्मक सन्दर्भ में सम्प्रेषित करती है। अतः स्वतः सिद्ध है कि डॉ० सोलंकी की तुलनात्मक कसौटी निरर्थक नहीं। फिर भी 'कामायनी' के विषय में डॉ० सोलंकी का मत इसे अन्तिम रूप में मान्य नहीं। अन्ततः 'कामायनी' एक रूपक कथा है और विद्वान आलोचक मनोविज्ञान की कसौटी पर 'कामायनी' का मूल्यांकन कर उसके काव्यत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु 'एक कण्ठ विषपायी' मात्र नाट्यात्मक कृति ही है। इतनी अधिक समानताओं के बाद भी डॉ० सोलंकी की तुलनात्मक कसौटी और उनके निष्कर्ष को स्वीकार करने में हम अपने आपको असमर्थ पाते हैं। यदि 'कामायनी' के स्थान पर 'एक कण्ठ विषपायी' की तुलना 'भारती' की श्रेष्ठ कृति 'अन्धायुग' से की जाए तो अधिक उपयुक्त और सार्थक होगा। 'अन्धायुग' का काव्यात्मक धरातल नाटकीयता से अधिक ऊँचा है और प्रकृति ने 'अन्धायुग' के पृष्ठों पर अधिक भावात्मकता का रूप धारण कर लिया है। दूसरी ओर, 'एक कण्ठ विषपायी' काव्यात्मकता के धरातल पर अधिक जीवन्त, सहज और सीधी प्रस्तुति है। इस सन्दर्भ में 'भारती' का 'अन्धायुग' और दुष्यन्त का 'एक कण्ठ विषपायी' पुरातन महाकाव्यों तथा कला की दृष्टि से एक समान, मानस नाटक की संश्लिष्ट प्रकृति को आत्मसात् किए नाट्यात्मक काव्य की भावी सम्भावनाओं की ओर इंगित करती है।

आलोच्य कृति में मूल परम्पराओं के मध्य को तोड़ने में मानव की मुक्ति ही नाटककार का उद्देश्य है जिससे नये मानवीय मूल्यों का अन्वेषण सम्भव हो -- परम्परा का ध्वंस कर ही कोई नया मूल्य उठता है। प्रतीकात्मकता की दृष्टि से नाटक के कुछ पात्र— शंकर और सर्वहत ही उल्लेखनीय हैं जो आधुनिक सन्दर्भ में नाटक के उद्देश्य को अंकित करते हैं।

□ □